अनुसंधान और आलोचना

डॉ० कन्हैयालाल सहल

चिन्मय प्रकाशन

अनुसंधान और आलोचना

डा० कन्हैयालाल सहल

चिन्मय प्रकाशन

प्रकाशक :
चिन्मय प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर–302003

☐

मूल्य :
60.00 रुपया

☐

मुद्रक :—
दी यूनाइटेड प्रिन्टर्स
राधा दामोदर की गली,
चौड़ा रास्ता, जयपुर–302003

आमुख

'**अनुसंधान और आलोचना**' दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में लोक-साहित्य और विशेषत: राजस्थानी साहित्य से संबद्ध निबन्ध हैं तथा द्वितीय खण्ड में समीक्षात्मक, दार्शनिक तथा शैक्षणिक निबन्धों का समावेश हुआ है।

कथानक-रूढ़ियाँ, प्रवाद अथवा आख्यान तथा लोकोक्तियाँ, लेखक के अध्ययन के विशेष क्षेत्र रहे हैं। लोक-कथा-तत्त्वों के विश्लेषण की दृष्टि से 'सांख्य दर्शन का आख्यायिकाध्याय' संभवत: पहले पहल विवेचित हुआ है जिसका अपना विशेष महत्त्व है। आये दिन मूल अभिप्राय पर भी जो लेख पढ़ने को मिलते हैं, उनमें अनेक बार कथानक-रूढ़ि और प्रतिपाद्य विषय में भेद नहीं किया जाता। प्रस्तुत पुस्तक में संकलित एतद्विषयक लेख से, आशा है, 'मोटीफ' (कथानक-रूढ़ि) तथा 'थीम' (प्रतिपाद्य विषय) का अन्तर स्पष्ट हो सकेगा।

मेरा विश्वास है कि आख्यानों की वैदिक परम्परा राजस्थान में सर्वाधिक सुरक्षित रही है। '**अनुसंधान और आलोचना**' के आख्यानों द्वारा इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ तो मुझे प्रसन्नता होगी।

दूसरे खण्ड में अनेक लेख ऐसे हैं जिनमें मैंने मौलिक ढंग से विचार किया है। किन्तु यहाँ पर उस मौलिकता का आख्यान कर मैं आत्म-श्लाघा-दोष का भागी नहीं बनना चाहता।

हिमालय-संबन्धी निबन्ध 'सुरभिका' से साभार उद्धृत किया गया है।

श्री ताराचंदजी वर्मा ने पुस्तक के प्रकाशन में जो तत्परता दिखलाई है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

पिलानी
रामनवमी
स० २०२७

कन्हैयालाल सहल

अनुक्रम

[प्रथम खण्ड]

	विषय	पृष्ठ
१.	सांख्य-दर्शन का आख्यायिकाध्याय	१
२.	मूल अभिप्राय 'अद्भुत': निदर्शन तथा निरूपण	१३
३.	लोक-कथाओं के कूट वार्तालाप	२६
४.	कथानक-रूढ़ि और प्रतिपाद्य विषय	४०
५.	लोक-कथाओं का एक रूढ़ तन्तु: रहस्योद्घाटन में संकट	४५
६.	राजस्थानी लोक-कथाएँ	४८
७.	राजस्थान के आख्यान	५२
८.	कहावत—एक विवेचन	१०५
९.	राजस्थानी कहावतों में हास्य का स्वरूप	१२८
१०.	कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा	१३४
११.	कुछ भीली और शेखावाटी कहावतें	१३८
१२.	राजस्थानी कहावतें : एक विहंगम दृष्टि	१४१
१३.	राजस्थान के प्राचीन प्रमुख कवि पद्मनाभ	१४६
१४.	हम्मीरायण—एक परिचय	१५४
१५.	वीर सतसई के प्रथम शतक में शैली के विविध रूप	१६४
१६.	वीर सतसई के द्वितीय शतक में शैली के विविध रूप	१७६
१७.	वीर सतसई (तृतीय शतक) के ८८ दोहों में शैली के विविध रूप	१९०
१८.	वीर सतसई में 'कवि-समय' के विविध रूप	२०२
१९.	राजस्थानी साहित्य में शौर्य-वृत्ति और उसका मनोवैज्ञानिक आधार	२०८
२०.	वीर सतसई 'वीर' में के विशेषण	२१५
२१.	वीर सतसई में राष्ट्रीयता	२१९
२२.	इला न देणी आपणी : मानव की मूल प्रेरणा	२२४
२३.	सूर्यमल्ल मिश्रण और सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संग्राम	२३१

[द्वितीय खण्ड]

२४. ललित कलाओं का तारतम्य और अंतरावलम्बन २४२
२५. कलावादी सम्प्रदाय २४५
२६. रस अभिव्यक्त है अथवा अनुभूत ? २५०
२७. आचार्य वाजपेयी और रस-सिद्धान्त २५२
२८. कामायनी में नियति का कंचुकीय निदर्शन २५५
२९. कामायनी का अलंकार-विधान २५९
३०. लक्ष्मण का चरित्र और गुप्तजी का मानवीय दृष्टिकोण २७६
३१. 'उद्धवशतक' में कहावतें, मुहावरे तथा कहावती पद : एक विवेचन २८१
३२. नियति और स्वातन्त्र्य २८४
३३. योग और वेदान्त २८७
३४. भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा का माध्यम ३००
३५. बच्चों की समस्याएँ ३०४
३६. ऋताचार और शिक्षक ३१०
३७. महर्षियों की निर्वाण-स्थली : पर्वतराज हिमालय ३१४
३८. वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और रस-सिद्धान्त ३१८
३९. वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त ३२३

राजस्थानी खण्ड

१. लोक-कथाएं
२. आख्यान
३. कहावतें
४. काव्यालोचन

सांख्य-दर्शन का आख्यायिकाध्याय

सांख्य-दर्शन के चतुर्थ अध्याय में अनेक लोक–कथाओं की ओर संकेत किया गया है। निम्नलिखित सूत्रों में जिन आख्यायिकाओं की ओर इंगित किया गया है, स्पष्टीकरण के लिए उन्हें भी यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:—

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥१॥

तत्त्वसम्बन्धी उपदेश सुनने से राजपुत्र की तरह विवेक की उत्पत्ति होती है। इस विषय में आख्यायिका यह है कि एक राजपुत्र को जन्म से ही किसी कारण जब नगर से बहिष्कृत कर दिया गया तो एक चाण्डाल ने उसका पालन-पोषण किया। चाण्डाल के घर में रहने के कारण राजपुत्र भी अपने को चाण्डाल ही समझने लगा किन्तु आगे चल कर जब किसी अमात्य ने उसे बताया कि तू चाण्डाल का पुत्र नहीं, राजपुत्र है तो उसका भ्रम दूर हुआ और वह अपने को राजपुत्र समझने लगा।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥२॥

एक के लिए दिया गया उपदेश दूसरे के लिए भी हितकर सिद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में कथा-प्रसंग यह है कि एक आत्मज्ञानी गुरु ने एकान्त में अपने शिष्य को उपदेश दिया। उस उपदेश को किसी पिशाच ने भी छिप कर सुन लिया तथा तदनुकूल आचरण किया। फल यह हुआ कि शिष्य की भाँति पिशाच भी आत्मज्ञानी हो गया।

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥

पिता और पुत्र की तरह जन्म और मरण, दोनों के सम्यक् दर्शन से विवेक प्राप्त होता है। लोक-प्रवाद है कि एक पुरुष अपनी स्त्री को गर्भवती छोड़ कर कई वर्ष तक परदेश में रहा। जब वह घर लौटा तो उसके पुत्र ने यह कह कर कि इस घर में किसी पुरुष का प्रवेश नहीं हो सकता, उसे घर में घुसने से मना किया। किन्तु गृहस्वामी जब जबरदस्ती घर में चला गया तो पुत्र ने चिल्ला कर कहा कि

"अरी माँ"! यह कौन है जो मेरे विरोध करने पर भी घर में घुसता चला आ रहा है ?" पत्नी ने अपने पतिदेव को पहचान कर कहा, "यह तेरे पिता हैं, बेटा ! इनका चरण-स्पर्श करो।" साथ ही पति से कहने लगी, ""यह आपका ही पुत्र है।" इस पर पुत्र ने पिता के चरण छुए और पिता ने पुत्र को गोद में भर लिया।

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥५॥

बाज के समान किसी वस्तु के त्याग से सुख और वियोग से दुःख होता है। कहा जाता है कि एक बाज किसी पक्षी का मांस लिए चला जा रहा था। उसे किसी शिकारी ने पकड़ कर उसका मांस भी उससे छीन लिया। मांस के छिन जाने से उसे दुःख हुआ। यदि वह मांस उठा कर न लाता तो क्यों इस प्रकार पकड़ा जाता और दुखी होता ?

इस प्रसंग में भागवत का निम्नलिखित श्लोक भी उल्लेख्य हैं:—

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत।११।६।२

अर्थात् एक कुरर पक्षी अपनी चोंच में मांस दबाए जा रहा था। दूसरे बलवान् पक्षी जिनके पास मांस न था, उसे मारने लगे। तब मांस को छोड़ देने पर वह कुरर पक्षी सुखी हुआ। इससे प्रतीत होता है कि परिग्रह ही दुःख का कारण है।+

छिन्नहस्तवद्वा ॥७॥

जसे हाथ कटने पर कटे हुए हाथ से पुरुष का सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार वासना-त्याग के बाद वासना से साधक का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। महाभारत के शान्ति पर्व में शंख और लिखित नामक दो भाइयों का एक उपाख्यान मिलता है जो यहाँ प्रसंगवश उद्धृत किया जा रहा है:—

"शंख और लिखित नाम वाले दो भाई थे जो अलग-अलग अपने-अपने आश्रम में रहते थे। एक दिन लिखित शंख के आश्रम पर आए। शंख उस समय बाहर गए हुए थे। लिखित ने शंख की अनुपस्थिति में खूब पके हुए बहुत से फल तोड़ कर गिराये और उन्हें बड़ी निश्चितता के साथ खाने लगे। वे खा ही रहे थे कि शंख भी आश्रम पर लौट आए। भाई को फल खाते देख शंख ने पूछा, "तुमने ये फल कहां से प्राप्त किये हैं और किसलिए तुम इन्हें खा रहे हो ?"

+सामिषं कुररं दृष्टवा वध्यमानं निरामिषैः।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते॥ (महाभारत, शान्तिपर्व, १७८।६)

लिखित ने निकट जा कर बड़े भाई को प्रणाम किया और हँसते हुए-से कहा, "भैया ! मैंने ये फल यहीं से लिए हैं।"

तब शंख ने तीव्र रोष में भर कर कहा, "तुमने मुझसे पूछे बिना ही फल लेकर चोरी की है। अतः तुम राजा के पास जा कर कहो कि चोरी करने वाले को जो दण्ड मिलना चाहिए, वह मुझे भी दें।"

बड़े भाई के ऐसा कहने पर लिखित सुद्युम्न के पास गए और सब हाल कह सुनाया। राजा ने कहा, "आप पवित्र कर्म करने वाले और धर्मात्मा हैं, अतः मैं आपके अपराध को क्षमा कर आपको जाने की आज्ञा देता हूं। इसके सिवा, यदि आपकी कोई अन्य कामना हो तो मैं आपके वचन का पालन करूंगा।"

किन्तु सुद्युम्न के बार-बार आग्रह करने पर भी लिखित ने दण्ड के सिवा कोई दूसरी कामना प्रकट नहीं की। तब राजा ने लिखित के दोनों हाथ कटवा दिए। दण्ड पाकर लिखित अपने भाई शंख के पास गए। शंख से जब लिखित ने क्षमा माँगी तो शंख ने कहा, "मैं तुम पर कुपित नहीं। हम दोनों का पवित्र कुल है। तुमने धर्म का उल्लंघन किया था, अतः उसी का तुमने प्रायश्चित्त किया है। अब तुम नदी पर जाकर स्नान करो तथा देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करो। भविष्य में फिर कभी अधर्म में मन न लगाना।" लिखित ने पवित्र नदी में स्नान कर ज्योंही तर्पण की चेष्टा की, उनके कमल-सदृश दो सुन्दर हाथ प्रकट हो गए। तदनन्तर लिखित ने चकित होकर अपने भाई को वे दोनों हाथ दिखाए। इस पर शंख ने कहा, "भाई ! तपस्या से मैंने तुम्हारे हाथ उत्पन्न किए हैं।" यह सुन कर लिखित ने पूछा, "यदि आपकी तपस्या में ऐसा ही बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया ?"

यह सुनकर शंख बोले, "भाई, यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था परन्तु तुम्हें दण्ड देने का अधिकार तो केवल राजा को था। इस प्रकार दण्ड देकर राजा तथा दण्ड स्वीकार करके तुम पितरों सहित पवित्र हो गए।"+

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

जिन साधनों से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में बाधा होती है, उनके बार-बार चिन्तन करने से मनुष्य को बन्धन में पड़ना होता है। इस विषय में राजर्षि भरत का उदाहरण दिया गया है। उन्होंने एक हरिन के बच्चे का पालन उसे अनाथ समझ कर किया था किन्तु धीरे-धीरे उस मृग-शावक के प्रति उनका इतना मोह बढ़

+द्रष्टव्य महाभारत—(शांति पर्व, अध्याय २३, श्लोक १८-४५)

गया कि वे उसके पीछे-पीछे फिरने लगे । अन्त समय में उनका ध्यान उक्त बच्चे में रहा, अतः उनकी मुक्ति न हो सकी और उन्हें हरिन के रूप में पुनर्जन्म लेना पड़ा ।

जड़ भरत को लक्ष्य करके विष्णुपुराण में भी कहा गया है :—

चपलं चपले तस्मिन् दूरगं दूरगामिनि ।
आसीच्चेतः समासक्तं तस्मिन् हरिणपोतके ।।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारी शङ्खवत् ।। ९ ।।

द्वाभ्यामपि तथैव ।। १० ।।

जैसे एक कन्या के हाथ में शंख की बहुत-सी चूड़ियां आपस में टकरा कर झणत्कार उत्पन्न करती हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी का भी बहुत से व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध बना रहने से, उसमें राग-द्वेष बढ़ता रहता है । यही बात दो व्यक्तियों से सम्बन्ध रहने पर भी लागू होती है ।

इस विषय में भागवत की निम्नलिखित कथा उल्लेख्य है :—

एक गाँव में किसी कुमारी के कुटुम्बी उसे घर में छोड़ कर किसी काम से बाहर गये हुए थे । इसी बीच दूसरे गाँव से वर-पक्ष के लोग उसका सम्बन्ध करने के लिए आए । तब वह कन्या स्वयं ही उनके आतिथ्य-सत्कार का प्रबन्ध करने लगी । जब उसने एकान्त में धान कूटना शुरू किया, तब उसके हाथ की चूड़ियाँ बजने लगीं । बुद्धिमती कन्या ने अपने नैहर की दरिद्रता छिपाने के लिए लज्जित होकर चूड़ियाँ उतारना प्रारम्भ किया, केवल एक-एक हाथ में दो-दो चूड़ियाँ रख लीं । इस प्रकार धान कूटते समय जब वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और उतार दी जिससे फिर शब्द न हुआ ।

इसीलिए कहा गया है :—

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कंकणः ।।

(११ । ९ । १०)

अर्थात् बहुत-से लोगों के साथ रहने से कलह होता है और दो के साथ रहने से भी बातचीत हुआ करती है, इसलिए कुमारी की चूड़ियों की तरह, साधक को अकेला ही विचरण करना चाहिए ।

महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में भी यही बात कही गई है :—

बहूनां कलहो नित्यं, द्वयोः संकथनं ध्रुवम् ।
एकाकी विचरिष्यामि, कुमारीशङ्खको यथा ।।

(शांति पर्व, १७८ । १३)

निराशः सुखी पिंगलावत् ।। ११ ।।

पिंगला की तरह आशा अथवा अयुक्त आकांक्षा का त्याग करने पर ही कोई सुखी हो सकता है। यहाँ पर पिंगला नामक उस वेश्या का उदाहरण दिया गया है जो विदेहनगर में रहती थी। एक रात षोडश शृंगार करके वह अपने द्वार पर बैठी किन्तु कोई भी पुरुष उसके द्वार पर नहीं आया। तब उसने सोने की चेष्टा की किन्तु आशा के मारे उसे निद्रा न आई और बाहर-भीतर आते-जाते उसे आधी रात हो गई। तब उसके हृदय में निर्वेद उत्पन्न हुआ और आशा का त्याग करने पर ही उसे सुख की प्राप्ति हुई। भागवतकार के शब्दों में :—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कांताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ।।

(११ । ८ । ४३)

महाभारत के शान्ति-पर्व में भी कहा गया है :—

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ।।

(१७८ । ८)

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ।। १४ ।।

बाण बनाने वाले की तरह एकाग्रचित्त वाले साधक की समाधि में विक्षेप नहीं होता। भागवत में इषुकार के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह बाण बनाने में ऐसा तन्मय था कि उसके पास से धूमधाम के साथ राजा निकल गया किन्तु इस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ।।

(११ । ९ । १३)

महाभारत के शान्ति पर्व में बोध्यगीताविषयक अध्याय में इषुकार के संबंध में निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होता है :—

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ।।

(१७८ । १२)

अर्थात् एक बार एक ऐसे बाण बनाने वाले को देखा गया जो अपने काम में इतना दत्तचित्त था कि अपने पास से निकली हुई राजा की सवारी का भी उसे पता नहीं चला।

शारीरक भाष्य में भी इषुकार के दृष्टान्त का प्रयोग हुआ है—"इषुकार-न्यायेन मुग्धो भविष्यति"

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥ १६ ॥

शास्त्रीय नियम के भूल जाने पर भी हानि होती है। इस विषय में भेकी-विषयक निम्नलिखित आख्यायिका कही जाती है :—

एक राजा वन में शिकार के लिए गया। वहाँ उसने एक सुन्दरी कन्या देखी जिस पर मुग्ध होकर उसने विवाह की इच्छा प्रकट की। सुन्दरी ने विवाह करना तो स्वीकार कर लिया किन्तु यह शर्त रखी कि यदि राजा उसे कभी जल दिखा देगा तो वह उसे छोड़ कर चली जायगी। राजा ने यह शर्त मान ली और कन्या से विवाह कर लिया। एक बार क्रीड़ा से थकी हुई उस कन्या ने राजा से कहा, "जहाँ जल है, मुझे वहाँ ले चलो।" राजा को शर्त का ध्यान न रहा और उसने रानी को जल का तालाब दिखा दिया। जल को देखते ही वह कन्या मेंढ़की बनकर जल में घुस गई।

इसी प्रकार साधक भी यदि शास्त्रीय नियमों का विस्मरण कर दे तो उसे भी अनर्थ का सामना करना पड़ता है।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ १६ ॥

केवल उपदेश श्रवण से ही कृतकृत्यता नहीं होती बल्कि उपदेश का तात्पर्य समझ कर उस पर मनन करना भी आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् की निम्नलिखित आख्यायिका ध्यातव्य है :—

प्रजापति ने कहा, "जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्यु-रहित, शोक-रहित, क्षुधा-रहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है, उसे खोजना चाहिए और उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। जो शास्त्र और गुरु के उपदेशानुसार उस आत्मा को खोजकर जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।"

प्रजापति की इस उक्ति को सुनकर देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन, दोनों ही, हाथों में समिधाएं लेकर प्रजापति के पास आए। उन्होंने ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया। तब उनसे प्रजापति ने पूछा, "तुम यहाँ किस इच्छा से रहे हो?" उन्होंने उत्तर दिया, "आप द्वारा निर्दिष्ट आत्मा को जानने की इच्छा से हम यहाँ आए हैं।"

यह सुनकर प्रजापति ने उनसे कहा, "यह जो पुरुष नेत्रों में दिखाई देता है, आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।" तब उन्होंने पूछा, "भगवन्! यह जो जल में सब ओर प्रतीत होता है और जो दर्पण में दिखाई देता है, उनमें

आत्मा कौन सा है ?" इस पर प्रजापति ने कहा, "मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुष का वर्णन किया है, वही इन सब में सब तरफ प्रतीत होता है। जलपूर्ण शकोरे में अपने को देखकर तुम आत्मा के विषम में जो न जान सको वह मुझे बतलाओ। तुम इसमें क्या देखते हो ?"

उन्होंने कहा, "भगवन् ! हम अपने इस समस्त आत्मा को लोम और नख-पर्यन्त ज्यों का त्यों देखते हैं।" इस पर प्रजापति ने कहा, "तुम अच्छी तरह अलंकृत होकर सुन्दर वस्त्र पहन कर और परिष्कृत होकर जल के शकोरे में देखो और फिर बताओ, तुम क्या देखते हो ?" तब उन दोनों ने कहा, "भगवन् ! जिस प्रकार हम दोनों उत्तम प्रकार से अलंकृत, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और परिष्कृत हैं, उसी प्रकार ये दोनों भी उत्तम प्रकार से अलंकृत, सुन्दर वस्त्रधारी, और परिष्कृत हैं।" तब प्रजापति ने कहा, "यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है।" यह सुनकर वे दोनों शांतचित्त होकर चले गये।

विरोचन असुरों के पास पहुंचा और लगा कहने, "इस लोक में यह आत्मा (शरीर) ही पूजनीय और सेवनीय है। शरीर की ही पूजा और परिचर्या करने वाला पुरुष इस और परलोक दोनों को प्राप्त कर लेता है।"

किन्तु देवताओं के पास बिना पहुंचे ही इन्द्र को भय दिखाई दिया। उन्होंने सोचा "यह छायात्मा जिस प्रकार सुन्दर अलंकारों से विभूषित होने पर अलंकृत होता है, उसी प्रकार अन्धे होने पर अन्धा होता है, स्राम होने पर स्राम हो जाता है, खंडित होने पर खंडित हो जाता है तथा इस शरीर का नाश होने पर यह भी नष्ट हो जाता है। अतः इस छायात्म दर्शन में मैं कुछ भोग्य नहीं देखता।"

इन्द्र यह सोचकर फिर प्रजापति के पास आए और अपनी शंका उनके सामने रखी। प्रजापति के आदेशानुसार इन्द्र ने यहाँ ३२ वर्ष फिर ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। तब प्रजापति ने कहा, "जो यह स्वप्न में पूजित होता हुआ विचरता है, यह आत्मा है।" इन्द्र शांतचित्त होकर चले गये किन्तु देवताओं के पास बिना पहुंचे ही उन्हें भय दिखाई दिया और वे सोचने लगे—"यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी स्वप्न-शरीर अनन्ध होता है। यह इस देह के वध से नष्ट भी नहीं होता और न इसकी रुग्णता से रुग्ण होता है। किन्तु इसे मानो कोई मारता हो, कोई ताडित करता हो, यह मानो अप्रिय का अनुभव करता हो और रुदन करता हो—ऐसा हो जाता है। अतः इस प्रकार के आत्म-दर्शन में मैं कोई फल नहीं देखता।" इन्द्र फिर प्रजापति के पास गये और उन्होंने उनके सामने अपनी शंका रखी। प्रजापति के आदेशानुसार इन्द्र ने फिर ३२ वर्ष और ब्रह्मचर्यवास किया। तब प्रजापति ने कहा, "जिस अवस्था में यह सोया हुआ दर्शनवृत्ति से रहित और सम्यक् रूप से आनंदित

हो स्वप्न का अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है। यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है।"

यह सुन कर इन्द्र शांतचित्त होकर चले गये किन्तु देवताओं के पास बिना पहुंचे ही उन्हें भय दिखाई दिया और वे सोचने लगे—"उस अवस्था में तो इसे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं रहता कि 'यह मैं हूं' और न यह अन्य भूतों को ही जानता है, उस समय तो यह मानो विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्टफल दिखाई नहीं देता।"

इन्द्र फिर अपनी शंका लेकर प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति के आदेशानुसार उन्होंने ५ वर्ष और ब्रह्मचर्यवास किया। कुल मिला कर उन्होंने १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। तब प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश देते हुए कहा—'इन्द्र! यह शरीर मरणशील है, यह मृत्यु से ग्रस्त है। अविनाशी अशरीरी आत्मा का इसमें निवास है। शरीरयुक्त रहने पर यह सुख दुःख से घिरा रहता है, सशरीर रहते हुए इसमें प्रिय-अप्रिय का अन्त नहीं हो सकता। पर जब यह देहाभिमान को त्याग देता है तो प्रिय-अप्रिय इसे स्पर्श नहीं कर सकते। जिस प्रकार वायु शरीर रहित है, बादल, बिजली और मेघ की गर्जना भी शरीर-रहित हैं—ये जिस प्रकार आकाश में उठ कर सूर्य की प्रकृष्ट ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में पहुंच जाते हैं, उसी प्रकार यह जीव शरीर से उठ कर परम ज्योति ब्रह्म को पाकर अपने स्वरूप को पा जाता है। ………जो पुरुष उस आत्मा को जानकर अनुभव करता हैं, वह सब लोकों और भोगों को प्राप्त कर लेता है।"+

उक्त आख्यायिका से स्पष्ट है कि प्रजापति द्वारा दिए गए उपदेश का मनन न करने के कारण, विरोचन आत्मज्ञान तक नहीं पहुँच सके जबकि सम्यक् मनन के द्वारा इन्द्र ने उसे प्राप्त किया। इसीलिए परवर्ती सूत्र में कहा गया है:—

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ।१८।

अर्थात् विरोचन और इन्द्र दोनों में से पहला असफल रहा जबकि इन्द्र को आत्म-साक्षात्कार में सफलता मिली क्योंकि प्रजापति के उपदेश को सुन कर उन्होंने उस पर मनन किया, जो शंकाएँ उपस्थित हुईं, उनका बार-बार प्रजापति से समाधान कर लिया।

गीता में भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'परिप्रश्न' को महत्व दिया गया है:—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।"

+द्रष्टव्य 'कल्याण' (उपनिषद्-अङ्क) पृ० ४५५-४५८

बिना परिश्रम के साधक केवल सतही जानकारी से सन्तुष्ट हो जाता है किन्तु जो तपस्वी परिश्रम का आश्रय लेता है और अनेक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह इन्द्र की तरह अपनी अभीष्ट-सिद्धि में सफल होता है।

न कालनियमो वामदेववत् ।२०।

ज्ञान की प्राप्ति कितने समय में हो, इसका कोई नियम नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार से भी शीघ्र ज्ञान का उदय हो सकता है। वामदेव ऋषि को गर्भ की अवस्था में ही आत्मज्ञान हो गया था। ऐतरेय उपनिषद् में वामदेव कहते हैं—"मैं गर्भ में रह कर ही देवताओं के अनेक जन्मों को जान चुका हूँ। तत्व-ज्ञान की प्राप्ति से पहले मैं सैकड़ों कठोर पिंजरों में आबद्ध था। अब मैं श्येन के समान वेग द्वारा उन्हें काट कर मुक्त हो गया हूँ।" ×

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है, "पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जिस-जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिसने उसे जाना, वही तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना। ×

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ।२४।

जिसका ज्ञान चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है, ऐसे महापुरुष के संग से भी कोई व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हो सकता है जिस प्रकार अलर्क नृप ने महायोगी दत्तात्रेय के संग के कारण ज्ञान प्राप्त किया था।०

महाभारत के अश्वमेध पर्व में भी अलर्क का उपाख्यान उपलब्ध होता है। अलर्क नामक राजर्षि ने अपने धनुष की सहायता से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर ली। तब उन्होंने मन, नासिका, जिह्वा, त्वचा, श्रोत्र, चक्षु आदि पर अपने स्थूल बाणों द्वारा विजय प्राप्त करनी चाही। महाभारतकार ने अलर्क और मन आदि का वार्तालाप करवाया है जिसमें मन आदि ने अलर्क से यही कहा है कि तुम इन स्थूल बाणों के प्रहार से अपना नाश कर लोगे। जब अलर्क बुद्धि पर भी इन्हीं बाणों के प्रहार की बात सोचने लगे तो बुद्धि ने कहा—

× बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०

० मार्कण्डेय पुराण ३८-४३ अध्याय द्रष्टव्य

"नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।
अन्यात् बाणात् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
(अश्वमेध पर्व, अध्याय ३०, श्लोक २५)

हे अलर्क ! ये बाण किसी भी प्रकार मेरा स्पर्श नहीं कर सकते, मेरा पार नहीं पा सकते । इनसे तो तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण होगा और मर्म विदीर्ण होने पर तुम्हीं मरोगे । जिनकी सहायता से तुम मुझे मार सकोगे, वे बाण तो कोई और ही हैं । उनके विषय में विचार करो ।

बुद्धि की यह बात सुनकर अलर्क ने चिरकाल तक एकाग्र चित्त से विचार किया और अन्त में उन्हें योग से बड़ कर कोई दूसरा उपाय प्रतीत नहीं हुआ । वे मन को एकाग्र करके स्थिर आसन से बैठ गये और ध्यान-योग की साधना करने लगे । इस ध्यानयोग रूप एक ही बाण से उन्होंने समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली और कहा, 'बड़े कष्ट की बात है कि अब तक मैं बाहरी कामो में ही लगा रहा और भोगों की तृष्णा के वशीभूत होकर राज्य की ही उपासना करता रहा । ध्यानयोग से बढ़कर दूसरा कोई सुख का उत्तम साधन नहीं है, यह बात तो मुझे बहुत बाद में मालूम हुई है ।"

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ २७ ॥

विषयों के भोग से इच्छा शान्त नहीं होती । इस सम्बन्ध में सौभरि मुनि का दृष्टान्त दिया गया है । एक बार उन्होंने नदी में स्नान करते समय एक मगर को जल में किलोल करते देखा जिससे उनकी वासना जागृत हो उठी और वे अपनी साधना छोड़ कर नगर में जा पहुँचे । वहाँ राज-द्वार पर पहुँच कर उन्होंने राज-कन्याओं की याचना की । राज-कन्याओं की प्राप्ति के बाद बहुत वर्षों तक विषय-भोग में लगे रहने पर भी उनकी भोगेच्छा शान्त नहीं हुई । विष्णु-पुराण में स्वयं सौभरि के मुख से कहलवाया गया है:—

स मे समाधिर्जलवासमित्रमत्स्यस्य संगात् सहसैव नष्टः ।
परिग्रहः संगकृतो ममाय परिग्रहोत्थाश्च महाविधित्साः ॥
(विष्णु० ४।२।४८)

आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य ।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगि ॥
(विष्णु० ४।२।४७)

इसी प्रकार की उक्ति महाभारतकार ने ययाति के मुख से कहलवाई है:—

न जातु कामः कानानानुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

अतः विषयों से चित्त का हटाना ही विवेक-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है ।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ।२६।

मलिन चित्त में उपदेश रूप बीज अंकुर के रूप में प्रस्फुटित नहीं होता। दशरथ के पिता अज के लिए प्रसिद्ध है कि जब उनकी पत्नी इन्दुमती की अचानक मृत्यु हो गई तो वे अत्यन्त शोक-विह्वल हो उठे। भार्या-शोक से उनके मलिनचित्त होने के कारण उन पर वसिष्ठ के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के अष्टम सर्ग में इन्दुमती की मृत्यु पर अज से जो विलाप करवाया है, वह अत्यन्त ही हृदयद्रावक है। जिन दिनों इन्दुमती की मृत्यु हुई, उन दिनों वसिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे। इसलिए उन्होंने अपने एक शिष्य को भेजकर अज से संदेश कहलवाया कि जिसने देह धारण की है, उसका मरना तो स्वाभाविक है। अतः विद्वान् को स्त्री-पुत्रादि के निधन से सामान्य जनों की तरह दुखी नहीं होना चाहिए। राजा ने विद्वान् गुरु वसिष्ठ का संदेश स्वीकार तो किया किन्तु उनके हृदय में उस संदेश का प्रवेश न हो सका। कविकुल-गुरु के शब्दों में—

"स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ।।
(रघुवंश ८।९१)

अर्थात् उदारमति गुरु वसिष्ठ के वचन को अंगीकार करके राजा ने वसिष्ठ के शिष्य को विदा दी किन्तु राजा का हृदय शोक से इतना घनीभूत हो रहा था कि उसमें उपदेश के टिकने के लिए अवकाश ही कहाँ था! इसलिए उपदेश भी मानो अज के हृदय में स्थान न पा सकने के कारण गुरु के पास लौट गया!

निष्कर्ष

सांख्य-दर्शन के चतुर्थ अध्याय का नाम ही 'आख्यायिकाध्याय' रखा गया है जिससे स्पष्ट है कि तत्व-चिन्तक भी दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया करते थे। वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, जातक आदि में आख्यानों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

उक्त 'आख्यायिकाध्याय' में जिन आख्यायिकाओं का प्रयोग हुआ है, उनके विश्लेषण से पता चलता है कि. १. राजपुत्र २. पिशाच ३. पिता पुत्र ४. श्येन ५. कुमारी–शंख ६. इषुकार तथा ७. भेकी-विषयक आख्यायिकाएँ वस्तुतः लोक-कथाएँ

ही हैं तथा ८. छिन्न-हस्त ९. भरत १०. पिंगला ११. इन्द्र-विरोचन १२. वामदेव १३. सौभरि तथा १४. अज-सम्बन्धी आख्यायिकाएँ 'पौराणिक आख्यान' अथवा 'पुराख्यान' हैं। इस वर्गीकरण मे लोक-कथाओं के महत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भेकी-विषयक आख्यायिका तो मूल अभिप्राय (Motif) की दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

अतः अन्त में यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि यदि वेद, उपनिषद् पुराण तथा कुछ दर्शन-ग्रन्थों का भी लोकतत्व की दृष्टि से गंभीर अध्ययन किया जाय तो अनेक प्रच्छन्न तथ्य उभर कर सामने आएँगे।

●

मूल अभिप्राय 'अद्भुत' : निदर्शन तथा निरूपण

●

(क) निदर्शन

लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय है 'अद्भुत', जिसके निदर्शनार्थ निम्न-लिखित राजस्थानी बात (पलक दरियाव की बात का हिन्दी सार) यहाँ उद्धृत की जा रही है:—

"पाटण शहर में अजैपाल साह नामक व्यापारी रहता था जो बहुत धनी था। उसका इकलौता पुत्र देवीदास जब १५ वर्ष का हुआ तो वाणिज्य-व्यापार में बहुत कुशल हो गया। शहर से 'अधकोस' की दूरी पर श्री लक्ष्मीनाथजी का मन्दिर था जहाँ देवीदास नित्य दर्शन के लिए जाया करता था। वह एक पैसा भेंट चढ़ाता, सच्ची प्रीति से दर्शन करता, कभी नागा न होने देता, तथा पहले दर्शन-भेंट करके, फिर भोजन किया करता था।

एक दिन साह के यहाँ विदेश से जहाज में भर कर बहुत-सा व्यापार का माल आया जिससे वह दर्शन करने नहीं जा सका। घर जाकर जब पिता-पुत्र भोजन के लिए बैठे तो देवीदास को दर्शन की याद आई और उसने अपने पिता से कहा, "मैंने प्रति दिन ठाकुरजी के दर्शन का नियम ले रखा है किन्तु आज व्यस्त रहने के कारण दर्शन करने के लिए नहीं जा सका, दर-असल मैं भूल ही गया; किन्तु अब मैं दर्शन करके ही भोजन करूँगा, पहले नहीं।"

यह सुनकर पिता ने कहा, हे पुत्र ! आज अपने यहाँ काम है, कल सबेरे टके की भेंट चढ़ा देना, दो बेला दर्शन कर लेना तथा एक साथ ही अपने सब अपराधों की क्षमा माँग लेना।" किन्तु साह के बहुत कहने-सुनने पर भी जब देवीदास न माना तो साह ने कहा, "जब तुम्हारा मन है तो अलबत चले जाओ, किन्तु दर्शन करके शीघ्र ही लौट आना।"

इधर डेढ़ पहर दिन चढ़ गया था। ठाकुरजी के भोग की आरती करके देवन नामक ब्राह्मण पंडा अपने घर चला गया था। मन्दिर के किवाड़ बन्द थे। किवाड़ के नीचे से हाथ डाल कर देवीदास कहने लगा, "महाराज, पैसा ग्रहण करें, मुझसे चूक हुई जो मैं देर से पहुँचा। मेरा अपराध क्षमा करें। मैं तो आपका चाकर हूँ, आपकी शरण हूँ, आपको छोड़ कर मुझे ठौर कहाँ?" ऐसा कहते कहते वह भाव-विह्वल होकर रुदन करने लगा।

यह देख कर लक्ष्मीजी ने भगवान् से प्रार्थना की, "यह साहूकार बहुत दीन है; इसका पैसा अंगीकार करें, कहीं ऐसा न हो कि इसके प्राण छूट जाएँ।"

इस पर भगवान् ने कहा, "पैसा इधर ला।" तब साहूकार ने नीचे से पैसा आगे सरका दिया और भगवान् को नमस्कार करके मन्दिर की प्रदक्षिणा करने लगा। प्रदक्षिणा करके देवीदास फिर मन्दिर के सामने आया और भगवान् को नमस्कार किया। मन्दिर के अन्दर से फिर आवाज आई—"देवीदास, कुछ माँग, जो तू माँगेगा, वही पाएगा।"

साहूकार ने भगवान् को प्रसन्न जान कर कहा, "आप 'पलक दरियाव' कहलाते हैं, मेरी कामना है कि आप 'पलक दरियाव' का तमाशा मुझे दिखलाएँ।" भगवान् ने कहा, "इस तमाशे को देख कर क्या करोगे? राज्य माँगो, बादशाही माँगो अथवा और कोई अच्छी वस्तु माँगो।" तब देवीदास ने दण्डवत्-प्रणाम करके अर्ज की, "आपकी कृपा से ये सब वस्तुएँ तो मुझे पहले से ही उपलब्ध हैं, आप जब प्रसन्न हुए हैं तो 'पलक दरियाव' का तमाशा ही मुझे दिखलाएँ।"

इतने में फिर आवाज हुई—"तो देख।" यह सुनते ही देवीदास ने नीचे झुक कर नमस्कार किया और ऐसा करते ही उसका जी निकल गया। इधर साहूकार का जीव निकला और उधर बन्धुगढ़ के राजा कनकरथ की पटरानी के गर्भ रहा। नवें महीने पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम रखा गया—'विचित्र'। कुँवर के वयस्क होने पर सेरपुर के राजा वीरभद्र की लड़की इन्द्रकंवरी से उसकी सगाई हो गई। लगभग एक वर्ष बाद बड़ी धूमधाम से कुँवर का विवाह हो गया।

इसके बाद विचित्र कुंवर ने राज्य का सारा भार सम्हाल लिया। चार वर्ष बाद कुँवर के पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे सर्वत्र बड़ा 'हरख-चाव' हुआ। पौत्र का नाम रखा गया 'देपालदे'।

कुँवर के विवाह में जो दहेज दिया गया था, उसी के साथ कुँवर ने हरदान नामक 'ओलंगिया' को भी माँग लिया था। हरदान को सवा लाख की एक कंठी भी मिली थी। एक दिन विवाहोपरान्त हरदान ने कुँवर से कहा, "यह कंठी आप अपने पास रखें, मैं डूम हूँ, भंग पीकर कहीं सो जाऊँ और कंठी को खो बैठूँ।"

कुँवर ने पहले तो आना कानी की किन्तु जब हरदान ने बहुत आग्रह किया तो कुँवर ने कंठी ले ली और अपने पलंग के 'पगांतिये' वाले 'आले' की एक कल में छिपा कर रख दी।

इस प्रकार जब विचित्र कुँवर सुख से राज्य कर रहा था, एक बार सवालखी नायक विणजारा वहाँ आया। विणजारे के एक लड़का था जिसका नाम था सुजांण। नायक के साथ एक दरियाई हाथी था जिसे ४० हज़ार की लागत मूल्य पर कुँवर ने खरीद लिया। जब विणजारे के चलने की तैयारी हुई तो सुजांण कुँवर के साथ पहुँचा और अपनी चार लाख की डबी (डिबिया) कुँवर के पास धरोहर के रूप में रख दी। कुँवर ने इसे भी कंठी के साथ उसी 'आले' में रख दिया।

विदा होते समय नायक ने हाथ जोड़ कर अर्ज की—कोई वस्तु आप चाहें तो परदेश से लेता आऊँ। इस पर कुँवर ने एक ऐराकी घोड़ा ले आने के लिए कहा। इसके बाद कुँवर ने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की और दो वर्ष बाद अपने घर लौटा। दीवान सुन्दरदास पर राज्य का कार्य-भार था। दीवान का लड़का वेणीदास कुँवर की जी हुज़ूरी में रहता था। एक दिन कुँवर अपने सरदारों आदि को साथ लेकर एक तालाब पर गया और वहाँ बड़ी गोठ का आयोजन किया गया। कुँवर ने स्नान के लिए तालाब में जब डुबकी लगाई तो उसके बाद तालाब से बाहर नहीं निकला। बहुत ढूँढ़ने के बाद कुँवर की लाश ऊपर आ गई जिसे देख कर सब शोक-विह्वल हो गए। दीवान ने कुँवर के माता पिता तथा रानी आदि सबको धीरज बँधाया। १२ दिन तक मृतक के सब संस्कार हो जाने के बाद देपालदे के पगड़ी बाँधी गई और १३ वें दिन राजा तख्त पर बैठा। तब हरदान, गोगदान और शिवदान ने विभूति लगा ली और साधु-संन्यासी का वेश धारण कर चलते बने।

कुँवर का जब जीव निकला तो वह निकल कर देवीदास के शरीर में प्रविष्ट हो गया। देवीदास उठ खड़ा हुआ और उसने ठाकुरजी को प्रणाम किया। तब भीतर से आवाज़ आई—तुमने 'पलक दरियाव' का तमाशा देख लिया ? कुँवर ने उत्तर दिया—आपकी कृपा से क्या नहीं हो सकता ? इस पर फिर आवाज़ आई—यदि भगवान् की इस लीला को किसी के सामने तुमने प्रकट कर दिया तो अविलम्ब तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे। इतना सुन कर जब देवीदास घर पहुँचा तो उसने कहा—कुछ देर तो नहीं हुई, आने-जाने में जो समय लगा, वही लगा। भोजन कर जब वह दूकान पर पहुँचा तो अजैपाल ने कहा—शाबाश बेटा ! बड़ी जल्दी आए; आज तो दूकान पर काम था !!

यह सुन कर देवीदास ने कहा—देर तो विशेष लगी नहीं, आने-जाने में जितना समय लगा, उतना ही लगा। इतना कहकर देवीदास दूकान के हिसाब:किताब में लग गया।

उधर हरदान तथा रामदान दोनों साधु बन कर तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े थे। तीर्थ-यात्रा करते-करते एक दिन उन्होंने पाटण शहर में डेरा किया। भिक्षार्थ घूमते-घूमते वे संयोग से अजंपाल की दूकान के सामने जा पहुँचे। तब हरदान बोल उठा—रामदान, तुम्हें तमाशा दिखलाऊँ ? रामदान ने देख कर कहा—यह तो सागी कुँवर है ! हरदान ने कहा—ठहरो, कुँवर का शरीर तो हम लोगों ने हाथ से फूँक दिया था किन्तु इसका चेहरा तो ठीक वही है। दो घड़ी खड़े रह कर उन्होंने अच्छी तरह देखा-भाला। इतने में देवीदास बोल उठा—साधु लोगो, क्यों खड़े हो ? भिक्षा लेकर अपने रास्ते लगो। यह सुन कर हरदान ने कहा—रामदान, यह तो वही कुँवरजी हैं, ठीक वही उनकी बोली है। इस पर कुँवर ने फिर कहा-साधुओ जो तुम्हें चाहिए, कहो। गुमाश्ते सब दूर हो गये। तब हरदान से बोले बिना नहीं रहा गया। उसने निम्नलिखित दोहा कहा—

विचित्र कुँवर बखाणिये, च्यारि वरन दिसि च्यार।
सूरज दूजो कनक सुत, दीपै जग दातार ।।

कुँवर ने भी दोनों को पहचान कर कहा—यह रुपया लो, भोजन करके फिर आना, बातें करेंगे, गुप्त रहना, शुभराज न करके राम-राम करना जिससे कोई पहचान न सके। इतना कह कर देवीदास ने उनको विदा किया और स्वयं दूकान के काम में लग गया। सायंकाल होने पर कुँवर ने दूकान के ताला बन्द कर दिया। इतने में हरदान ने आकर 'जै श्री राम' कहा।

आप 'राम-राम' कह कर उन्हें साथ लेकर चला। साधु घर के द्वार पर बैठे रहे। स्वयं भीतर जाकर कुँवर ने भोजन किया और अजैपाल से कहा—आज मेरे शरीर में आलस्य है, नौहरे जाकर तेल की मालिश करवाता हूँ। इतना कह कर वह नौहरे में गया और 'ढोलिये' पर बैठा। नीचे हरदान, रामदान, 'मुजरा' करके बैठ गये। देवीदास ने अपनी सब हकीकत कही और उधर की सब बातें मालूम की। इसके बाद कुँवर ने कहा—तुम जाकर अपनी कंठी ले लो। सुजाण नायक की डिबिया भी जाकर उसे दे दो। कंठी और डिबिया जहाँ रखी थी, वह स्थान भी बतला दिया। साथ ही यह भी हिदायत की कि मेरा नाम न लेना। यह सुनकर उन्होंने कहा—आपके नाम बिना उक्त वस्तुएँ कैसे माँगी जा सकती हैं ? अच्छा तो यही है कि आप स्वयं वहाँ चलें। आपके बिना सारा राज्य दुखी है। यहाँ तो आप एक घर में उजाला कर रहे हैं, वहाँ सारे देश में उजाला होगा। आप पधारें तो

राज्य में फिर से सूर्योदय होगा। हरदान तथा रामदान ने बहुत कुछ कहा किन्तु कुँवर चलने के लिए राजी नहीं हुआ। अन्त में हरदान ने कहा—हम लोगों ने जो प्रत्यक्ष देखा है, वही जाकर कहेंगे। तब देवीदास ने उन दोनों के रवाना होते समय कहा—आले की चाबी मोहन के पास है, उससे माँग लेना। वह विश्वासपात्र है।

इसके बाद देवीदास अपने घर जाकर सो गया किन्तु हरदान—रामदान को चैन कहाँ ? ऊन्होंने तो उसी समय बन्धुगढ़ का रास्ता लिया और चल पड़े। चलते-चलते ३९ दिन में वे बन्धुगढ़ पहुँचे।

राजा कनकरथ दरबार में बैठा हुआ था। उस समय सवा लखी बनजारा सुजांण नायक भी वहाँ आया हुआ था। कुँवर की मृत्यु का समाचार सुन कर वह मूर्छित हो गया था। दूसरे दिन वह ऐराकी घोड़ा (जो कुँवर ने मँगाया था) लेकर दरवार में उपस्थित हुआ। दैपालदे को टीके में घोड़ा दिया तथा मोती आदि राजा को नजर किए। रानी ने जो कपड़ा मँगाया था, वह रानी को भेंट किया। इस पर रानी ने कहा—

सूल फूल सूली सयन, खान पान सब खार।
पति बिन नायक नारि को, यह सिंगार अंगार ।।

अब पति के बिना यह कपड़ा मेरे किसी काम का नहीं। यह सुन कर नायक सुजांण ने अर्ज की–जब आप दैपालदे का विवाह करेंगी तब यह काम आएगा।

इस प्रकार बातचीत करके नायक तो विदा हुआ। दूसरे दिन हरदान ने दरबार में आकर मुजरा किया और कहा—महाराज ! बधाई है, कुँवरजी मिल गए हैं। इस पर राजा ने कहा—ये साधु लोग कौन हैं, इनसे पता लगवाओ। तब हरदान-रामदान ने कहा—हम तो कुँवर के सेवक हैं और उनसे मिल कर आए हैं। यह सुनकर गद्गद्—कंठ होकर राजा ने कहा—

गयौ न जोबन बावड़ै, मुवा न जीवै कोय।
अणहूणी हूणी नहीं, हूणी होय सो होय ।।

राजा ने कहा—सुन्दरदास, ये बेचारे पागल हो गये हैं। ये कुँवर के मर्जीदान चाकर थे। इन्हें पेटिया दिलाओ और सान्त्वना दो।

तब हरदान ने कहा—महाराज, हम कोई पागल नहीं हैं, कुँवरजी से मिल कर आए हैं, पाटण शहर में अजैपाल के घर वे हैं। उन्होंने हम से सब हकीकत पूछी और फिर कहा—सुजांण नायक की एक डिबिया, सवा सेर की एक हरड़, रुद्राक्ष की माला, एक कंठी—इतनी वस्तुएँ महल में पलंग के पैर की तरफ वाले आले में जो कल हैं, उसमें रखी हुइ हैं और आले की चाबी मोहन के पास है। मोहन भी वहीं खड़ा था। उसने कहा—महाराज, चाबी तो मेरे ही पास है। तब राजा

की आज्ञा से कुंवर दैपालदे को साथ लेकर मोहन महल में गया, आले को खोला और चारों वस्तुओं को लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा यह देख कर बहुत खुश हुआ और कहने लगा—बनजारे की डिबिया तो बनजारे को देना, अपनी कंठी तुम ले लेना, हरड़ कारखाने में रखना, माला दैपालदे को दे देना। तब कंठी तो हरदान को दे दी गई और सुजांण नायक को बुलाने के लिए दो सवार रवाना हुए। बीस कोस चल कर सुजांण नायक के पास पहुँच कर वे कहने लगे—राजाजी ने आपको यथाशीघ्र बुलवाया है, बड़ा जरूरी काम है। सुजांण के पहुँचने पर राजा ने डिबिया उसे सम्हलादी और कुँवर के सम्बन्ध में सब हाल कह सुनाया। सुजांण ने कहा—बात सच्ची है, डिबिया की बात सिवाय कुँवरजी के किसी दूसरे को मालूम न थी। तब सुजांण ड्योढ़ी गया और अन्दर से कहलवाया गया—कुँवर को वापिस ले आना है, साहूकार को यदि आदमियों के आने की खबर मिल गई तो वह कुँवर को परदेश भेज देगा और तब कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

यह सुन कर सुजांण दरबार में उपस्थित हुआ। अन्त में परस्पर परामर्श के बाद द्वारिका की यात्रा के बहाने राजा कनकरथ हरदान, रामदान आदि सेवकों तथा ५०० सवारों के साथ पाटण के लिए रवाना हुआ और १।। महीने में पाटण जा पहुँचा। सुजांण नायक भी इस यात्रा में साथ रहा।

पाटण शहर के नजदीक एक तालाब था। उसके समीप एक बाग में उन्होंने डेरा किया। फिर राजा के आदेशानुसार वेणीदास, चन्दण चौपदार, हरदान तथा रामदान कुँवर को पहचानने के लिए बाजार गए। कुँवर को देखते ही वेणीदास बोल उठा—अरे, ये तो ठीक वही कुँवर साहब हैं। इन्हें देख कर अजैपाल ने कहा—आप लोग कौन हैं? इतने में देवीदास कहने लगा—आप लोगों को क्या खरीदना है? वेणीदास ने कहा—कपड़ा आदि मोल लेना है। इस पर देवीदास ने कहा—दूसरी दूकान में जो कपड़ा आदि है, उसे मैं इन ग्राहकों को दिखला देता हूँ। यह कह कर देवीदास उठ खड़ा हुआ और ये चारों भी उसके साथ हो लिये। दूसरी दूकान के सामने जाकर जब ये खड़े हुए तो कुँवर उन्हें देखकर मुसकराया और कहा—वेणीदास तू यहाँ क्यों आया? इस पर वेणीदास ने जमीन में हाथ लगा, सलाम कर पैरों में सिर रखा। कुँवर ने ऊँचा उठाकर उसे छाती से लगाया। चन्दण चौपदार ने भी तसलीम करते-करते चरणों में मस्तक रखा। कुँवर ने उसकी पीठ थपथपाकर उसे ऊँचा लिया। दोनों चाकरों ने मुजरा किया। तब कुँवर ने कहा—हरदान, मैंने तुम्हें इतना मना किया था किन्तु तुमने मेरा कहना नहीं माना। हरदान ने अर्ज की—महाराज, ऐसी बात देख लेने पर क्योंकर रहा जा सकता है? और फिर हम तो आपके चाकर हैं, आपके बिना जैसी दशा हुई, वह आपने देख ही ली और हमारी ही क्या, सबकी यही दशा थी।

जब हमने जाकर सारी हकीकत कही, तब कुछ दशा सुधरी है। अब जब सब आपके दर्शन कर लेंगे तब सबका रंग फिरेगा। तब कुँवर ने सबका कुशल-क्षेम पूछा। इस पर वेणीदास ने कहा—आज आप से मिल कर सब खुश होंगे। तब कुँवर ने फरमाया—आज मिलना क्यों कर होगा? महाराज तो बन्धुगढ़ विराजते हैं और मैं यहाँ बैठा हूँ। तब चन्दरण चौपदार ने कहा—ऐसी बात सुन लेने पर महाराज वहाँ कैसे बैठे रह सकते थे? महाराज, माजी साहिबा, दैपालदे, बहूजी साहिबा, हजूरी, खवास, नायक सुजांण, सभी आपसे मिलने के लिए आये हुए हैं। इस पर कुँवर ने कहा—उनमें से किसी को इधर न आने देना। दो घड़ी रात जाने पर मैं स्वयं ही उधर आऊँगा। ऐसा कह कर कुँवर ने उनको विदा किया और आप वापिस दूकान पर आ गया। अजैपाल ने पूछा--कपडे आदि का कुछ सौदा बना या नहीं? देवीदास ने कहा–कुछ काम तो बन गया है। इतना कह कर वह अपने घर चला गया।

उधर वेणीदास आदि चारों ही महाराज के पास गये और मुजरा कर बधाई दी। सब बातें ब्यौरेवार बता कर उन्होंने कहा--कुँवर साहब स्वयं ही दो घड़ी रात बीतने पर इधर आएँगे। यह सुन कर सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए। चार घड़ी दिन बाकी था, वह चार वर्ष के बराबर लगा। ऊधर अजैपाल और देवीदास ने भी अपने घर भोजन किया। इसके बाद देवीदास ने सूने 'नोहरे' में जाकर भगवान् का स्मरण करते हुए कहा--

कहि अब हूं कैसे करूँ, दीनानाथ दयाल।
लाज हमारी राखि प्रभु, बहुत दुखी है बाल॥

तब नोहरे से घर आकर देवीदास ने अपनी स्त्री से कहा--हिसाब किताब पूरा करना है, इसलिए ५-७ दिन रात को भी काम करना होगा। ऊपर के आले में लाल गत्ते की बही पड़ी है, वह उतार दो। बहू ने उतार कर बही देवीदास को सौंप दी। तब कुँवर ने तालाब का रास्ता लिया। राजा के लोग तो उत्सुकता पूर्वक बाट देख ही रहे थे। अब कुँवर पधार रहे हैं। सब लोग दरवाजे के पास आकर खड़े हो गये। बेणीदास तथा चन्दरण, दोनों ने सामने आकर मुजरा किया। 'खमा खमा' होने लगी। इतने में सुजाण नायक ने दैपालदे को लाकर पैरों लगाया। कुँवर सुजांण से भुजा पसार कर मिला। बड़ी बातचीत हुई। जब कुँवर भीतर गया तो महाराज दिखलाई पड़े। वहीं से कुँवर तसलीम करता हुआ आगे बढ़ा तो राजा सामने आये। कुँवर ने महाराज के चरणों में सिर रखा। राजा ने हाथ से उठा कर कुँवर को छाती से लगा लिया। महाराज तथा कुँवर, दोनों में से कोई भी गद्‌गद्-कंठ होने के कारण बोल नहीं सका किन्तु दोनों के हृदय करुणा से पसीज गये।

राजा ने अपने हाथ से कुँवर को गद्दी के पास बिठलाया और मुँह के ऊपर रूमाल फेरा। रूमाल से आँखें पोंछ, वेणीदास से मोहरें लाने के लिए कहा। तब वेणीदास ने शीघ्र ही मोहरें हाजिर की। राजा ने रूमाल लेकर कुँवर पर न्यौछावर किया। सुजाँण नायक ने सिरपेच कुँवरजी के सिर पर बाँधा। न्यौछावर के रूप में रुपयों तथा मोहरों का ढेर लग गया। इसके बाद माता और पुत्र का मिलन हुआ जिससे दोनों का हृदय भर आया। इसके बाद कुँवर अन्तःपुर में गया। सेवकों ने आकर मुजरा किया। राग-रंग हुआ और कुँवर ने वहीं रात बिताई। प्रातःकाल होने पर कुँवर अपने घर आ गया और शौचादि से निवृत्त हुआ।

हरमाला ने एक वट के वृक्ष पर से यह सब तमाशा देखा और उसने कुँवर की बहू से सब हकीकत कह सुनाई। बहू ने कहा—मैं यह बात नहीं मान सकती, स्त्री तो दूसरी हो सकती है, माँ-बाप दूसरे कहाँ से होंगे ? कभी आगे भी ऐसी अनहोनी बात सुनी थी ?

हरमाला ने कहा—यदि आप नहीं मानतीं तो स्वयं इसकी परीक्षा कर देखें। उत्तर की तरफ एक बडा वट-वृक्ष है, उस पर चढ़ कर आप स्वयं इस बात का पता लगा लें।

देवीदास सायंकाल के समय घर आया तथा भोजन कर अपने महल में गया। घड़ी-पलक बातचीत कर, बही उठाकर वह रवाना हो गया। पीछे से बहू भी गहना-कपड़ा उतार कर, सारे वस्त्र पहन रवाना हो गई। सदा की भाँति लोगों ने सामने आकर कुँवर का मुजरा किया और अन्दर ले गये। बहू ने वट-वृक्ष के ऊपर से सब बातें सुनी और तमाशा देखा। फिर कुँवर ड्योढ़ी भीतर गया, रानी ने सामने आकर मुजरा किया।

रानी के हाथ पर हाथ रखकर कुँवर अन्दर गया। फिर जब राग-रंग के बाद कुँवर सो गया तो बहू भी अपने घर चली गई। वह महल में जाकर पलंग पर लेटी किन्तु उसे तनिक भी नींद नहीं आई।

प्रातःकाल होने पर बहू अपने कामकाज में लगी, उधर देवीदास भी प्रातःकाल घर आ कर अपने काम-काज में लग गया था। बहू ने अपनी सास से सब हकीकत कही। सास ने साह से कहा—पिछले ६ दिनों से देवीदास रात को अन्यत्र जाता है। फिर बहू द्वारा देखी हुई सारी घटना कह सुनाई। इस पर साह ने कहा कि आज जाकर मैं स्वयं सब देख कर आऊँगा, तब तक बहू यह भेद किसी से प्रकट न करे। उधर देवीदास भी बड़े संकट में था। उसने ठाकुरद्वारे जाकर भगवान् से प्रार्थना की—

हो तुम दीनानाथ, हो अनाथ कब को रटूँ ।
गहियौ मेरो हाथ, हाथी वाले हाथ सूँ ।।

तत्पश्चात् भोजन कर देवीदास दूकान पर गया और बही-खाते के हिसाब-किताब में लग गया। उसका पिता भी उस पर विशेष दृष्टि रखने लगा। रात को जब कुँवर बही लेकर सदा की तरह तालाब की ओर रवाना हुआ तो साह भी उसके पीछे लग गया। सदा की भाँति कुँवर का स्वागत-सत्कार कर लोग उसे भीतर ले गये। उधर साह वट-वृक्ष पर चढ़ कर तमाशा देखने लगा। कुँवर ने राजा का मुजरा किया और सब मुजरा करके यथास्थान बैठ गये। इतने में सुजांण नायक ने आकर मुजरा किया। तब कुँवर ने हाथ पकड़ कर उसे अपने पास बिठलाया। तब सुजांण नायक ने अर्ज की—कुँवरजी, महाराज अब ताकीद कर रहे हैं, अतः आप घर पधारें, पीछे से सब काम चौपट हुआ जा रहा है। इतने में राजा ने फरमाया—बेटा, यहाँ क्या काम धरा है ? सब लोग उतावली कर रहे हैं। सुजांण नायक की बालद पड़ी है, व्यर्थ खर्च लग रहा है, आखिर तो वह व्यापारी है, माल खराब हो रहा है। इसलिए प्रातःकाल भोजन करके हम लोगों को यहाँ से रवाना हो जाना चाहिए।

यह सुन कर कुँवर ने कहा—हाँ, महाराज, जल्दी ही चलेंगे। इतने में माँ का बुलावा आ गया। उसने भी कुँवर से वही बात दोहराई। इसके बाद वह ड्योढ़ी में गया। वहाँ भी कुँवर से प्रातःकाल ही रवाना होने की ताकीद की गई। अजैपाल वट-वृक्ष पर बैठा सब सुन रहा था। उसने मन में विचार किया कि यदि मेरा पुत्र आज प्रातःकाल सकुशल घर लौट आता है तो मैं उसे फिर किसी भी हालत में बाहर नहीं निकलने दूँगा। उसने सब देवी-देवताओं को मनाया और इच्छा की कि परमेश्वर मेरे पुत्र को प्रातःकाल सकुशल घर पहुँचा दे। इसके बाद साह अपने घर चला गया किन्तु उसे जरा भी नींद नहीं आई।

प्रातःकाल होने पर देवीदास घर आ गया। जंगल जाते समय साह भी उसके साथ गया। ठाकुरद्वारे भी दर्शन के समय वह कुँवर के साथ ही रहा।

देवीदास ने सहस्र नाम का पाठ किया। फिर घर पर आकर भोजन किया। तत्पश्चात् दूकान पर गया। साह ने कुँवर को अन्दर बिठलाया और दूकान के दरवाजे पर बैठ कर 'जमा-खर्च' करने लगा।

उधर बाग में बैठे राजा ने कहा—कुँवर तो आ ही रहा है, चलो, हम लोग चल कर कुँवर को ले आएँ। तब राजा कनकरथ घोड़े पर सवार हुआ और २० आदमियों तथा वेणीदास एवं चन्दण चौपदार को साथ ले लिया। जब साह की दूकान पर पहुँचे तो राजा ने कुँवर को सामने देखा और कहा—पुत्र, घर चलो। सब लोग कूच के लिए तैयार हैं। इतना सुनते ही अजैपाल बोल उठा—अरे, तू पिता

किस का ? किस को 'पुत्र' कह सम्बोधित कर रहा है ? तब राजा ने कहा—साहजी पराया लड़का आपके पास नहीं रह सकता । चार दिन रुष्ट होकर हमारे यहाँ मे आपके पास आ गया तो कोई बड़ा अपराध नहीं कर डाला । आप भलेमानस हैं तो चार दिन आप के यहाँ रह गया । आपने रख लिया तो अच्छा ही किया । अब सगे माँ-बाप उसे क्यों कर छोड़ देंगे ? आप अधिक से अधिक तो खाने-पीने का खर्च ले लें किन्तु लड़का तो इस तरह नहीं दिया जा सकता । तब साह ने कहा—यह तो यहीं जन्मा हुआ है । इसकी दाई तथा धाय मौजूद हैं । हमारे कुटुम्ब के सब इसे जानते-पहचानते हैं । सगाई करके हम लोगों ने इस का विवाह किया है जिसे संसार जानता है । छोटे से हमने बड़ा किया है । इस पर राजा ने कहा—हमारे यहाँ पर भी ये सब बातें हो चुकी हैं । इसकी धाय वडारण, खिलाने वाली लड़की तथा सब चाकर मौजूद हैं । साहजी, आप जोर न चलाएँ । पराया लड़का आपका लड़का होकर कैसे रहेगा ? इस पर साह चीख उठा—अरे, लोगो, देखो तो सही, जबरदस्ती मुझसे अपना लड़का छीना जा रहा है । देखो राज राज ही है, मेरे लड़के का मालिक बन बैठा ।

तब बाजार के लोग इकट्ठे हो गये । कोतवाल भी आकर खड़ा हो गया । लोगों ने राजा से कहा—यह लड़का तो हमारे देखते-देखते बड़ा हुआ है । हम इसे भली भाँति जानते हैं । आप इस पर क्यों मन चलाते हैं ? राजाने कहा—तुम लोग क्यों नहीं जानो, तुम्हारा शहर जो ठहरा । हमारे शहर चलो, तुम लोगों को पता चल जायगा कि छत्तीसों जाति के लोग इसे पहचानते हैं अथवा नहीं । हमारे ही हाथों यह बड़ा हुआ है । और फिर इस कुँवर से ही क्यों नहीं पूछ लेते ?सचाई का पता चल जायगा । तब कोतवाल ने पूछा—हे युवक, यह राजा क्या कह रहा है ? तब कुँवर ने कहा—लड़का तो इन्हीं का हूँ । सुनते ही साह बोल उठा—अरे कपूत, यह क्या कह रहा है ? किस का लड़का है तू ? तब देवीदास ने कहा—आपका लड़का हूँ । तब कोतवाल ने कहा—हे मोटियार, तू इस प्रकार विचलित-सा क्यों बोल रहा है ? भंग पी रखी है अथवा पागल हो गया है ? तब देवीदास ने कहा—न तो मैं बावला हुआ हूँ और न ही मैंने भंग पी रखी है । सच तो यह है, दोनों ही मेरे पिता हैं । इस पर कोतवाल हँसा कि यह बड़ा तमाशा है । इसकी जाँच-पड़ताल हमसे नहीं हो सकेगी इसका फैसला राजा ही कर सकेंगे ।

तब साह तथा कनकरथ तीनों ही राजा के यहाँ चले । दरबारियों ने खबर दी कि साह अजैपाल तथा एक राजपूत झगड़ते हुए ड्योढ़ी पर आए हुए हैं । राजा को जब पता चला कि राजपूत बन्धुगढ़ का राजा कनकरथ है तो वह उससे मिलने के लिए आगे बढ़ा । कनकरथ भी घोड़े से उतर कर पाटण के अहदभाण सोलंकी से मिला ।

पाटण के राजा ने हाथ पकड़ कर कनकरथ को अपने पास गद्दी पर बिठलाना चाहा किन्तु कनकरथ ने कहा—मै तो सिंहासन पर आपके पास तभी बैठ सकता हूं जब मेरे झगड़े का फैसला हो जाय। तब ब्रहदभाण ने कुँवर से पूछा—तुम किसके पुत्र हो ? तब कुँवर ने कहा—ये दोनों ही मेरे पिता हैं, इसमें तनिक भी झूठ नहीं। राजा बड़ असमंजस में पड़ा। अन्त में उसने देवीदास से ही कहा—तुम्हें सब बातों की जानकारी है, तुम्हें अपने कुल की आन है, तुम्हें श्री लक्ष्मीनारायणजी की आन है। जो तुम जानते हो, सब सच-सच बताओ। तब देवीदास ने कहा—यदि इस समय मैंने भेद प्रकट कर दिया तो मेरा शरीरान्त हो जायगा। इससे राजा कनकरथ तथा साह, दोनों दुखी होंगे। यह सुन कर पाटण के राजा ने कहा—यदि तुम्हारी देह छूटेगी तो मैं भी तुम्हारे पीछे अपने प्राण त्याग दूँगा। इस पर राजा के पक्ष वाले ५०० व्यक्तियों ने प्राण-त्याग का संकल्प कर लिया।

इधर भगवान ने लक्ष्मीजी से फरमाया—अब 'पलक दरियाव' के तमाशे का निपटारा हो रहा है। इस पर लक्ष्मीजी ने अर्ज की—यह सब तमाशा आपका ही किया हुआ है किन्तु एक बड़े आश्चर्य की बात हो रही है। ५०० आदमी आपके निमित्त अपने प्राणों का त्याग कर रहे हैं। यदि आपने भक्तों की रक्षा नहीं की तो आपका विरुद 'भक्तवत्सल' लज्जित होगा। आप यह भी कहा करते हैं कि सत्य मुझे प्रिय है और यहां दोनों सत्य बोलने वाले झगड रहे हैं। सत्य पर दोनों ही अपने प्राणों की आहुति दे देंगे। फिर आपको सत्य प्यारा कहाँ रहा ?

तब देवीदास ने अपने देह का संकल्प किया। श्री ठाकुरजी के चन्दन लगाया, तुलसी-दल मस्तक पर रखा, चरणामृत लिया और 'पलक दरियाव' की बात कह सुनाई और कहा—अब भगवान् की जैसी मर्जी हो, वही हो। इतने में श्रीठाकुरजी की आवाज हुई और देवीदास पर सुदर्शन चक्र गिरा जिससे उसके दो शरीर हो गये। दोनों एक जैसे दिखाई दिये। यह अद्भुत तमाशा देखकर पाटण के राजा ने भगवान् का जय-जयकार किया। देवीदास के दोनों शरीरों में से एक शरीर कनकरथ को सौंप दिया और दूसरा शरीर अजैपाल को सम्हला दिया। दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए।

राजा ब्रहदभांण ने कनकरथ से कहा—मैं अपनी लड़की का कुँवर से विवाह करके आपको विदा दूँगा। बड़ी धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ। इसके बाद राजा कनकरथ बड़े ठाटबाट के साथ बन्धुगढ़ के लिए रवाना हुआ। बन्धुगढ़ पहुँचने पर स्त्रियों ने घर-घर बधावे और मांगलिक गीत गाये। हाथियों पर से मुहरों की मुट्ठियाँ भर-भर कर उछाली गई। बड़े हर्ष से महाराज कनकरथ ने कुँवर-सहित महलों में प्रवेश किया।

उधर साह अजैपाल ने भी घर आकर बहुत कुछ दान–पुण्य किया और खैरात बाँटी ।

इस प्रकार भगवान ने राजा कनकरथ, साह अजैपाल, विचित्र कुँवर और देवीदास की सहायता की । इसी प्रकार भगवान अपने सब भक्तों के लिए तथा समस्त संसार के लिए कल्याणकारी सिद्ध हों ।

(ख) निरूपण

उक्त कथा में निम्नलिखित घटनाएँ प्रयुक्त हुई हैं :—

१. मंदिर के किवाड़ बन्द होने पर भी देवीदास का दर्शन के लिए जाना और भगवान से 'पलक दरियाव' का तमाशा दिखलाने की प्रार्थना करना ।
२. देवीदास के जीव का निकल जाना और बन्धुगढ़ के राजा कनकरथ की पटरानी के गर्भ का रहना ।
३. कनकरथ की रानी द्वारा पुत्र को जन्म देना जिसका नाम रखा गया विचित्र-कुँवर; वयस्क होने पर कुँवर का विवाह और चार वर्ष बाद कुँवर के पुत्र होना जिसका नाम रखा गया 'दैपालदे' ।
४. विचित्र कुँवर द्वारा विवाह के दहेज में हरदान 'ओलंगिया' को माँग लेना; हरदान द्वारा अपनी कंठी कुँवर को सम्हला देना; कुँवर द्वारा पलंग के 'पगांतिये' वाले 'आले' में कंठी का रखा जाना ।
५. सवालखी बनजारे के पुत्र सुजांण द्वारा अपनी ४ लाख की डिबिया कुँवर के पास धरोहर के रूप में रखना; कुँवर द्वारा कंठी के पास ही उसी आले में डिबिया का रखा जाना ।
६. कई वर्षों बाद तालाब के किनारे एक गोठ का आयोजन; कुँवर का जल में डुबकी लगाना; बहुत तलाश के बाद कुँवर की लाश का जल के ऊपर आना; सबका शोक–विह्वल होना तथा दाह-संस्कार; देपालदे के पगड़ी का बाँधा जाना ।
७. कुँवर के जीव का देवीदास के शरीर में प्रविष्ट होना; देवीदास का घर पहुँचना और पूर्ववत् अपने पिता साह अजैपाल के यहां दूकान के काम में लग जाना ।

८. हरदान तथा रामदान का साधु बन कर तीर्थ-यात्रा के लिए निकलना; संयोग से अजैपाल की दूकान पर कुँवर का दर्शन करना; नोहरे में छिप कर कुँवर की हरदान तथा रामदीन से बातचीत; आले में रखी हुई वस्तुओं को लौटाने के लिए कुँवर द्वारा निर्देशों का दिया जाना।

९. हरदान-रामदान का वन्धुगढ़ पहुँचना और कुँवर के जीवित रहने का समाचार देना।

१०. परस्पर परामर्श के बाद कनकरथ आदि का पाटण के लिए रवाना होना; कुँवर का छिप कर अपने पिता आदि से मिलना; कुँवर की स्त्री तथा उसके पिता अजैपाल द्वारा भेद का पता लगाना; दोनों पिताओं का पुत्र के लिए वाक्-संघर्ष; राजा के पास न्याय के लिए पहुँचना।

११. कुँवर द्वारा भेद प्रकट किया जाना; भगवान के सुदर्शन चक्र द्वारा देवीदास का दो शरीरों के रूप में परिवर्तित हो जाना—एक शरीर कनकरथ को सौंप दिया गया और दूसरा अजैपाल को। दोनों पिताओं का अपने-अपने पुत्र को प्राप्त कर हर्षित होना। पाटण के राजा की लड़की से कुँवर का विवाह–फिर ठाटवाट के साथ कनकरथ का वन्धुगढ़ पहुँचना—उधर अजैपाल का घर आकर दान-पुण्य करना और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना।

उक्त घटना-चक्र से स्पष्ट है कि इस कथा के प्रारम्भ, मध्य और अन्त अद्‌भुत हैं। देवीदास के जीव के निकलने और राजा कनकरथ की पटरानी के गर्भ रहने से ही कथा का वास्तविक प्रारम्भ होता है। देवीदास विचित्र कुँवर के रूप में अपना सारा जीवन, अपनी इहलीला समाप्त कर कुछ ही क्षणों में साह अजैपाल के पास आ जाता है। यथार्थ जगत् में काल के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ असम्भव है किन्तु श्री लक्ष्मीनाथजी की कृपा से यह सब सम्भव हो गया। इसलिए 'पलक दरियाव री बात' के मूल अभिप्राय को 'असम्भव' नाम न देकर 'अद्‌भुत' नाम दिया गया है। कला में कभी-कभी 'सम्भव' भी 'असम्भाव्य' बन जाता है और कभी-कभी 'असम्भव' भी सम्भाव्य। कलाकार 'असम्भाव्य' सम्भव की अपेक्षा 'सम्भाव्य असम्भव' को पसन्द करता है।‡

‡ It (Poetry) prefers impossible probabilities to improbable possibilities. But how can what is impossible be probable ? Probable, plausible, or harmonious, by certain approximate laws of spirit, value and desire, we might say, rather than by rules of physical science and measurement. Or, by certain internal laws set up by a work of art for itself, rather than by laws of scientific exernal reference. (Literary critisism: A short history) by William Wimsatt, Jr. & Cleanth Brooks. pp. 25-26.

किन्तु प्रश्न यह है कि जो असम्भव है, वह सम्भाव्य का रूप किस प्रकार ग्रहण कर सकता है ? निश्चय ही भौतिक विज्ञान के वाह्य नियमों द्वारा असम्भव सम्भाव्य नहीं बन सकता किन्तु कला में असम्भव उसी प्रकार संभाव्य बन जाता है जिस प्रकार उक्त वार्ता में काल की यथार्थ सीमाओं का अतिक्रमण कर असम्भव संभाव्य बन गया है।

क्या यह संभव है कि भगवान की पूजा के लिए आने-जाने में जितना समय देवीदास को लगता है, उतने ही समय में विचित्र कुँवर के रूप में वह जन्म से मरण तक सम्पूर्ण कार्य-व्यापार सम्पन्न कर सके ? अथवा क्या यह भी सम्भव है कि एक ही देवीदास उसी जन्म में देवीदास बना रहे और विचित्र कुँवर के रूप में भी जीवित रहे, जैसा कि वार्ता के अन्त में हुआ है ? भौतिक विज्ञान के वाह्य नियमों के अनुसार यह सर्वथा असम्भव है किन्तु कला के कुछ अपने नियम होते हैं जिनका अनुसरण कर 'असम्भव' भी सम्भाव्यता का रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार विवेचन करने पर स्पष्ट है कि यथार्थ जगत् की सम्भवता-असम्भवता तथा कला-जगत् की सम्भवता-असम्भवता में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस वार्ता में जिस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग हुआ है, उसे 'असम्भव' का नाम न देकर 'अद्भुत' का नाम दिया जाना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

कथानक-रूढ़ि के इस प्रसंग में इस कथा में 'परकाय-प्रवेश' नामक एक अन्य रूढ़ि पर भी हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। प्रारम्भ में देवीदास का जीव कनकरथ की रानी के गर्भ में प्रवेश करता है और कालान्तर में तालाब में डुबकी लगाने पर विचित्र कुँवर अपना चोला छोड़ कर देवीदास का रूप धारण कर लेता है।

श्री शंकराचार्य द्वारा सुधन्वा के मृत शरीर में प्रवेश करने की कथा प्रसिद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने परकाय-प्रवेश से पहले अपने शिष्यों से कहा था—

"मेरे शरीर को तुम लोग यत्नपूर्वक सँभाल कर रखना। इस बात को गोपनीय रहने देना। मैं इस शरीर से अपना प्राण निकालूँगा और परकाय-प्रवेश कर काम-शास्त्र सिद्धि करूँगा। छह मास पश्चात् इस शरीर में पुनः वापस आऊँगा।"[1]

श्रीमद्भागवत में योगधारण से प्राप्त होने वाली जिन सिद्धियों का वर्णन भगवान ने उद्धव से किया है, उनमें से अणिमा आदि ८ सिद्धियाँ तो वे हैं जो पूर्ण रूप से भगवान में ही अथवा उनसे सारूप्य रखने वाले पुरुषों में मिलती हैं, १० सिद्धियाँ

---

१. द्रष्टव्य भारती (दिसंबर १९६१) में प्रकाशित 'परकाय प्रवेश विद्या: एक प्राचीन भारतीय अध्यात्म-विज्ञान' (ले. डा. कैलाशनाथ मिश्र) पृ० ८५

वे हैं जो सतोगुण के बढ़ने से प्राप्त होती हैं और त्रिकाल का ज्ञान आदि ५ सिद्धियाँ वे हैं जो 'क्षुद्र सिद्धियाँ' कही गई हैं। सतोगुण से प्राप्त होने वाली उक्त १० सिद्धियों में ही 'परकायप्रवेशन' की गणना की गई है।

अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥

(११/१५/६)

'परकायप्रवेश' की सिद्धि किस प्रकार होती है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक उद्धरणीय है:—

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिंडं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडंघ्रिवत्॥

(११/१५/२३)

अर्थात् पराई देह में प्रवेश करने के लिए सिद्ध को चाहिए कि वह उस शरीर में अपनी आत्मा का ध्यान करे। ऐसा करने से वह अपने स्थूल शरीर को छोड़ कर लिंग शरीर रूप उपाधि को साथ लेकर दूसरे शरीर में इस प्रकार प्रविष्ट हो जाता है जैसे भौंरा एक फूल से दूसरे पर जा बैठता है।

किन्तु विवेच्य पौराणिक वार्ता में देवीदास अथवा विचित्र कुँवर 'परकाय-प्रवेश-विद्या' के ज्ञाता के रूप में चित्रित नहीं हुए हैं। यहाँ परकाय-प्रवेश भी भगवान् की शक्ति के कारण अनायास घटित हो गया है। इसलिए उक्त रूढ़ि भी इस कथा-प्रसंग में 'अद्भुत' का अंग बन कर ही प्रयुक्त हुई है।

'पलक दरियाव री बात' में जहाँ कनकरथ और अजैपाल दोनों, देवीदास को अपना पुत्र बतलाते हैं, वहाँ पाठकों का औत्सुक्य चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

देवीदास यदि रहस्य का उद्घाटन कर देता है तो उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। यहाँ घटना तथा चरित्र का पारस्परिक द्वन्द्व देखते ही बनता है। लोक-कथाओं के वैज्ञानिक अध्येताओं ने 'रहस्योद्घाटन का संकट' नामक मूल अभि-प्राय का विवेचन किया है जो यहाँ स्मरणीय है। किन्तु लक्ष्मीजी की कृपा से यह संकट भी टल जाता है। अंत में सुदर्शन चक्र द्वारा जहाँ देवीदास के दो शरीर हो जाते हैं, वहाँ 'अद्भुत' विराट् का रूप धारण कर लेता है। कथाकार के शब्दों में—

"जितरे ऊपरां सूं श्रीठाकुरजी री अवाज हुई अर देवीदास ऊपर सुदरसण चक्र पड़ियौ सो दोय पिंड होय गया। दोनूं अेक सरीखा दीखै छै। ताहरां ब्रहदभांग इसौ तमासौ देखि नै श्रीभगवान निमित्त नमस्कार करि नै कहै—

तूं भगवन्त अनन्त गति निसतारण नित मेव ।
सम्पति गति सुभ सुख सुमति, दायक लायक देव ।।
भगवत तारी भीड़, करुणा करि कीधी कृपा ।
तक आया जो तीर, तिरिया तिके संसार तट ।।

अंत में उक्त कथा के संदर्भ में 'अद्भुत' नामक मूल अभिप्राय के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष उल्लेख्य हैं:—१. यह एक पौराणिक अभिप्राय है जो असंभव को संभाव्यता का जामा पहना कर 'अद्भुत' रूप धारण कर लेता है २. अभिप्राय की पौराणिकता के होते हुए भी, उक्त वार्ता में लोक-कथा के तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं ३. 'पलक दरियाव री बात' की चरम सीमा तथा उसकी परिणति अत्यन्त नाटकीयता लिये हुए है ४. 'अदभुत' अभिप्राय के अतिरिक्त जिन अन्य कथा-रूढ़ियों का प्रयोग इस कथा में हुआ है, वे सब 'अद्भुत' के अंगभूत हैं ५. संभवतः संपूर्ण राजस्थानी बात-साहित्य में इस प्रकार की अद्भुत तथा भव्य कथा विरल है ।

लोक-कथाओं के कूट वार्तालाप

●

: एक :

एक दिन एक आदमी किसी सेठ की दूकान पर उड़द खरीदने के लिए गया। सेठ दूकान पर नहीं था। उसका लड़का दूकान पर था। खरीदार ने पूछा, **स्याम वरण मुख ऊजल् केता** ? अर्थात् जिसका रंग तो काला है और मुख पर सफेद-सी लकीर है, उसका भाव क्या है ? लड़का समझ नहीं सका कि ग्राहक उड़द का भाव पूछ रहा है। उसने उत्तर दिया—मेरे पिता अभी आने वाले हैं, उनके आने पर आप जो चाहें, उनसे खरीद लें। जब पिता आया, तब ग्राहक ने वही प्रश्न दुहराया—

स्याम वरण मुख ऊजल् केता ?

उत्तर में सेठ ने कहा—

रावण सीश मंदोदरि जेता।

अर्थात् रावण और मंदोदरी के जितने सिर हैं, वही उड़द का भाव है। तात्पर्य यह है कि उड़द रुपये के ग्यारह सेर दूँगा।

ग्राहक ने इस पर कहा—

'हड़मान पिता कर लेऊंगो।'

अर्थात् हनूमान के पिता–पवन, उससे रलका कर, छाँट कर लूंगा। इस पर सुनते ही सेठ बोल उठा—"राम-पिता कर देऊँगा।' यदि तुम रलका कर लेना चाहोगे तो मैं रुपये के दस सेर ही दूँगा।

: दो :

एक घर में सास और बहू दोनों रहती थीं। लड़का परदेश रहता था। एक दिन वह लड़का आ गया। रात को बहुत देर तक मां-बेटे में बातचीत होती रही, अतः रात को सभी देर से सोए। जब प्रातः काल हो गया तो बहू चक्की पीसने के लिए उठ खड़ी हुईं। सास को अभी नींद सता रही थी, वह समझे बैठी थी कि अभी प्रातः काल हुआ ही नहीं है, अतः उसने बहू से कहा—

आज सवेली आवता,
साम कहे बहु बात
प्यारी प्रीतम छोड़ के,
क्यो आई अध रात ।।

बहू भी समझदार थी। उसने उत्तर में कहा—

भूमि डसण रिपु बोलियो
तव सुत फेरी पूठ ।
सागर सुत सीतल भये,
जब आई म्हैं ऊठ ।।

: तीन :

एक बहू बड़ी लजवंती थी । सास, ससुर तथा जेठ का नाम लेना तो दूर, वह उक्त शब्दों तक को मुँह पर न लाती थी। एक दिन वह पानी लाने गई थी । रास्ते में उसके जेठ मिल गये। अतः वह जहाँ थी, वहीं ठहर गई, आगे न बढ़ी । सास ने दो-तीन बार पूछा—बात क्या है, आगे क्यों नहीं बढ़ती ? अन्त में बहू ने सोच कर उत्तर दिया—

वैसाखां सूं वो लग्यो,
उण से लगे असाढ़ ।
गैले बीचे वै खड़ा,
किण विध जाऊँ सास ।।

अर्थात् जो वैशाख से आगे आते हैं और जिसके आगे लगता है आषाढ़, वे जब मार्ग में खड़े हैं तो हे सास ! मैं आगे कैसे बढ़ूँ ?

तात्पर्य यह है कि वैशाख से आगे जेठ का महीना लगता है और उसके आगे आता है आषाढ़। इस प्रकार 'जेठ शब्द' का प्रयोग किये बिना ही बहू ने अपना आशय प्रकट कर दिया ।

मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। वह अपनी बुद्धि के उत्कर्ष-प्रदर्शन-हेतु प्रयत्न करता रहता है । समाज में सभी मनुष्यों का बौद्धिक स्तर इकसार नहीं होता, इसलिए जिन मनुष्यों में बुद्धि की तीव्रता पाई जाती है, वे कूट प्रयासों द्वारा अपनी बुद्धि को और भी प्रखर बनाते हैं । इन कूटोक्तियों द्वारा समाज में ऐसे लोग विशिष्ट वर्ग में परिगणित किये जाने लगते हैं और उन्हें सयाने, चतुर आदि की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता है । कूट-रचना विषयक अपनी असामान्य बुद्धि के कारण ऐसे लोग आत्म गौरव का भी अनुभव करते हैं ।

———

लोक-कथाओं की अन्तरकथात्मक शैली

अनेक लोक-कथाओं में कथा के अन्दर कई उप-कथाएँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार की शैली को 'कथा-उपकथा-शैली' अथवा 'अन्तरकथात्मक शैली' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। उक्त शैली के निदर्शनार्थ यहाँ एक राजस्थानी लोक-कथा साभार उद्धृत की जा रही है, जिसका राजस्थानी रूपान्तर हमें श्री अगरचन्दजी नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

एक राजा ने चार राजपूत अपने शयनागार के पहरे पर रख छोड़े थे। ये चारों परस्पर निकट सम्बन्धी थे। बाहर के महल में राजा का पलंग था और अन्दर के महल में रानी का। रानी छोटे राजकुँवर के साथ पलंग पर पोढ़ी हुई थी। न जाने किस प्रकार एक सर्प रानी के पलंग के 'हिंगलाट' पर चढ़ कर नीचे उतर रहा था। उस रात सबसे पहले बड़ा भाई पहरे पर था। उसने खतरा देख कर तलवार से सर्प को काट डाला। खून की दो-चार बूँदें रानी के गले पर पड़ी देख कर राजपूत ने सोचा—"जो बालक रानी के पास सोया हुआ है, वह कदाचित् माँ का दूध पीने के लिए गले में मुँह लगा दे तो विषाक्त खून के प्रभाव से उसके मरण का अन्देशा है।" यह सोच कर उसने बड़ी सफाई से एक रूमाल लेकर रानी के गले में लगी हुई खून की उन बूँदों को पोंछ डाला। इतने में राजा की भी नींद खुल गई। उसने राजपूत को रानी के पास देख कर मन में विचार किया, "जिस राजपूत का मैं इतना विश्वास करता हूँ, उसकी यह हालत ! खैर, राजपूत का जो भी हो, रानी का मन किस तरह डिगा ? किन्तु स्त्रियों का क्या भरोसा ?"

त्रिया चरित जाणे नहँ कोय,
माणस मार सती फिर होय।
तरिया कदियन आपणी, खांधे लियां फिरंत,
जो कुल राखे आपणो, आपो आप रहंत ।।

पहरेदार जब राजा के पास आया तो राजा सोने का बहाना बना कर सोया रहा।

जब पहला पहरा पलटा और दूसरा राजपूत पहरे पर आया तो राजा ने पूछा, "पहरे पर कौन है ?"

उत्तर मिला, "ताबेदार हाजिर है।"

राजा ने कहा, "यदि मैं तुम्हें कोई काम करने के लिए कहूँ तो क्या तुम करोगे ?"

पहरेदार ने कहा, "आपके हुक्म का पालन करना मेरा धर्म है।" इस पर राजा ने कहा, "तुम चारों भाई मेरे यहाँ काम करते हो। तुममें से यदि कोई अपराध करे तो उसे दण्ड मिलना चाहिए अथवा नहीं ?"

राजपूत ने उत्तर दिया, महाराज !, अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिए।"

यह सुन कर राजा ने कहा, "तुम्हारे भाई ने अमुक प्रकार का अपराध किया है, इसलिए मेरा हुक्म है कि तुम उसका माथा उतार लाओ।"

राजपूत ने उत्तर दिया, "मैं अभी भाई का माथा उतार कर आपकी सेवा में हाजिर किये देता हूँ।"

यह कहकर पहरेदार वहाँ गया जहाँ उसका भाई गहरी नींद में सोया हुआ था। उसे गहरी नींद में सोया हुआ देख कर उसने मन में विचार किया, इस प्रकार का अपराध करके कोई भी गहरी नींद में नहीं सो सकता। फिर भी अपनी पूरी तसल्ली करने के लिए उसने भाई की छाती पर हाथ रखा। वह जानता था कि अगर वह नींद का बहाना करके सोया होगा तो उसकी छाती जोर जोर से धड़कती होगी। किन्तु वह तो दर असल निर्दोष था और निश्चिंत होकर गहरी नींद में सोया हुआ था मानो घोड़े बेच कर सोया हो।

अपने भाई को इस प्रकार सोया हुआ छोड़ कर ज्योंही पहरेदार राजा के पास पहुँचा, राजा ने पूछा, 'अपने भाई का मस्तक ले आये ?"

पहरेदार ने उत्तर दिया "महाराज, कसूर माफ हो। यदि आपका हुक्म हुआ तो मैं भाई का माथा तो ले ही आऊँगा किन्तु मेरे मन में विचार आया कि इस काम में हुजूर उसी तरह पछतायेंगे जिस प्रकार सेठानी को मार कर उसका पति पछताया था।"

इस पर राजा ने पूछा, "कहो, सेठ क्यों पछताया था ?" इस पर राजपूत कहानी कहने लगा जो इस कथा की प्रथम अन्तरकथा अथवा उपकथा है--

एक सेठ तथा सेठानी किसी शहर में रहते थे। ५० वर्ष की अवस्था तक उनके कोई सन्तान नहीं हुई। ५१ वें वर्ष में सेठानी को गर्भ रहा। सेठ ने पंडितों से सुन रखा था कि बालक जब गर्भ में हो, उस समय उस पानी को पास में लाकर रख लिया जाय जिसे सब जानवर पीते हों। यदि बच्चे के पैदा होते ही उसे उस पानी की घुट्टी दे दी जाय तो वह जानवरों की बोली समझने लगेगा।

नौ महीने बाद सेठानी ने एक लड़की को जन्म दिया। उक्त प्रकार का पानी सेठ के पास पहले से ही मौजूद था। लड़की को उस पानी की घुट्टी दे दी गई। परिणामस्वरूप लड़की जानवरों की बोली समझने लगी। जानवरों की बोली समझ, वह अपने घर वालों से चीजें माँग कर जानवरों को दे दिया करती थी। उसके पिता ने एक दिन अपनी लड़की से कहा, "यहाँ तो तुम्हें सब चीजें सुलभ हैं किन्तु जब तुम अपने ससुराल जाओगी तो तुम्हें जानवरों के लिए कौन चीजें ला-ला कर देगा ?

लड़की ने उत्तर दिया, "पिता के घर लड़की अपनी मनचाही करती है, ससुराल में मैं भी किसी से क्यों चीज माँगने लगी ?"

यथासमय लड़की का विवाह एक सुन्दर सुशिक्षित लड़के से कर दिया गया। दोनों बड़े प्रेम से अपना जीवन बसर करने लगे। सास–ससुर से छिप कर वह पक्षियों को दाना चुगाया करती थी। एक रात दोनों पति–पत्नी लेटे हुए थे। पुरुष को कुछ समय बाद नींद आगई और स्त्री अभी जग रही थी। वर्षा का मौसम था। पास में नदी बह रही थी। इतने में एक सियार ने बोलना शुरू किया, "अभी इस नदी में एक लाश बहती हुई आयेगी। उसकी दाहिनी जाँघ में एक बहुमूल्य रत्न है। जो सुन रहा हो, वह उसकी जांघ में से रत्न निकाल कर लाश को बाहर फेंक दे जिससे मैं अपनी भूख को शान्त कर सकूं। यदि कोई मेरी इस बात को सुनकर भी लाश बाहर नहीं निकालेगा तो उसे बड़ा पाप लगेगा।"

सियार ने यह बात कई बार दुहराई। स्त्री ने जब आखिरी बात सुनी तो वह पलंग से उठ कर मकान से बाहर निकली। स्त्री के पलंग से उठने के कारण पुरुष की भी नींद खुल गई। उसे शक हुआ और वह अपनी पत्नी के पीछे-पीछे चला। जब स्त्री नदी के किनारे पहुँची तो सियार आगे हो गया और सेठानी उसके पीछे-पीछे चली। सियार पानी के पास जाकर खड़ा हो गया। सेठ नदी के पास किसी पेड़ के पीछे छिप कर सब कुछ देखने लगा। थोड़ी देर में लाश बहती बहती आई। सेठानी ने लाश को बाहर निकाला, चाकू से जांघ फाड़ कर रत्न निकाल लिया और अपने घर की ओर चल पड़ी। सियार लाश से अपनी क्षुधा तृप्ति करने लगा।

सेठ यह सब देख कर चकित हो गया। उसने मन ही मन सोचा कि यह स्त्री नहीं, जादूगरनी और नर-भक्षिणी है। यह सोच कर वह पहले ही वहां से रवाना हो गया और पलंग पर आकर सो रहा। सेठानी भी लौट कर पलंग पर सो गई।

प्रभात होने पर सेठ के लड़के ने अपने माता–पिता से सब हाल कह सुनाया। उन्होंने सुनते ही कहा, "ऐसी स्त्री का क्या भरोसा? राजा से अर्ज करके इसे तो फांसी पर चढ़ा देना चाहिए।"

यह सोच कर वे राजा के पास गये। राजा ने उनकी बात मानली। सेठ की पुत्रवधू को फांसी के पास ले जाया गया। हजारों मनुष्य यह दृश्य देखने के लिए इकट्ठे हो गये। फाँसी पर एक कौआ बैठा हुआ कह रहा था—"इस फाँसी के नीचे धन के ७ चरू गड़े हुए हैं जहाँ एक सर्प पहरा दे रहा है। यदि फाँसी को उखाड़ कर खड्डे में सवा मन गरम तेल डाल दिया जाय तो सर्प की मृत्यु हो जाय। जो मेरी बात सुन रहा हो, वह उसके अनुसार आचरण करे तो उसे तो धन मिल जायगा और मुझे खाने के लिए सर्प उपलब्ध हो जायगा।"

कौए की बात सुन कर सेठानी बोली—

"कहो थे सो ठीक है, भई हमारे भाग
आगे जंबुक कह गयो (अब) कहा कहेगो काग।"

सेठानी के इस दोहे को सुनकर फाँसी देने वाले ने पूछा—"हे बहिन ! तुम्हारे इस दोहे का क्या मतलब है ?"

सेठानी ने जानवरों की बोली समझने, नदी से लाश बाहर कर रत्न निकालने, पति के शक होने, राजा के पास खबर करने तथा फाँसी के स्थान तक आने की सब बात, अथ से इति तक, कह सुनाई। इस पर फाँसी देने वाले ने कहा, "बहिन ! मुझे तुम जैसी निर्दोष स्त्री को फाँसी पर चढ़ाते हुए बडी दया आती है किन्तु मैं तो राजा का नौकर हूँ। यदि फाँसी का समय चुका दूँ तो तुम्हारे बदले मुझे फाँसी पर चढ़ना पड़े।"

यह कह कर उसने सेठानी को फाँसी पर चढ़ा दिया। बाद में फाँसी देने वाले ने सेठानी की बात लोगों से कही। राजा के कानों तक भी यह बात पहुँची। तब अपने दरबारियों की सलाह मान राजा ने फाँसी को उखड़वाया, खड्डे में सवा मन तेल डलवाया जिसके परिणामस्वरूप फूला हुआ मरा सर्प खड्डे के ऊपर आ गया, सर्प को बाहर फेंक दिया गया, उस जगह की खुदाई हुई और रत्नों से भरे हुए ७ चरू जमीन में से निकले। चरू राजा को नजर कर दिये गये और खजाने में जमा हो गये।

सेठ के घर वालों को जब इस घटना का पता लगा तो सेठानी के जेवर की पेटी सम्हाली गई। उसमें वह रत्न भी मिल गया। तब तो सभी घरवालों को बड़ा रंज और पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने ऐसी गुणवती वधू को फाँसी पर चढ़वा दिया किन्तु 'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।' सेठानी के पति को जितना पश्चात्ताप हुआ, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं थी। मुझे लगता है कि निर्दोष का माथा मंगवाने पर महाराज भी उसी तरह पछतायेंगे जिस तरह वह सेठ पछताया था।

यह बात पूरी हुई, इतने में पहरा भी बदल गया। अन्य भाई पहरे पर आ गया। राजा ने उससे कहा, "अभी जो पहरे पर था, उसका माथा उतार कर लाओ।'

उसने पूछा, "महाराज, उसका कसूर क्या है ?"

राजा ने उत्तर दिया, "तुम हुक्म की तामील करो, कसूर बाद में बतलाया जायगा।"

राजपूत वहाँ गया जहाँ पहले वाला पहरेदार सोया हुआ था किन्तु किसी निर्दोष व्यक्ति को मौत के घाट उतारने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। वह राजा के

पास जाकर बोला, "हुज़ूर, मैं यह कहने के लिए हाजिर हुआ हूँ कि किसी निर्दोष व्यक्ति की हत्या से आप उसी तरह पछतायेंगे जिस तरह एक बनजारा अपने स्वामिभक्त कुत्ते को मार कर पछताया था।"

यह सुनते ही राजा की उत्सुकता बढ़ी और उसने पहरेदार से पूछा कि बनजारा किस प्रकार से पछताया था ?

इस पर राजपूत पहरेदार ने निम्नलिखित कथा कही जिसे हम दूसरी उपकथा अथवा अन्तरकथा के रूप में ग्रहण कर सकते हैं—

एक बनजारा अपने साथ एक कुत्ते को लेकर किसी शहर में होकर निकला। कुत्ते के गुण सुन कर एक सेठ ने उसे लेने की इच्छा प्रकट की। बनजारे ने कहा, "हमेशा के लिए तो यह कुत्ता मैं तुम्हें नहीं दे सकता। तुम जितने रुपये मुझे दो, उतने रुपयों का काम इस कुत्ते से निकल जाय तब इसे वापस कर देना।" सेठ ने बनजारे को एक हजार रुपये देकर कुत्ते को अपने पास रख लिया।

थोड़े अरसेबाद एक रात को कुछ चोर सेठ के यहाँ चोरी करने के लिए आये। कुत्ता बहुतेरा भौंका किन्तु सेठ के परिवार का कोई भी व्यक्ति जगा नहीं। इस पर कुत्ता चोरों की दृष्टि से बच कर उनके पीछे-पीछे चला। चोरों ने जहाँ धन गाड़ा, उस स्थान को कुत्ते ने अच्छी तरह देख लिया।

प्रातःकाल होने पर सेठ ने हिसाब लगाया कि उसके यहाँ लगभग बीस-पचीस हजार की चोरी हो गई। सेठ इस बात पर बहुत बिगड़ा कि कुत्ता भौंका तक नहीं। बनजारा यों ही रुपये ठग कर ले गया।

थाने में चोरी की रिपोर्ट कर दी गई। थानेदार आदि तहकीकात करने के लिए सेठ की हवेली पहुँचे।

थानेदार जब पूछताछ कर रहा था तो कुत्ता बार-बार उसके पैरों में लोटने और एक तरफ दौड़ने लगा। इस पर एक बुड्ढे आदमी के कहने से सेठ वगैरह उस स्थान पर गये जहाँ कुत्ता उन्हें ले गया। कुत्ते ने जमीन खोदना शुरू किया तो वहाँ सेठ को अपना सारा धन ज्यों का त्यों मिल गया।

सेठ इससे बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने बनजारे के नाम निम्नलिखित आशय का एक पत्र लिख कर कुत्ते के गले में बाँध दिया—

कुत्ते ने बड़ी स्वामिभक्ति का परिचय दिया। हजारों रुपयों का माल इसकी सहायता से प्राप्त हो गया। ब्याज-समेत मेरे सब रुपये वसूल हो गये हैं। इस लिए कुत्ते को वचनबद्ध होने के कारण वापिस भेज रहा हूँ।'

तलाश करता करता कुत्ता बनजारे के पड़ाव के पास पहुँचा। बनजारे ने कुत्ते को आता हुआ देखा तो उसने मन में सोचा कि सेठ को धोखा देकर मेरे

वहाँ बिना वापिस गये ही कुत्ता भाग आया है। उसने मेरी बात पर बट्टा लगा दिया। इसलिए क्रोध में आकर उसने अपनी तलवार से कुत्ते को मार डाला। फिर जब उसने कुत्ते के गले में बँधा हुआ पत्र पढ़ा तो उसके पश्चात्ताप का ठिकाना न रहा। जान पड़ता है, हुज़ूर भी निर्दोष व्यक्ति की हत्या करवा देने पर उसी प्रकार पछतायेंगे।

बात पूरी हुई, इतने में पहरा बदल गया और दूसरा सरदार पहरे पर आ गया। राजा ने नये पहरेदार से कहा कि पहले पहरेदार ने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिए उसका माथा काट कर अभी हाजिर करो।

इस पर पहरेदार ने पूछा, "आपकी किस आज्ञा का उल्लंघन किया गया है ?"

राजा ने उत्तर दिया, "आज्ञा के उल्लंघन की बात बाद में बताऊँगा, पहले तुम मेरी आज्ञा का पालन करो।"

पहरेदार ने उत्तर दिया, "महाराज, यदि आप सोचे-विचारे बिना किसी की हत्या करवा देंगे तो उसी प्रकार पछतायेंगे जिस प्रकार एक तीतर को मार कर राजा पछताया था।"

राजा ने पूछा, "यह क्योंकर हुआ ? सब हाल विस्तारपूर्वक कहो।"

इस पर पहरेदार ने निम्नलिखित बात कही जो तीसरी अन्तरकथा या उप-कथा के रूप में मानी जा सकती है—

एक राजा के पास किसी ने आकर अर्ज की कि मेरे पास एक ऐसा तीतर है जिसको भोजन में जहर का पता लग जाता है। दरबारियों ने राजा से कहा कि महाराज के पास इस तरह का तीतर अवश्य रहना चाहिए। राजा ने मनमाँगा दाम देकर तीतर खरीद लिया। राजा जब भोजन करता तो तीतर पास रहता था। एक दिन राजा ने कुछ अधिक नशा कर लिया। राजा ने ज्योंही भोजन करना शुरू किया तो, तीतर एकदम उड़ा और कटोरे-कटोरियों में चोंच डालकर उनकी सामग्री बिखेर दी। दुबारा सामग्री मँगवाई गई किन्तु तीतर ने फिर भी वैसा ही किया। इस पर क्रुद्ध होकर राजा ने उसे जान से मार डाला। थोड़ी ही देर में कोई समझदार आदमी, जो तीतर के गुण जानता था, राजा के पास आया जहाँ तीतर मरा हुआ पड़ा था। तीसरी बार राजा के सामने थाल आ गया था किन्तु आदमी ने कहा कि पहले भोजन की जाँच हो जानी चाहिए, उसके बाद में महाराज थाल जीमें। उसी सामग्री में से कुत्ते को खिलाया गया जिसके परि-णामस्वरूप कुत्ता कुछ ही देर में मर गया। अब तो राजा तीतर के गुणों की याद

कर-करके पछताने लगा किन्तु अब क्या हो सकता था ? इसी प्रकार मुझे प्रतीत होता है कि निरपराध व्यक्ति का वध करवा देने पर आप भी उसी तरह पछतायेंगे।

इस प्रकार रात बीत गई और प्रातःकाल चारों भाई मिले। बड़े भाई ने सर्प को मारने का सब हाल अपने भाइयों को कह सुनाया। और ढाल के नीचे पड़े हुए सर्प को भी दिखला दिया। राजा को जब सच्ची बात का पता चला तो वह चारों भाइयों पर बड़ा प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुत कुछ इनाम-इकराम देकर सम्मानित किया।

कथा-उपकथा-शैली अथवा अन्तरकथा-पद्धति हमारे देश की चिराचरित शैली है। सभी पुराणों और उप-पुराणों में इस शैली के अनायास दर्शन किये जा सकते हैं। हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ पौराणिक महाकाव्य 'रामचरितमानस' भी उक्त शैली की विशेषताओं से भरपूर है। कथा सरित्सागर में उपकथा-शैली अपनी निजी विशेषताओं को लिये हुए है। 'वैताल पच्चीसी' की वार्ताएँ भी कथा-सरित्सागर में उपलब्ध होती हैं। इस प्रसंग में हम प्राकृत के सुप्रसिद्ध कथाग्रन्थ वसुदेव हिण्डी का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते जिसमें कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण का वृत्तान्त है। जैन धर्म के आगम बाह्य ग्रन्थों में यह कृति कथा-साहित्य में प्राचीनतम मानी जाती है। इस कृति में वसुदेव के भ्रमण की कथा के साथ अनेक अन्तर कथाएँ है जिनमें तीर्थंकरों तथा अन्य शलाका पुरुषों के जीवन चरित हैं। इसी प्रकार 'समराइच्च कहा' (समरादित्य कथा) में भी बीच-बीच में अनेक धार्मिक आख्यान गुंफित हैं जिनसे कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का पोषण होता है। इस कृति को पढ़ कर बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का स्मरण हो आता है।

'धुत्तक्खाण' (धूर्ताख्यान) में पांच धूर्त-शिरोमणि अपने-अपने अनुभव सुनाते हैं। इसी प्रकार कथाकोश प्रकरण में अनेक अवांतर कथाएँ उपलब्ध होती हैं।

पालि भाषा की जातक-कथाओं का उल्लेख भी इस संदर्भ में अप्रासांगिक न होगा।

जहाँ तक संस्कृत वार्ता साहित्य का प्रश्न है, उसका तो खास लक्षण ही यह है कि उसमें एक वृत्तान्त के अन्दर अनेक भिन्न-भिन्न वार्ताओं का समावेश मिलता है। 'मध्यकालनो साहित्य प्रवाह' के रचयिता के शब्दों में हम कह सकते हैं—

"संस्कृत वार्तामां मुख्य कथानां पात्रो होय छे ते एक बीजा ने ज्ञान आपवाने माटे अथवा तो पोतानी मान्यतानां समर्थन माटे वाराफरती जुदी जुदी वार्ताओ कही संभलावे छे। एक मुख्य वार्ता मां अनेक आड कथाओ आ रीते

आपेली होय छे, तेथी चीन ई पेटी ओना सटनी पेठे अेकनी अन्दर बीथी बीजी मां मीजी अेम वातनुं कोकडुं उकेलायांज करे छे। फारसी साहित्यनी (अरेबीयन नाइट्स) वार्ताओ मां आ संस्कृत पद्धति स्वीकारायली जोई शकाय छे।"

इस प्रकार की शैली के लिए पंचतन्त्र और हितोपदेश आदि का नाम आसानी से लिया जा सकता है। इसी प्रकार 'सिंहासन बत्तीसी' की कथाएँ भी अपनी विशिष्ट शैली के लिए चिर स्मरणीय रहेंगी।

ऊपर मैंने जो राजस्थानी लोक–कथा उद्धृत की है, उसकी शैली किसी अंश में 'शुक सप्तति' की कथाओं से मिलती हैं। शुक सप्तति की कथा इस प्रकार है कि एक स्त्री का पति परदेश गया हुआ था। इस बीच उस स्त्री की इच्छा परपुरुष का संग करने को हुई। उसने पति द्वारा पाले हुए तोते से सलाह ली। तोता बड़ा चतुर था। वह कहने लगा,—'तुम्हारा यह सोचना उचित ही है किन्तु विषम स्थिति उपस्थित होने पर यदि अमुक स्त्री की तरह बचाव करने की बुद्धि तुम में भी हो, तभी जाओ, अन्यथा नहीं।" यह सुन कर वह पूछने लगी—"अमुक स्त्री के सामने किस प्रकार संकट उपस्थित हुआ और किस प्रकार उसने अपना बचाव किया, यह कथा कहो।" तब तोता कथा कहने लगता है और विकट स्थिति की चर्चा करते करते उसी से पूछने लगता है, "तुम बताओ, उस स्त्री ने कैसे अपनी रक्षा की? स्त्री कहती है,—"मैं नहीं जानती, तुम्हीं बताओ।" इस पर शुक कहता है— "आज की रात तुम घर ही रहो, तब तो मैं तुम्हें बतला सकता हूँ, अन्यथा नहीं।" इस पर स्त्री कहती है—'न यास्यामि।' अर्थात् कहीं नहीं जाऊँगी, घर पर ही रहूँगी।" इस प्रकार सत्तर दिन निकल जाते हैं। इतने में पति परदेश से लौट आता और स्त्री अपने शील की रक्षा कर पाती है।

राजस्थानी लोक-कथा में पहरेदार जितने समय तक पहरे पर रहते हैं, अवान्तर कथाएँ चलती रहती हैं जिनसे किसी भी पहरेदार का वध नहीं हो पाता।

अन्य राजस्थानी लोक–कथाओं में भी बहुत-सी अवान्तर कथाएँ अथवा अन्तर कथाएँ मिलती हैं। 'चौबोली' नामक प्रसिद्ध राजस्थानी बात में चार अन्तर कथाएँ हैं। हर एक कथा का सम्बन्ध रात के एक–एक पहर से है।

राजस्थानी लोक–कथाओं में अन्तरकथाओं के विविध रूप उपलब्ध होते हैं जिनमें से किसी पर वैताल पच्चीसी की छाप है तो किसी पर सिंहासन बत्तीसी की। कुछ ऐसी अन्तरकथाएँ भी हैं जिनकी अपनी निजी रंगत है और जो कथा–शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

प्रस्तुत राजस्थानी लोक–कथा में जो अवान्तर अथवा अन्तरकथाएँ आई हैं, वे सब की सब बहु प्रचलित हैं किन्तु किसी–किसी अवान्तर–कथा के भी एका-

विक रूपान्तर प्राप्त होते हैं। विवेच्य-कथा में जो सेठानी की अवान्तर कथा आई है, उसमें सेठानी को फांसी पर चढ़ा दिया गया है किन्तु इसी कथा का जो स्वतन्त्र रूपान्तर मैंकालिस्टर ने प्रस्तुत किया था उसमें लड़की फांसी पर नहीं चढ़ाई जाती किन्तु श्वसुर को जब सच्ची स्थिति का पता चलता है तो साहूकार की बेटी का आदर-सत्कार और भी बढ़ जाता है। उसका पति भी प्रसन्न हो जाता है और उनका घर-बार बस जाता है।[1] इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से प्राप्त यह कथा सुखान्त रूप धारण कर लेती है। इससे स्पष्ट है कि लोक कथाकार अपने उद्देश्य के अनुरूप अवान्तर कथाओं को यथेष्ट रूप देता है।

राजस्थानी लोक-कथाओं की अन्तर कथा-शैली के विविध रूपों का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

---

1. Specimens of the Dialect spoken in the state of Jey Pore by Rev. G. Macalister, M. A., p p. 98-99 'साहूकार की बेटी' शीर्षक कहानी।

कथानक रूढ़ि और प्रतिपाद्य विषय

●

१. कथानक रूढ़ि की परिभाषा

कथानक में कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो अपने अप्रत्याशित गुण तथा सुखात्मक अथवा दुःखात्मक प्रभाव के कारण पाठक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, और ये घटनाएँ, चूंकि नाटकीय अथवा पकड़ने वाली होती हैं, पूरे ब्यौरे के साथ याद रहती हैं। कथानक के ये तंतु, जो इतने ध्यानाकर्षक होते हैं, मूल सम्बन्धों से अलग किए जा सकते हैं जिससे वे ऐसे ही दूसरे तंतुओं के साथ संबद्ध हो सकें। कथानक की इन रूढ़ घटनाओं को हम "मोटीफ" के नाम से अभिहित करते हैं।

२. कथानक रूढ़ि और सभ्यता

अत्यन्त प्राचीन लोगों के कथानकों की तुलना यदि हम अधिक सभ्य जाति के कथानकों से करें तो पता चलेगा कि प्राचीन जाति का कथानक सच्चा इतिहास-सा लगता है जहाँ कथानक रूढ़ियों के लिए अवकाश नहीं था। कुल-चिह्न अथवा टोटम पूजा के युग में बोलने वाले जानवर, जादूभरी घटनाएँ, आदमी का जानवर के रूप ने परिवर्तन, आदमी और जानवर का पारस्परिक संबन्ध, ये सब ऐसी ही साधारण अथवा सामान्य घटनाएँ थी जैसी शिकार अथवा युद्ध। किन्तु सभ्यता के अधिक विकसित होने पर वही व्यापार जो सामान्य घटना मात्र था, कथानक रूढि का रूप ले सका। सभ्यता की विकासावस्था में आदमी का जानवर बन जाना अथवा दूसरी तरह की जादूभरी घटनाएँ उन लोगों के लिए असाधारण घटनाएँ बन गईं।

३. आंशिक तथा शृंखलित अभिप्राय

एक लोक कथा में कुछ परियां पंखों के पर लगाए हुए किसी तालाब के किनारे नहाने के लिए आती हैं। (आंशिक अभिप्राय) कथानायक एक परी के पंख चुरा लेता है जिससे उसे वहीं ठहरने के लिए बाध्य होना पड़ता है। (दूसरा आंशिक अभिप्राय) जिससे अभिप्राय पूर्ण होता है। परी का कथानायक से विवाह हो जाता है और परी को अपने पंख वापिस मिल जाते हैं। वह उड़ती हुई अपने पति से

कहती है कि यदि तुम मुझसे प्रेम करते हो तो किसी दूर देश में मेरी खोज करना। (आंशिक अभिप्राय) नायक तलाश करके परी को प्राप्त कर लेता हैं। (आंशिक अभिप्राय जिससे संपूर्ण अभिप्राय की पूर्ति होती है।)

यहाँ पर परों का चुराना और पत्नी की पुनः प्राप्ति ये दो शृंखलित अभिप्राय हैं।

एक अन्य कथा में कथानायक छिप कर दो पक्षियों का वार्तालाप-सुनता है और उस जानकारी से फायदा उठाता है। कथानक की यह रूढ़ घटना 'उपश्रवण कथा रुढि' के नाम से प्रसिद्ध है। कभी कभी उक्त कथानक रूढ़ि के साथ साथ एक शृंखलित रूढ़ि का भी प्रयोग होता है जिसमें कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति उसी तरह अपने भाग्य को आजमाता है किन्तु पता लगने पर पक्षी या दैत्य उसका काम तमाम कर डालते हैं।

४. प्रतिपाद्य विषय की परिभाषा

कथानक रूढ़ि के संदर्भ में प्रतिपाद्य विषय अथवा 'थीम' पर भी विचार करना असंगत न होगा। प्रतिपाद्य विषय से तात्पर्य उस प्रमुख विचार से है जो किसी कथानक रूढ़ि अथवा कथानक रूढ़ियों के समूह द्वारा अभिव्यक्त होता है। उदाहरणार्थ उस मृतक व्यक्ति की कथा लीजिए जो कृतज्ञ था। कथानायक मृतात्मा के शव की रक्षा करता है जिससे उसका अपमान न हो। आगे चल कर कोई गुमनाम व्यक्ति कथानायक को विपत्तियों और कठिनाइयों से बचाता है जिससे उसे अपने कार्य में सफलता मिलती है। अन्त में यह अज्ञातनामा व्यक्ति रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहता है कि मैं ही वह मृतक व्यक्ति हूँ। इस कथा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि किसी भी अच्छे काम का शुभ फल अवश्य मिलता है। यही कथा का "थीम" कहलाता है।

५. कथानक रूढ़ि और प्रतिपाद्य विषय का तारतम्य

किन्तु ऐसी भी कथाएँ होती हैं जिनमें प्रतिपाद्य विषय होता ही नहीं। उदाहरण के लिए नाविक सिंदबाद के साहसिक कृत्यों की कथा लीजिए। इसमें किसी प्रकार प्रतिपाद्य विषय माना जा सकता है। साधारण कर्मचारी जीवन की विषमताओं की शिकायत करता रहता है किन्तु जब वह सिंदबाद की कथाओं को पढ़ता अथवा सुनता है तो उसे भी इस तथ्य की प्रतीति होने लगती है कि प्रचुर धन संपत्ति जोखम उठाने पर ही प्राप्त हो सकती है। सिंदबाद की कथा से जो यह शिक्षा मिलती है, वह साहित्यिक परिपाटी मात्र है। सिंदबाद की यात्राओं में जो साहसिक तत्व है, वही वस्तुतः कथा का प्राण है। कुछ कथाएँ ऐसी होती हैं जिनमें

प्रतिपाद्य विषय गौण होता है और कथा का रस मूल अभिप्रायों और उनके संयोजन में निहित रहता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कथा उल्लेख्य है :—

एक लड़का किसी दानव की चाकरी करने गया। उन दोनों में यह समझौता हुआ कि जिसका मिजाज पहले बिगड़ जाए, उसे ही पंगु होना पड़ेगा। लड़के ने अपने स्वामी की जायदाद को तहस-नहस कर डाला, उसके बच्चों और स्त्री को मौत के घाट उतार दिया जिसके परिणामस्वरूप दानव उससे रुष्ट हो गया, उसका मिजाज खराब हो गया और उसे पंगु होने का दंड भुगतना पड़ा। इस कथा का प्रतिपाद्य विषय है पाशविक शक्ति पर बुद्धि की विजय। यहाँ प्रतिपाद्य विषय प्रधान नहीं है, कथा का आनन्द मूल अभिप्रायों और उनके संयोजन में ही प्रकट होता है।

लोमड़ी और सारस की प्रसिद्ध कथा में प्रतिपाद्य विषय है ठगने वाला दूसरे को ठगने की कोशिश करता है किन्तु बदले में स्वयं ही ठगा जाता है। इसमें कथानक रूढ़ि और प्रतिपाद्य विषय ठीक समानान्तर चलते हैं।

६. निष्कर्ष

जिन तथ्यों पर हमने अभी विचार किया है, उनसे हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं।

१. कोई भी कथा पशु कथा (Fable) से जितनी मिलती जुलती होगी, उसमें प्रतिपाद्य विषय उतना ही प्रमुख होगा। पशु कथाओं में कथा द्वारा प्राप्त शिक्षा ही उसका प्रतिपाद्य विषय होता है।

२. कोई भी कथा ऐतिहासिक आख्यान के जितनी नज़दीक होगी, उसमें प्रतिपाद्य विषय उतना ही कम महत्वपूर्ण होगा।

३. बौद्ध और जैन धर्म की धार्मिक कथाएँ प्रारम्भ में तो मनोरंजक कथाएँ मात्र रही हैं किन्तु बाद में उनके धार्मिक उपयोग के लिए, उनसे प्राप्त शिक्षा की कल्पना कर ली गई। इस प्रकार मिलने वाली शिक्षा को इन कथाओं का प्रतिपाद्य विषय ठहराया गया किन्तु वस्तुतः कथाओं से संभाव्य यह शिक्षा आरोपित मात्र है और विशुद्ध लोक कथाओं से इसका कोई संबन्ध नहीं है।

७. प्रतिपाद्य विषयों का वर्गीकरण

विश्व की जितनी लोक कथाएँ हैं, उनके प्रतिपाद्य विषयों के निम्नलिखित वर्ग निर्धारित किए जा सकते हैं :

१. जीवन के अनुभव :

२. चित्त-प्रकृति।

३. चातुर्य
४. मूर्खता
५. ग़लती
६. भाग्य
७. परिणाम.

इनमें से प्रत्येक वर्ग को अनेक उपवर्गों में विभाजित करना होगा। उदाहरणार्थ "चित्त-प्रकृति" वर्ग के निम्नलिखित उपवर्ग निर्धारित किए जा सकते हैं :

१. अपने भाग्य से संतुष्ट व्यक्ति।
२. प्रत्येक वस्तु से असंतुष्ट व्यक्ति।
३. हठी मनुष्य।
४. संदेह योग्य व्यक्ति।
५. किसी भी बात को न मान कर अविश्वास करने वाला मनुष्य।
६. ईर्ष्यालु मनुष्य।
७. वह व्यक्ति जो दूसरों के काम में दखल देता रहता है।
८. आत्मोत्सर्ग करने वाला सच्चा मित्र।
९. अन्तः करण की पुकार को न सुनने वाला।
१०. कृतज्ञ व्यक्ति।
११. कृतघ्न मनुष्य।
१२. सच्चा आदमी।
१३. झूठा आदमी।
१४. बातूनी।
१५. परिश्रमी अथवा उद्योगी व्यक्ति।
१६. आलसी मनुष्य।
१७. मितव्ययी व्यक्ति।
१८. कृपण।
१९. अपव्ययी मनुष्य।
२०. पेटू।
२१. शराबी।
२२. उच्छृंखल तथा कामी।

प्रस्तुत लेख के लिखने का मुख्य उद्देश्य यह प्रतिपादित करना रहा है कि मोटीफ और थीम अथवा कथानक रूढ़ि और प्रतिपाद्य विषय, एक ही वस्तु नहीं

है। उक्त दोनों शब्दों के अर्थों में महदन्तर है–मोटीफ (अथवा कथानक रूढ़ि) तो कथा का रूढ़ तन्तु होता है, जब कि थीम अथवा प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध कथा के मूलभूत विचार से होता है। कभी कभी लोक कथाओं के विवेचक उक्त दोनों-शब्दों के अंतर पर पर्याप्त ध्यान नहीं देते किन्तु लोक-कथाओं के शास्त्रीय विश्लेषण के समय इन दोनों शब्दों के अंतर पर यदि दृष्टि रखी जाय तो भ्रांति अथवा विभ्रम के लिए अवकाश नहीं रहेगा।‡

‡ Arthur Christensen के फ्रेंच भाषा में लिखित Motif Et Theme नामक निबन्ध के आधार पर।

लोक-कथाओं का एक रूढ़ तन्तु, रहस्योद्घाटन में संकट

लोक-कथाओं में प्रायः देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी नागराज की कृपा से, शिव के वरदान से अथवा किसी मंत्र के प्रभाव से जानवरों की बोली समझने लगता है और जिस व्यक्ति को यह शक्ति प्राप्त होती है, वह उसका रहस्य यदि किसी को बतला देता है तो उसकी मृत्यु हो जाती है। वेरियर एलविन ने इस कथा-रूढ़ि को 'भेद को बनाये रखने की कठिनाई और उसके उद्घाटन में खतरा' के नाम से अभिहित किया है।

खरपुत्त जातक में राजा सेनक किसी नागराज से जानवरों की बोली समझने का मंत्र प्राप्त कर लेता है। महाकोशल की एक लोक-कथा में कोई गडरिया शिव के वरदान से जानवरों की बोली समझने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार सिंहल की एक लोक-कथा में एक राजा को चींटियों की बात सुन कर हँसी आ जाती है और उसकी स्त्री हंसी का कारण जानने का आग्रह करती है। राजा बड़ी दुविधा में पड़ जाता है। यदि वह रहस्य का उद्घाटन करदे तो उसकी जान को खतरा है इस विकट परिस्थिति के समय वह देखता है कि एक बंदरी भोजन के बाबत हंगामा मचाने लगती है, किन्तु जब बंदर उसे खूब पीटता है तो बंदरी की अकल ठिकाने आ जाती है। यह देख कर राजा भी अपनी स्त्री को खूब पीटता है, जिसके परिणाम स्वरूप स्त्री उसे फिर कभी परेशान नहीं करती।[1]

हमारे देश के महाकाव्यों में भी लोक-कथाओं के अनेक अभिप्रायों का प्रयोग हुआ है। वाल्मीकीय रामायण में भी रहस्योद्घाटन-सम्बन्धी उक्त अभिप्राय सुमन्त्र और कैकेयी के वार्तालाप में दृष्टिगोचर होता है। जब सुमन्त्र को कैकेयी के द्वारा माँगे हुए दो वरदानों का पता चला तो सुमन्त्र ने कैकेयी की बड़ी भर्त्सना की किन्तु जब कैकेयी टस-से-मस न हुई तो सुमन्त्र कहने लगे, 'हे कैकेयी, मैं समझता हूँ कि तुम्हारी माता का अपने कुल के अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है। लोक में कही जाने वाली यह कहावत सत्य है कि नीम से मधु नहीं टपकता।" इसके

1. Folk-tales of Mahakoshal (Verrier Elwin) pp. 291-293

पश्चात सुमन्त्र ने कैकेयी की माता के दुराग्रह की बात सुनाई, जो यहां संक्षेप में उद्धृत की जा रही है:—

"एक दिन किसी वर देने वाले साधु ने कैकेयी के पिता को एक श्रेष्ठ वर दिया, जिसके प्रभाव से केकय-नरेश समस्त प्राणियों की बोली समझने लगे। एक दिन वे अपनी शय्या पर लेटे हुए थे। उसी समय जृम्भ नामक पक्षी की आवाज उनके कानों में पड़ी। उसकी बोली का अभिप्राय समझते ही वे कई बार हँसे। उसी शय्या पर कैकेयी की मां भी सोयी हुई थी। उसने समझा कि राजा मेरी हँसी उड़ा रहे हैं। इसलिए क्रुद्ध होकर उसने अपने पति से पूछा, 'हे नरेश्वर, आपके हँसने का क्या कारण है, यह में जानना चाहती हूँ।"

यह सुन कर राजा ने उत्तर दिया, यदि मैं अपने हँसने का कारण बता दूं तो उसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है।'

नृपश्चोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि।

ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥

(अयोध्याकाण्ड सर्ग २५, श्लोक २२)

रानी ने उत्तर दिया, 'तुम जिओ या मरो, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मुझे कारण बतलाना होगा। तब भविष्य में तुम मेरी हँसी नहीं उड़ा सकोगे।"

यह सुनकर केकय नरेश उस साधु के पास गये, जिसने उन्हें वर दिया था। सारा हाल मालूम करने पर साधु ने राजा से कहा, "महाराज, रानी मरे या घर से निकल जाय, आप कदापि हँसी का भेद उसे न बताएं।"

प्रसन्न-चित्त वाले उस साधु का वचन सुन कर केकय-नरेश ने अपनी स्त्री को तुरन्त घरसे निकाल दिया और स्वयं कुबेर के समान विहार करने लगे।"

सुमन्त्र द्वारा सुनाई हुई जो कथा ऊपर उद्धृत की गई है, उसमें 'रहस्योद्घाटन में संकट' नामक कथा-रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। किन्तु उक्त कथा तथा सामान्यतः प्रचलित एतद्विषयक लोक-कथा में एक प्रमुख अन्तर यह है कि उक्त कथा में तो कथा-नायक केकय-नरेश वर देने वाले साधु के पास जाकर तथा उससे परामर्श लेकर किसी निर्णय पर पहुंचते हैं, किन्तु इस प्रकार की लोक-कथाओं में प्रायः देखा जाता है कि कथा-नायक किसी पशु-युगल अथवा पक्षि-युगल के पास्परिक वार्तालाप को सुन कर अपनी स्त्री को खूब पीटता है, जिससे भविष्य में वह इस प्रकार का कोई दुराग्रह नहीं करती।

लोक-कथाओं की एक सामान्य विशेषता यह होती है कि वे दुःखान्त न होकर सुखान्त होती हैं। इसलिए रहस्योद्घाटन विषयक कथाओं में एक संकट की स्थिति तो अवश्य आती है, जिसे कथा-शिल्प की दृष्टि से हम चरम सीमा (Climax) का

नाम दे सकते हैं किन्तु अन्त में नायक का यह संकट दूर हो जाता है और कथा सुख के रूप में पर्यवसित हो जाती है ।

वाल्मीकि-रामायण में सुमन्त्र ने उक्त कथा का उपयोग कैकेयी के दुराग्रह को सिद्ध करने के लिए किया है । सुमन्त्र के कहने का तात्पर्य यह था कि जिस प्रकार कैकेयी की माता ने अपने पति की मृत्यु की आशंका की भी परवाह न करते हुए अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ा था, उसी प्रकार कैकेयी ने भी अपने दुराग्रह की रक्षा करने में अपनी माता के स्वभाव का अनुसरण किया । सुमन्त्र ने इस प्रसंग में निम्नलिखित लोकोक्ति का आश्रय लिया था—

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा ।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ।।२८।।

अर्थात् आज मुझे यह लोकोक्ति सोलह आने सच मालूम होती है कि पुत्र पिता के समान होते हैं और कन्याएँ स्वभाव में माता के समान ।

केवल संस्कृत के महाकाव्यों में ही नहीं, चंद के पृथ्वीराज रासो, गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस तथा जायसी के पद्मावत आदि अनेक हिन्दी महाकाव्यों में भी लोक-कथाओं के रूढ़ तन्तुओं (Motifs) का स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है, जिनका अध्ययन तथा विश्लेषण अत्यन्त मनोरंजक एवं कथा-शिल्प की दृष्टि से उपादेय सिद्ध होगा ।

———

राजस्थानी लोक-कथाएँ

लोक-कथाओं की दृष्टि से राजस्थान अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ लिखित तथा कण्ठस्थ रूप में असंख्य लोक-कथाएँ उपलब्ध हैं। बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, उदयपुर, पिलानी आदि अनेक संग्रहालयों में सहस्रों लोक-कथाएँ संगृहीत हैं। मारवाड़, मेवाड़ तथा शेखावाटी की बोलियों के कथा-संग्रह समय-समय पर मेरे देखने में आये हैं। किन्तु ढूँढाड़ी की लिपिवद्ध कथाएँ मुझे नहीं मिल सकी हैं यद्यपि मैकालिस्टर की जयपुर रियासत-विषयक बोलियों की पुस्तक में अवश्य कई लोक-कथाएँ संकलित हैं। शेखावाटी बोली के लोक-कथा-संग्रह अभी प्रकाश में नहीं आए हैं।

राजस्थान-भारती, शोध-पत्रिका, वरदा, मरुवाणी आदि में अनेक लोक-कथाएँ प्रकाशित हुई हैं। मरु-भारती आदि के लोक-कथा विशेषांक भी समय-समय पर निकले हैं। राजस्थानी लोक-कथा-कोश के अन्तर्गत श्री गोविन्द अग्रवाल द्वारा लिपिवद्ध १,००० से ऊपर लोक-कथाएँ मरु-भारती में प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण राजस्थान में लोक-कथाओं का एक जाल-सा बिछा हुआ है। किन्तु मेरी दृष्टि में जब तक उक्त कथाओं का वर्गीकरण न किया जाय, तब तक उनके महत्व का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह है कि कौन-सी पद्धति पर लोक-कथाओं का वर्गीकरण हो? कुछ विद्वानों ने साधु-संत, भूत-प्रेत, साहसी-वीर, प्रेमी-प्रेमिका, विद्वान और दानवीर, मूर्ख और बुद्धिमान, नाग-लोक और नाग-कन्याएँ, वृद्धाएँ, इतिहास, शकुन, अंध विश्वास, व्रत, परियाँ, बालक आदि अनेक विषयों के आधार पर लोक-कथाओं का वर्गीकरण किया है। लोक-कथाओं की शैली को लेकर भी घटना-प्रधान, वर्णनात्मक, गद्यात्मक, गद्य-पद्यात्मक आदि अनेक वर्गों की प्रतिष्ठा की गई है। लीडर प्रेस से राजस्थानी लोक-कथाओं के जो दो भाग प्रकाशित हुए हैं, उनमें कोश के अकरादि-क्रम से कहानियाँ प्रस्तुत की गई हैं और अन्त में अकारादि-क्रम से ही कथा-शीर्षकों की एक प्रतीकानुक्रमणिका दे दी गई है जिससे प्रत्येक कथा को ढूँढ़ने में सुविधा हो सके। कोश

की दृष्टि से यह पद्धति भले ही उपयोगी हो, इस प्रणाली को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता ।

लोक-कथाओं का एक वर्गीकरण मोटीफ (Motif) अथवा कथानक-रूढ़ि को लेकर भी किया जाता है। इण्डियाना विश्वविद्यालय के स्टिथ टाम्पसन (Stith Thompson) नामक विद्वान ने Motif Index of Folk-Literature नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ ६ खण्डों में प्रकाशित किया था। इससे पूर्व Anti Aarne ने योरोप में प्रचलित ८०० कहानियों के मूल अभिप्रायों को लेकर वर्गीकरण किया था। जहाँ तक योरोप का सम्बन्ध है, उसका वर्गीकरण उचित ही था· क्योंकि वे ही अभिप्राय प्रायः योरोप की समस्त लोक-कथाओं में मिलते थे। किन्तु योरोप के बाहर इस वर्गीकरण की विशेष उपयोगिता न थी। दुनियाँ की लोक-कथाओं में समानता तो मिलती है किन्तु वह समानता सम्पूर्ण कथा की समानता न होकर रूढ़-तन्तुओं (Motifs) की समानता है। इसलिए एक–एक रूढ़–तन्तु को लेकर स्टिथ टाम्पसन ने जो वर्गीकरण किया है, वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। उक्त वर्गीकरण में लोक–कथा, लोक–गाथा, नीति–कथा, देवाख्यान आदि सभी का समावेश हुआ है। उक्त ग्रन्थ में "A" अध्याय के अन्तर्गत सृष्टि–रचना और उसके स्वरूप-सम्बन्धी अभिप्राय हैं—"B" के अन्तर्गत "जानवर" आ जाते हैं। अध्यायों में भी फिर आन्तरिक व्यवस्था मिलती है जैसे B O से B 99 तक दिव्य जानवर तथा B 200 से B 299 तक वे जानवर लिए गये हैं जिनमें मानवीय गुण मिलते हैं। मेरी दृष्टि में राजस्थानी लोक-कथाओं में मूल अभिप्राय का वर्गीकरण स्टिथ टाम्पसन की पद्धति पर किया जाना चाहिए। इस वर्गीकरण में डा० सत्येंद्र की कृतियों से भी सहायता ली जा सकती है। बहुत सम्भव है कि राजस्थानी-लोक-कथाओं के अनेक अभिप्राय तो स्टिथ टाम्पसन द्वारा प्रस्तुत विषय–तालिका के अन्तर्गत ही आ जाएँगे। वे "विविध अभिप्रायों" में समाविष्ट किये जा सकते हैं।

लोक-कथा वस्तुतः कथा कहने वाले और श्रोता दोनों की अपेक्षा रखती है। इसलिए उसे लिपिबद्ध करते समय बड़ी सतर्कता और सावधानी की आवश्यकता है। रूपायन संस्थान, बोरूँदा से "बातां री फुलवाड़ी" नाम से कदीमी लोक-कथाओं के कई भाग प्रकाशित हुए हैं, वे सब के सब श्री विजयदान देथा ने यद्यपि सुनकर लिखे हैं तथापि उन्होंने घटनारूप को कला और कल्पना का जामा पहनाया है। लोक-कथा को सुन कर उसे ज्यों का त्यों लिपिबद्ध किया जाए अथवा उसे कलात्मक रूप दिया जाए, इसमें मतभेद की गुँजाइश हो सकती है। पिलानी में जब लोक-कथाओं के संग्रह का कार्य शुरू किया गया तो मैंने इस बात पर जोर दिया था कि लोक-कथा को लिपिबद्ध करने वाला व्यक्ति कथा के अन्त में इस बात

का अवश्य उल्लेख करे कि उसने किस पुरुष अथवा स्त्री से सुन कर कथा को लेखन का रूप दिया। श्री देथा का कहना है कि "लोक-कथावां रो खजांनौ लुगायां कनै अखूट लाधै।" इस उक्ति के तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

राजस्थान में लोक-कथाओं की प्राचीन परम्परा उपलब्ध होती है। विद्वानों के मतानुसार राजस्थानी गद्य सं० १३३० का लिखा प्राप्त होता है किन्तु गद्य-कथाएँ सं० १४११ के पहले की लिखी नहीं मिलती। जैन धर्म के आगमादि प्राचीन ग्रन्थों की टीकाओं में टीकाकारों ने यथा-प्रसंग सैंकड़ों कथाएँ जोड़ दी हैं। राजस्थान में प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में अनेक कथा-कोश लिखे गये तथा स्वतन्त्र कथाओं की रचना की गई। राजस्थान में कथाओं की परम्परा अनवच्छिन्न बनी रही। १८वीं शती से बातों के बडे-बड़े संग्रह मिलने लगते हैं। आगे चल कर २०वीं शती में "राजस्थानी बातां", "चौबोली", परम्परा तथा मरुवाणी का राजस्थानी बात अंक, "वरदा" का "बातां री झूमको" तथा साहित्य-संस्थान, उदयपुर से बातों के कई भाग प्रकाशित हुए।

राजस्थान के संग्रहालयों में कितनी लोक-कथाएँ संगृहीत हैं, अभी इसका निश्चित उत्तर दे सकना सम्भव नहीं। इस प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि जिन्हें हम राजस्थान की लोक-कथाएँ मानकर चलते हैं, वे अन्य राज्यों में भी प्रचलित हों। लोक-कथाएँ सैलानी प्रकृति की होती हैं। वे एक राज्य से दूसरे राज्य अथवा एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की यात्रा करती रहती हैं।

राजस्थान के संग्रहालयों में लोक-कथाओं के जो संग्रह उपलब्ध हैं, उनमें अनेक कहानियां ऐसी होंगी जो सब संग्रहों में समान रूप से पाई जाती हों। इस प्रकार जब तक सब संग्रहालयों के विवरण-पत्र प्रकाशित न हो जाएँ, तब तक संगृहीत लोक-कथाओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। डा०मनोहर शर्मा, श्री गोविन्द अग्रवाल, रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री विजयदान देथा, श्री मोहनलाल पुरोहित आदि ने लोककथाओं के सम्बन्ध में अच्छा कार्य किया है। व्रत-कथाओं के विषय में पं० झाबरमल्लजी शर्मा, श्री उदयवीर शर्मा, श्री मोहनलाल पुरोहित, श्रीमती राजगढ़िया, श्री शिवसिंह चोयल आदि के नाम उल्लेख्य हैं। श्रीमती राजगढ़िया की एक व्रत-कथा विषयक पुस्तक भी छप चुकी है। इसी प्रकार श्री मोहनलाल पुरोहित की "राजस्थानी व्रत-कथाएँ" नामक पुस्तक सा० राज० रि० इन्स्टीट्यूट से छपी है।

राजस्थान लोक कथाओं के एक महासागर के समान है जहाँ विविध कथा-वार्ताओं के असंख्य नदी-नद अपनी अनुपम छटा प्रदर्शित करते हुए इस विशाल समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं। इसका अवगाहन करना तथा इससे महार्घ रत्नों का निकालना,

उनकी जाँच करना, उनकी विभिन्न कोटियाँ निर्धारित करना, उनके रूढ़ तन्तुओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करना आदि अत्यन्त दुष्कर व्यापार है किन्तु राजस्थान की बहु-रंगी सभ्यता और संस्कृति को प्रकाश में लाने के लिए संग्रहकर्त्ताओं तथा अनुसंधित्सुओं को यह कार्य अवश्य अपने हाथ में लेना चाहिए। आज भी राजस्थान में ऐसे वृद्ध लोग हैं जिन्हें बहुत-सी कथाएँ कण्ठस्थ हैं किन्तु उनके स्मृति-शेष हो जाने पर वे कथाएँ भी, सम्भव है, उनके साथ ही काल के गर्भ में विलीन हो जाएँ। यह हर्ष की बात है कि कुछ ध्येयनिष्ठ अध्यवसायी संग्रहकर्त्ता इस ओर प्रवृत्त हैं।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि राजस्थान में लोक-कथाओं सम्बन्धी विपुल सामग्री उपलब्ध है और यह भी सच है कि राजस्थान के विद्वानों ने इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय कार्य किया है। किन्तु जिस वैज्ञानिक पद्धति पर लोक-कथा विषयक कार्य अमरीका के इण्डियाना विश्वविद्यालय में हुआ अथवा ब्लूमफील्ड, नॉर्मन ब्राउन, रूथ नार्टन आदि ने जो कार्य किया है, अभी राजस्थान में यहाँ की लोक-कथाओं का वैसा वैज्ञानिक विश्लेषण, वर्गीकरण और निरूपण नहीं हो पाया है।

राजस्थान के आख्यान

[एक]

जोधपुर के महाराज मानसिंह का अपने सरदारों के साथ प्रायः विरोध रहा करता था। जैसे महाराज के पास चारणों का आना-जाना होता था, वैसे ही उनके सरदारों के पास भी। महाराज मानसिंह जब जालोर में थे तो केसर नामक एक कवि ने उनकी अच्छी सेवा की थी किन्तु महाराज की ओर से उसे कोई गाँव इनाम में नहीं मिल सका था। एक बार किसी विरोधी सरदार के यहाँ महाराज मानसिंह की दानशीलता के संबन्ध में चर्चा चली। उस समय वहाँ उपस्थित किसी चारण ने ताना मारते हुए कहा—

"केसरो हुतो मोटो कवि,
गाम गाम करतो मुओ।"

अर्थात् केसर बड़ा कवि था किन्तु बेचारा 'गाँव गाँव' करता ही मर गया। महाराज से गांव प्राप्त करने की हविस मन में लिये ही चल बसा।

महाराज मानसिंह के कानों तक जब यह चर्चा पहुँची तो उन्होंने केसर के पुत्र की तलाश करने के लिए आदमी भिजवाए। जब पुत्र का पता चल गया तो महाराज ने दरबार किया और केसर के पुत्र को दो गांव बख्श दिए। दो गांव देने का कारण बतलाते हुए महाराज ने कहा था कि मेरे विरोधी सरदार के चारण ने पद्य में 'गाम गाम' का प्रयोग किया था, इसलिए मैंने केसर के पुत्र को दो गांव दिये हैं।

[दो]

वि० सं० १८४४ में जब माधोजी सिंधिया ने जयपुर पर चढ़ाई की तो वहाँ के महाराजा प्रतापसिंह ने जोधपुर के महाराजा विजयसिंह से सहायता की प्रार्थना की। इस पर विजयसिंह ने सिंघवी भीमराज को सेना सहित वहाँ भेजा। राठौड़ों और कछवाहों की सम्मिलित सेना ने डी बोइने की अध्यक्षता में आई हुई सिंधिया की प्रशिक्षित सेना को हरा कर भगा दिया। इस संबन्ध में राठोड़ों के एक चारण ने कछवाहों को लक्ष्य करके कहा—

"ऊदलती आँबेर ने राखी राठोड़ां।"

ऊपर जिस लड़ाई का उल्लेख हुआ है, उसमें राठोड़ों के चारण द्वारा कछ-

वाहों पर व्यंग्य कसा गया था। कछवाहे ऐसे मौक़े की तलाश में थे जिसमें राठोड़ों का अपमान हो। पाटण की लड़ाई में ऐसा अवसर उपस्थित हो गया। इस लड़ाई में कछवाहे मरहठों से मिल गये और राठोड़ों को नीचा दिखाने के लिए वे युद्ध-क्षेत्र छोड़ गये। फिर भी रणबंके राठौड़ बड़ी वीरता से लड़े और डी बोइने की तोपों के मुंह तक जा पहुँचे, पर अन्त में पराजित होकर उन्हें भागना पड़ा। कछवाहों ने अपना बदला ले लिया और राठौड़ों को निम्नलिखित दोहा सुनना पड़ा—

"घोड़ा जोड़ा पागड़ी, मुठवालीर मरोड़।
पाटण में पधरायगा, रकम पांच राठोड़॥

[तीन]

मूलजी नामक एक जोधा राठोड़ था जो मेड़ते का रहने वाला था। बीकानेर के बीदा राठौड़ों के हाथ से उसकी मृत्यु हो गई। इससे जोधा और बीदा राठौड़ों में परस्पर शत्रुता हो गई जिसके परिणामस्वरूप कई वर्षों तक उनमें लड़ाई होती रही। खूनखराबी और लूटमार से प्रजा की बड़ी हानि होने लगी। अन्त में मामला दोनों ओर से पंचों को सौंपा गया और दोनों पक्षों में समझौते का विचार होने लगा। इस पर मूलजी के पक्षवालों को लक्ष्य में रखकर एक चारण ने निम्नलिखित सोरठा कहा—

तीखा भालां तोल, वैर सचो जो वालजो।
मिसलां मांडे मोल, मूला रो करजो मती॥

अर्थात् तीखे भाले तोल कर, सच्चा वैर लेना। केवल मिसलें लिख-लिख कर मूलजी का मोल मत करना।

इतना सुनना था कि मूलजी के निरपराध मारे जाने की बात का स्मरण हो आया और जोधा राठौड़ तलवार की मूठ पर हाथ रखकर मूंछों पर ताव देते हुए वहाँ से उठ खड़े हुए। पंचायत अधूरी ही रह गई। यदि बीदावत भी कहीं उत्तेजित हो जाते तो वहीं समझौते के स्थान पर दोनों पक्ष मर-कटने को तैयार हो गये होते।

[चार]

जोधपुर के बखतसिंह को लक्ष्य में रखकर कवि राजा करणीदानजी ने निम्नलिखित छप्पय सुनाया था—

प्रथम तात मारियो, मात जीवती जळाई ।
अस्सी च्यार आदमी, हत्या ज्यांरी पण आई ।
कर गड्ढो इकलास बेग जयसिंह बुलायो ।
मिटी धरम मरजाद, भरम गांठ को गमायो ।
कवियांण हूंत केवा करै, धरा उदक लेवण धरी।
बखतसी जनम पायां पछै, किसी बात आछी करी ।

अर्थात् हे बखतसिंह! तुमने पहले पिता की हत्या की, फिर माता को जीवित जला दिया, चौरासी आदमियों की हत्या व्यर्थ ही सिर पर ली । जयसिंह के साथ मिल कर उसे जोधपुर चढ़ा लाये । धर्म की मर्यादा मिट्टी में मिला दी । अब तू उदक में दी हुई चारणों की जमीन भी हथिया लेना चाहता है । तू बता तो सही, इस संसार में जन्म लेने के बाद कौन-सा अच्छा काम तूने किया है ?

[पांच]

राव गांगा बड़े नम्र स्वभाव का व्यक्ति था । इसके विपरीत उसका पुत्र मालदेव उग्र स्वभाव का तथा महत्त्वाकांक्षी था । ऊपर से शिष्टाचार बरतने पर भी वह मन ही मन अपने पिता से द्वेष रखता था ।

राव गांगा अफीम का बहुत सेवन किया करता था । एक दिन वह नशे की पिनक में अपने झरोखे में बैठा हुआ था । मालदेव ने मौका देखकर अपने पिता को झरोखे में से उठा कर नीचे फेंक दिया जिससे उसके प्राणपखेरू उड़ गये । उस समय उसके पास तिवरी का स्वामी भांण, पुरोहित मूला और जोगी सुखनाथ थे । इस प्रसंग का निम्न लिखित दोहा प्रसिद्ध है:—

"भांण पेलां भरड़ियो, पड़यो मूले पर हाथ ।
गोखां गाग गुड़ावियो, भाज गयो सुखनाथ ।।"

अर्थात् मालदेव ने पहले भाण पर प्रहार किया, फिर दूसरा हाथ मूला पर चलाया । इसी समय मौक़ा पा कर सुखनाथ अपने प्राण लेकर भग गया ।

जोधपुर राज्य की ख्यात में कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि मालदेव ने अफीम के नशे में पिनक लेते हुए अपने पिता को झरोखे से गिरा कर मार डाला था ।‡

‡ द्रष्टव्य जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा पृ० २८१)

[छह]

शेरशाह ने जोधपुर के राजा मालदेव के विरुद्ध प्रयाण किया। इधर से मालदेव भी एक बड़ी सेना लेकर शेरशाह का मुकाबला करने के लिए चला। एक महीने तक दोनों सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं, परन्तु युद्ध न हुआ। शेरशाह ने छल-कपट का आश्रय लेना अच्छा समझा। उसने जाली पत्रों की सहायता से मालदेव के मन में अपने सरदारों के प्रति सन्देह उत्पन्न करा दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि मालदेव ने अपनी सेना को पीछे हटने की आज्ञा दे दी। कूंपा को जब शेरशाह की चाल का पता लगा तो उसने मालदेव को उसकी गलती सुझाने की कोशिश की, किन्तु जब मालदेव के मन का सन्देह दूर नहीं हुआ तो जैता, कूंपा आदि गिर्री नामक स्थान में रुक गये और उन्होंने शेरशाह की सेना से लोहा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया जैसा कि नीचे लिखे दोहे से प्रकट है—

"गिर्री तोरे गार में लंबी वधी खजूर।
जैते कूंपे आखिया, स्रग नेड़ो घर दूर॥"

गिर्री अजमेर से सोलह कोस दक्षिण-पश्चिम में जोधपुर के जैतारण परगने में है।

[सात]

जोगीदास के पुत्र भगवानदास ने महाराजा अजीतसिंहजी के प्रति बड़ी स्वामिभक्ति का परिचय दिया था। महाराजा ने स्वयं निम्नलिखित दोहे में भगवानदास का गुणगान किया है:—

"भगवानो जोगा तणौ, एक सांवत सिरताज।
कियो बिखो मरुधर मझं, लियां भुजां कुळलाज।"

अर्थात् वीर योद्धाओं के सेनानी जोगीदास के पुत्र भगवानदास ने मारवाड़ के शत्रुओं से लोहा लिया और अपने कुल की मान-मर्यादा के दाग़ नहीं लगने दिया।

[आठ]

रूपनगरपति की चतुराई से जब राठौड़ों की सेना युद्ध-क्षेत्र को छोड़ कर भग गई थी, उस समय किसी कवि ने दुखी होकर कहा था—

"याद घणे दिन आवसी आपा बाला हेल।
भागा तीनों भूपति, माल खजाना मेल॥"

अर्थात् समस्त धन-रत्न और युद्ध के अस्त्रों को छोड़कर मारवाड़ के महाराज विजयसिंह, बीकानेरपति और कृष्णगढ़ के स्वामी, तीनों जयआप्पा के भय से भग गये, यह बात चिर काल तक हमको याद रहेगी।

[नौ]

बूंदी के राव अर्जुन महाबलशाली और असीम साहसी योद्धा थे। जिस समय ये चित्तौड़ की एक बुर्ज की रक्षार्थ नियुक्त थे, उस समय बहादुरशाह ने बुर्ज के नीचे के मार्ग में सुरंग लगवाई और उसके भीतर बारूद भर कर आग लगा दी। राव अर्जुन ने नंगी तलवार हाथ में लेकर वहीं प्राण दे दिये। कवि के शब्दों में—

"सोर कियो बहुजारे। धर परबत आडो सिला।
तैं काढी तलवार। अधिपतिया हाड़ा अजा॥"

अर्थात् हे अर्जुन ! जिस समय सुरंग से अनलराशि निकली, उस समय वहाँ एक पत्थर रख कर, उस पर बैठ, तूने तलवार निकाली और अपनी बलि चढ़ा दी !

[दस]

जैसलमेर के राजा गज को देवी ने एक किला बनवाने की आज्ञा दी और कहा कि इसका नाम गजनी रखा जाय। राजा ने किला बनवाना प्रारम्भ कर दिया। जब क़िला करीब-करीब बनकर तैयार हो गया तो राजा गज को समाचार मिला कि रूम और खुरासान के बादशाहों ने गज के विरुद्ध प्रयाण कर दिया है और वे किले के निकट पहुँच गये हैं।

"रूमीपति खुरसान पति, हय गय पाखड पाय।
चिन्ता तेरे चित्त लगि, सुनियो यदुपति राय॥

घमासान युद्ध हुआ किन्तु अंत में विजय का सेहरा महाराज गज के सिर ही बँधा। उस भयानक रणभूमि में केवल सात हज़ार हिन्दुओं के बलिदान से सेना में विजय-दुंदुभि बजने लगी और यदुवंशी राजा जयलक्ष्मी का आलिंगन कर गौरव के साथ अपनी राजधानी को लौट आये।‡

[ग्यारह]

गदर के जमाने में आउवा के ठा० खुशालसिंह ने जिस देश-प्रेम और स्वातन्त्र्य भावना का परिचय दिया था, उसके कारण राजस्थान के स्वतन्त्रता-संग्राम में उनका नाम अमर है। २० जनवरी १८५८ को ३०,००० अंग्रेजी सेना ने आउवा के जीर्ण-शीर्ण किले पर धावा बोल दिया था। ठा० खुशालसिंह पाँच हज़ार से अधिक सैनिकों को एकत्र नहीं कर सके थे। कहा जाता है कि वे किला छोड़ कर और अधिक सेना इकट्ठी करने के उद्देश्य से मेवाड़ की ओर चले गये। ६ दिन तक आउवे के किले को सर करने के लिए लड़ाई होती रही। अंत में आउवे के किलेदार

‡ द्रष्टव्य राजस्थान इतिहास—भाग २ (टाड प्रणती ग्रन्थ का अनुवाद) पृ० ४६७—४६८।

ने धोखा दिया जिससे विवश होकर किला खाली कर देना पड़ा। इसके बाद भी लगभग १२ वर्ष तक आउवा के ठाकुर ने दुबारा किले पर अधिकार करने के लिए अथक प्रयत्न किया किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। आउवा के ठाकुर की कीर्ति का उद्घोष करने वाला निम्नलिखित दोहा राजस्थान में प्रसिद्ध है:—

थिर रण अरियां थोगणो, नद्यपुर पूगो नांम।
आउवो खुसियाल हल, गावै गांमो गाँव।।

अर्थात् युद्ध में स्थित रह कर शत्रुओं का संहार करने वाले खुशालसिंह की कीर्ति लंदन तक जा पहुँची। गाँव-गाँव में उनका यशोगान होने लगा।

[बारह]

राजस्थान के प्रजाहितैषी और देशप्रेमी ठाकुरों में खरवा के स्व० ठा० श्री राव गोपालसिंहजी का नाम सदा आदर और सम्मान के साथ लिया जायगा। आपका जन्म कार्तिक कृष्णा ११, सम्वत् १९३० को हुआ था। सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सभी सत्प्रवृत्तियों में आपकी रुचि थी। वि० सं० १९५६ में राजस्थान में जो भीषण अकाल पड़ा था, उसमें लाखों रुपयों का ऋण लेकर आपने जनता की बड़ी सहायता की थी जिसकी साक्ष्य का निम्नलिखित दोहा राजस्थान में प्रसिद्ध है:—

भय खायो भूपति किता, दुर्भख छपनो देख।
पाली प्रजा गोपालसी, परम धरम चहुँ पेख।।

[तेरह]

जोधपुर के महाराज अभयसिंहजी जब अहमदाबाद के सूबेदार सरबुलंदखां को परास्त करने के लिए गए थे, तब बगोदरा के चारण रामभाई ने महाराज का आतिथ्य किया था। उसने सबको सोने-चांदी के थालों में भोजन करवाया था। रामभाई बहुत समृद्धिशाली था। महाराज ने उसके आतिथ्य से प्रसन्न होकर कहा था—

"उदेपरां जोधपरां बगोदरां बराबरां"।

[चौदह]

जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंहजी जब युद्ध से लौट आए थे, तब उनके तीन बड़े उमराव भी उनके साथ ही भग कर आ गये थे। इस पर एक चारण ने उन्हें निम्नलिखित दोहा सुनाया था—

"राजा भले पधारिया, सुजस बसावो देस।
ए जंबुक क्यूं आविया, आसो किसन महेस।।"

[पन्द्रह]

राजस्थान के इतिहास में अनेक बार कवि की वाणी का प्रभाव देखने को मिलता है। किसी समय मरहठों का बड़ा बोलबाला था।

एक बार राजस्थान के दो शासकों और मल्हारराव होलकर के प्रतिनिधि के बीच सन्धि-वार्ता चल रही थी। एक चारण उधर से जा निकला और सारी बात का भेद समझ कर उसने निम्नलिखित दोहा कहा—

"सिंहां सिर नीचा किया गाडर करे गिलार।
अधपतियाँ सिर ओढ़णी, माथे पाग मल्हार॥"

अर्थात् सिंहों ने सिर नीचा कर लिया है और भेड़ खुशी मना रही है। राजाओं ने स्त्रियों की पोशाक (ओढ़नी) पहन ली है और मल्हारराव होलकर ने अपने सिर पर पाग बाँध रखी है।

इस व्यंग्यात्मक दोहे को सुनकर राजपूतों में जोश आ गया, वे बड़ी वीरता से लड़े और विजय का सेहरा उन्हीं के सिर बँधा।

[सोलह]

कोटा निवासी प्रसिद्ध देश-प्रेमी स्व० श्री केशरीसिंहजी ने झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई को लक्ष्य में रख कर निम्नलिखित दोहा कहा था—

"बेटा पगहेटा हुआ, ढाब भिकारी ढब्ब।
धीय उठी धुर धूंकळां, गंजण खळां गरब्ब॥"

अर्थात् लड़के तो भिखारियों के ढंग पर चल पैरों तले रौंदे जाने लगे अर्थात् सब तरह उनका पतन हो गया किन्तु महारानी लक्ष्मी बाई जैसी वीर-बालाएँ दुष्टों का दर्प-दलन करने के लिए वीरों के अग्र भाग में आकर खड़ी हो गईं।

[सत्रह]

चतरा मोतीसर ने जोधपुर के महाराज गजसिंह की किसी गीत में निन्दा कर दी थी। इस पर रुष्ट होकर महाराज ने चतरा को बुलाया और उसे मारने के लिए म्यान में से तलवार निकाल ली। इस पर चतरा ने उसी क्षण निम्नलिखित गीत सुनाया—

चख लागां धर वै चहुं दस चोळै,
होलोहळ सातूं हीलोळै।
असपत सको ताहरै ओळै,
तूं खग आज कणी सिर तोळै॥१॥
पूरब पछम धरा दध पारू,
दिखण तणा खूटो बळ दारू।
सक उतराद धरा सो सारू,
मछर धरै किण ऊपर मारू॥२॥
खड देवडा भरैं डंड खंधी,

सगपण भाटी सनबंधी ।
सारां मिळे तूझ सूं संधी,
बळ दाखै किण सिर गजबंधी ।।३।।
वाजै बले चहूं दिस वाजा,
सूर तणा उत्तर दध साजा ।
पूगो जस सातूं दध पाजा,
रोस धरै किण ऊपर राजा ।।४।।

अर्थात् हे महाराज ! आपके नेत्र जब क्रोध से लाल हो जाते हैं तो चारों दिशाएँ और सातों समुद्र काँपने लगते हैं । बादशाह भी आपकी शरण में है, फिर आप आज यह तलवार किस पर उठा रहे हैं ।।१।।

पूर्व से पश्चिम समुद्र तक आपका प्रताप फैला हुआ है । दक्षिण और उत्तर में भी आपकी ही दुहाई फिरती है । फिर हे गजसिंह ! आज आप किस पर कोप कर रहे हैं ? ।।२।।

देवड़ा आदि सब आपका प्रभुत्व स्वीकार कर आपको कर देते हैं और भाटियों ने भी आप से सम्बन्ध जोड़ लिया है । सब क्षत्रियों ने आपसे संधि कर रखी है । फिर हे महाराज ! किस पर आप अपना बल-प्रदर्शन कर रहे हैं ? ।।३।।

हे सूरसिंह के पुत्र गजसिंह ! चारों दिशाओं और सातों समुद्रों तक आप ही के बाजे बज रहे हैं । फिर हे महाराज ! आप किस पर क्रोध करने चले हैं ?।।४।।

[अठारह]

मुंजसिंह बड़ा वीर पुरुष था । उसने घोड़े के पागड़े में अपना एक पैर रखा और हमीरसिंह से हथियार चलाने के लिए कहा । हमीरसिंह ने कटार चलाई जिससे मुंजसिंह की अंतड़ियां निकल पड़ीं और उसका धड़ जमीन पर गिर पड़ा । निम्न-लिखित दोहा उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है :—

"धड़ धरती पग पागड़े, आंतां तणों गरट्ट ।
अजे न छोड़ै मुंजियो, मूंछां तणो मरड्ड ।।"

[उन्नीस]

जोधपुर का कल्याणमल राठौड़ बड़ा वीर पुरुष था । उसे 'सवियाणे' के

किले की जागीर मिली हुई थी। एक बार किसी कारणवश बादशाह कल्याणमल (कल्ला) से रुष्ट हो गया और सवियाणे पर फौज भेजने की आज्ञा दे दी। कल्याण-मल राठौड़ महाराव सुरताण का भानजा होता था। सुरताण ने आसिया दूदा को कल्याणमल के पास भेज कर कहलवाया कि वह सिवाणा छोड़कर सिरोही आ जाय। इस पर कल्याणमल ने उत्तर दिया, 'मेरे काका हरपाल ने 'खीपड़' गाँव के छोटे-छोटे घर भी जब बिना युद्ध के नहीं छोड़े तो मैं अपना किला बिना युद्ध के कैसे छोड़ सकता हूँ ? मैं जीते-जी अपने कुल को कभी कलंकित नहीं होने दूँगा।"

"खीपड़ तणा खोलड़ां तारे हैये नहिं छूटा हरपाळ।"

[बीस]

महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु पर प्रख्यात कवि आढा राघवदान ने उनके मरसिये कहे थे जिनमें से एक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"पग पग रच धांम धांम क्रत पावन,
गांम गांम प्रत राख गुणी।
विद्या पढ़ दांम दांम अत बालक,
सांम नाम नत कथा सुणी।
कीनों वश कांम तमांम कला कर,
ठांम ठांम धुम अडग थयो।
छत्रपत उमेंद वेद मत चालण,
गुणग्राहक शिवलोक गयो॥"

केवल पार्थिव शरीर पर मृत्यु का वश चल सकता है—भौतिक प्रासाद समय पाकर भूमिसात् हो सकते हैं किन्तु कीर्ति के कार्य सदा अमर रहते हैं—

"इळ ऊपर रहसी अमर, कीरत रा कमठाण।"

[इक्कीस]

आउवा ठाकुर कुशालसिंह ने सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम में जिस नेतृत्व, पराक्रम तथा देश-प्रेम का परिचय दिया था, वह स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। अंग्रेजी सेना तथा जोधपुर महाराजा की सेना ने मिलकर इनका मुकाबला किया था किन्तु जोधपुर की सेना के मुसाहिब सिंघवी कुशलराज युद्ध-क्षेत्र से प्राण बचाकर भग गये थे जिसकी 'साख' का निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध है :—

लीला भाला फेरता, भाग गया कुसलेस।

आउवा ठाकुर तथा उनके वीरों की गाथा राजस्थान के लोक-गीतों में भी गाई जाती है।

[बाईस]

डिंगल के सुप्रसिद्ध कवि ईसरदास का जन्म सं० १५९५ में हुआ था जैसा कि निम्नलिखित दोहे से प्रकट होता हैं—

पनरासो पिच्चाणवे, जनम्या ईसरदास ।
चारण वरण चकार में, उण दिन हुओ उजास ।।

जामनगर के अधिपति रावल जाम ने उनकी कविता से प्रसन्न होकर उन्हें 'करोड़ पसाव' तथा 'सचांणौ' ग्राम दिया था—

क्रौड़ पसाव ईसर कियौ, दियौ सचांणौ गाम ।
दाता सिरोमन देखियौ, जगसर रावल जाम ।।

[तेईस]

महाकवि पद्माकर जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ बहुत समय तक रहे। महाराजा प्रतापसिंह के पुत्र महाराजा जगतसिंह के समय में भी ये बहुत दिन तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया। प्रसिद्ध पंडित और अच्छे कवि होने के कारण कई राजधानियों में इनका अच्छा सम्मान हुआ था।

प्रवाद प्रचलित है कि एक बार चरखारी नरेश रतनसिंह ने पद्माकर से मिलने से इन्कार कर दिया था जिस पर कवि ने निम्नलिखित कवित्त कहा था—

तुम गढ़ किल्ला सदा जोर करि जीतत हौ,
पिंगल अमरकोष जीतत जहान हैं ।
तुम सदा साम-दाम-दंड-भेद न्याव करौ,
चारों बेद हमहूँ सुनावत समाज हैं ।
हाथी घोड़े रथ ऊँट पैदल तिहारे साथ,
राखत सदा ही हम छप्पै छन्द साज हैं ।
तुम सौं औ हम सौं बराबरी कों दावा गिनौ,
तुम महाराज हो तो हम कविराज हैं ।

रतनसिंहजी से ये फिर कभी नहीं मिले तथा सीधे गंगा की ओर चले गये।

आयु के पिछले दिनों में इन्हें अन्तर्ग्लानि हुई जिसका चित्रण निम्नलिखित सवैये में हुआ है:—

भोग में रोग, वियोग संयोग में,
जोग में काम कलेस कमायो ।
त्यों पद्माकर बेद पुरान,
पढ्यौ, पढ़ि कै बहु बाद बढ़ायो ।
दूनी दुरास में दास भयो,
पै कहूं बिसराम को धाम न पायो ।
कायो गमायो सु ऐस ही जीवन,
हाय, मैं राम को नाम न गायो ।।

[चौवीस]

'त्याग' की महिमा के सम्बन्ध में आशिया चारण बुधराम की निम्नलिखित उक्ति लोक-प्रवाद की भाँति प्रसिद्ध है :—

जासी त्याग जकां रा घर सूं,
जातां खाग न लागै जेज ।
जासी त्याग जिकां रा घर सूं,
जाती धरती करै जुहार ।
दीजै दोस किसूं सिरदारां,
जमी जाण रा अंक जरूर ।

[पच्चीस]

वागड़िया चौहानों में गोपीनाथ का पुत्र सूरतसिंह पागल हो गया था जिसके कारण उसके पैर में हमेशा बेड़ी रखी जाती थी । एक बार बाँसवाड़े पर जब राणा की फौज चढ़ आई और युद्ध के बाजे बजने लगे तो सूरतसिंह ने अपने भाइयों से पूछा कि यह क्या हो रहा है ? भाइयों ने उत्तर दिया कि, आज दुश्मन आ रहा है और वह तुम्हारा तमाशा देखेगा । कहा जाता है कि यह सुनते ही उसे जोश आ गया, उसने बेड़ी तोड़ डाली और वह युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गया । उसने युद्ध में ऐसा पराक्रम दिखलाया जिसके कारण शत्रुओं के भी छक्के छूट गये । कविराज आढ़ा दयालदास के शब्दों में—

राव चहुआण भलो रोहड़ियो,
राण कटक खागां रम राह ।
समरह मोहर वाजियो सूजो,
सरगे तको उचाले चांव ।
पहेलां नाथ तणो भड़ पड़ियो,

पाछो दिया धरा दस पाव ।
कळहरण वर दूसरो केशव,
वारांगना आई वरण ।
सूरज चांद किया दोए साखी,
मोटे प्रब कीधो मरण ।

कविराज आड़ा शंकरदान ने भी सूरतसिंह के सम्बन्ध में कहा है—

नाथ तणो सुरतेस नूभै नर,
चीत न थो ठिक, रीत न चूको ।

अर्थात् गोपीनाथ का पुत्र सूरतसिंह निर्भय वीर पुरुष था । यद्यपि उसका चित्त ठिकाने नहीं था किन्तु युद्ध के बाजे सुन कर वह भी अपनी कुल-रीति से च्युत नहीं हुआ । शत्रु-सेना को हटा कर उसने युद्ध में वीर गति पाई ।

[छब्बीस]

महाराणा प्रताप की भाँति, राजस्थान के इतिहास में सिरोही के राव सुरताण का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है । वे अपनी वीरता, शरणागतवत्सलता, दानवीरता तथा स्वातन्त्र्य-प्रेम के लिए अत्यन्त विख्यात हैं । प्रसिद्ध है कि शाही सैनिक उनके सामने जाकर युद्ध करने में अपने आपको असमर्थ पाते थे । एक बार गज-समूह को मदोन्मत्त कर शाही सैनिकों ने उन्हें आगे कर दिया और आप उनके पीछे हो गये । यह देखकर राव सुरताण ने अपने सैनिकों से पूछा कि क्या कोई ऐसा नर है जो इस मदोन्मत्त गजसमूह को वापिस कर दे ? इस पर कवि दूदा आशिया ने उत्तर दिया—

"कर जोड़े कव यूं कह्यो, दीजे हुकम हमार,
जो पाछल वळतां वळे लागे केती वार ।
करे अरज कल्याण कूं, कर नांख्यो कब्बाण ।
फूटा सिच गजंद का ज्यूं आया त्यूं जाण ।।"

केवल आपके हुक्म की देर है, मैं अभी इस गज-समूह को वापिस किये देता हूँ । यह कह कर वीर कवि आगे बढ़ा । उसने सवियाणा के वीर कल्याणमल राठौर का स्मरण कर धनुष पर हाथ डाला और तीर चलाना शुरू कर दिया जिससे हाथियों के सिर फूटने लगे ।

युद्धारम्भ के समय परम्परागत वीरों के नाम-स्मरण की प्रथा राजस्थान में रही है । वीर रसावतार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण के शब्दों में—

बिण माथै बाढ़ै दळां, पौढै करज उतार ।
तिण सूरां रौ नाम ले, भड़ बांधै तलवार ।।१६५।।

(वीर सतसई)

अर्थात् जो बिना सिर ही सेनाओं को काट डालता है और ऋण को चुका कर धराशायी होता है, ऐसे शूरवीर का नाम लेकर योद्धा तलवार चलाते हैं ।

कल्याणमल (कल्ला) एक ऐसा ही योद्धा था, जिसने मृत्यु से पहले ही अपनी मृत्यु का गीत सुन कर वीरतापूर्वक युद्ध कर अपने प्राण दिये थे ।

दूदा आशिया ने बात की बात में मतवाले हाथियों को पीछे हटा कर यश प्राप्त किया ।

धन्य है वह राजस्थान जहाँ के कवि स्वयं युद्धभूमि में उपस्थित होकर मृत्यु की विभीषिकाओं से क्रीड़ा किया करते थे ।

[सत्ताईस]

सिरोही के निंबाज ठिकाने के ठाकुर प्रेमसिंह ने राज्य की तथा अंग्रेजी फौज के साथ युद्ध किया था, जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध हैं—

नागण पूछे नाग आज, जमीं क्यूं हलचल हुई ?
खत्रवट जगाई खाग नरपत प्रेमे नींबजी ।।

उक्त पद्य से वीर सतसई का निम्नलिखित दोहा तुलनीय है—

नाग द्रमंकां की पड़ै, नागण धर मचकाय ।
इण रा भोगणहार जे, आज भिड़ाणा आय ।।

अर्थात् शेषनाग से नागिन पूछती है कि हे नाग ! ये धमाके किस कारण हो रहे हैं ? शेषनाग उत्तर देते हैं कि हे नागिन ! पृथ्वी लचक रही है क्योंकि इसके उपभोग करने वाले आज एक दूसरे से आ भिड़े हैं ।

[अट्ठाईस]

राणा भीमसिंह के सम्बन्ध में आढ़ा किसना ने कहा था—

मांण पांण साबूत मन, मझ जुधांण मजबूत ।
है न बियो हिंदुवाण मह, राण जिसौ रजपूत ।।

जिसने शाहों से सलाम नहीं की किन्तु जो कवियों के आगे हाथ जोड़े रहता था, ऐसे राणा की बराबरी कौन कर सकता है ?

साहां अगै सलांम, नागध्रहां कीधी नहीं ।
कज जस भीम सकांम, सुकवां सूं जोड़ै सुकर ।।

महाराणा से सम्बद्ध निम्नलिखित 'रंग दूहा' भी यहाँ उल्लेख्य है :—

पारखणो बीजा पता, खोटा खरां थुमाण ।
रे भीमाजळ एक रंग, रंग मूंछां महाराँण ।।×

× मिलाइए—'है विरळा माभळ हिंदवाणा, राणां भीम जिसा रजपूत ।'"

[उन्तीस]

राजस्थान के कवियों में दुरसा आढ़ा का महत्वपूर्ण स्थान है। कहा जाता है कि ६ वर्ष की अवस्था में ही कवि के पिता का देहान्त हो गया था। बगड़ी के ठाकुर ने ही कवि को लिखा-पढ़ा कर योग्य बनाया था जिसकी 'साख' का निम्न-लिखित सोरठा प्रसिद्ध हैं :—

माथै मावीतांह, जनम तणौ क्यावर जितौ।
सोहड़ सुध पातांह, पालणहार प्रतापसी॥

सुभटों और सुकवियों का पालन करने वाले हे प्रतापसिंह! जन्म-दान देने वाले 'मायत' के समान, तेरा मुझ पर एहसान है।

[तीस]

हमारे देश में दानियों तथा उनकी प्रशस्ति-परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'दिव्य गाथाओं' के साथ-साथ 'नाराशंसी' गाथाओं का भी उल्लेख मिलता है जिनमें मनुष्यों की प्रशस्तियाँ हैं। वेदों में दाताओं की प्रशंसा में अनेक 'दान-स्तुतियां' उपलब्ध हैं जिनमें से यहाँ कुछ उद्धृत की जा रही हैं—

इदं जना उपश्रुत नाराशंस स्तविष्यते।
षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे॥१॥
उष्ट्रा यस्य प्रवाहिणो वधूमन्तो द्विर्दश।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः॥२॥
एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम्॥३॥

अर्थात् हे लोगो! यह नाराशंसी गाथा गाई जायगी। रुशमों में जब हम कौरम के साथ थे, हमें छह हजार नव्वे गायें प्राप्त हुईं। जिसके गायों सहित २० भैंसे सीधे चलते हैं तथा जिसके द्वारा प्रदत्त रथ की ध्वजाएँ आकाश का भी तिरस्कार करती हैं—इस एक कौरम ने ऋषि को १०० स्वर्ण मुद्राएँ (निष्क), ३०० घोड़े तथा १० हजार गायें दान में दीं।

दान-स्तुतियों की यह वैदिक परम्परा राजस्थान में सर्वाधिक सुरक्षित रही। महाराणा जगतसिंह के सम्बन्ध में कहा हुआ आढा दुरसा का निम्नलिखित दोहा उसी प्राचीन परम्परा का स्मरण दिलाता है:—

तोड़ा जूं घोड़ा दिया, घोड़ा जूं गजराज।
गजराजां जूं गामड़ा, राण दिया जगराज॥

(३१)

चारण कुल-भूषण श्री हरिदासजी महियारिया ने महाराणा साँगा की दानवीरता की प्रशस्ति में कहा था:—

"सिंघासण छत्र चमर सहेतो, दूजै किणी न दीधो दान ।"

इसी संवन्ध में निम्नलिखित दोहा भी अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

"असपतिया उतवंग सूँ, ऊँचा छत्र उतार ।
राणै दीधा रेणुका, सांगै जग साधार ।"

महाराणा साँगा जैसा दान किसी दूसरे ने नहीं किया था, उसने तो छत्र-चमर भी दान कर दिये थे ।

(३२)

कुँवर केसरा विवाह के बाद सुसराल से लौट रहे थे। रास्ते में पता चला कि डाकुओं का एक दल चरवाहों की गायें लेकर भग गया है। कुमार ने डाकुओं का सफाया कर दिया किन्तु स्वयं भी वीरतापूर्वक लड़ते हुए उन्होंने युद्ध में अपने प्राण दे दिए। उनका सिर धड़ से अलग हो गया। प्रवाद प्रचलित है कि कुमार का घोड़ा उनका धड़ लेकर वापिस ससुराल पहुँचा। युद्ध भूमि से पति के मस्तक को प्राप्त कर उनकी पत्नी उनके साथ सती हो गई।

पं० झावरमल्लजी शर्मा के मतानुसार 'केसरिया कुँवर गोगाजी से पहले दिन युद्ध में काम आ गया था। केसरिया के स्तवन–गीत में महिलाएँ उसको 'पद्मा नागण का जाया' (पद्मा नागिन से उत्पन्न) फुलन्दे का 'वीरा' (भाई) तथा किस्तूरी का ढोला (पति) कह कर वन्दना करती हैं। गीत में (मैंड़ी) का भी नाम आता है, जिसको ददेरा छोड़ने के बाद गोगाजी ने अपना वासस्थान बना लिया था। गीत के अनुसार केसरिया का बाजा (युद्ध का मारू बाजा) "धुर मैंड़ी" अर्थात 'ठेठ मैंड़ी' में ही बजा, उनकी ध्वजा वहीं फहराई। उस समय तक इधर नागवंश का अस्तित्व बना हुआ था, केसरिया की माता नागवंश की थी, इसका गीत से आभास मिलता है।" [1]

भाद्रकृष्णा अष्टमी के दिन केसरा का पूजनस्तवन होता है। गोगाजी की भाँति, कुँवर केसरा को भी, नाग-रूप माना जाता है। प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार केसरिया-पूजन से सर्प का विष उतर जाता है। केसरिया–स्तवन का एक गीत नीचे दिया जा रहा है:—

---

1. द्रष्टव्य, मरु-भारती (अक्टूबर, १९५५) में प्रकाशित प० झाबरमल्ल शर्मा का 'राजस्थान के लोक-देवता' शीर्ष लेख पृ० ११

तूर रो तूर रो सार रो, तेरे तुररैं में हीरा मोती लाल ।
रे नागरा का जाया, भलो विराज्यो केसरो ।।
सूरज सामी खेजड़ी कोई, धजा रे फरूकै असमान ।
रे नागरा रा जाया ।।
चढै ये चढावै चूरमो, कोई उजलियै चावलियाँ रा खीर ।
रे नागरा रा जाया ।।
डेरूं तो आवै बाजता, ढोला रो माचै घमसान ।
रे नागरा रा जाया ।।
भोपा तो आवै नाचता, कोई कड़याँ रै लटकता केस ।
रे नागरा रा जाया ।।
लाल लपेटे ढामकी, कोई मोडै भंवर बन्दूक ।
रे नागरा रा जाया ।।
घोड़ो विराजतो नोलखो कोई, लालां री जड़ी रै लगाम ।
रे नागरा रा जाया ।।

राजस्थान के अनेक गाँवों में केसरियाजी के मन्दिर बने हुए हैं जहाँ देवता की भाँति उनकी पूजा होती है ।

[३३]

सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दुस्तानी फौज भगती हुई आऊवै पहुँची । प्रातः काल का समय था । एक चारण कवि वहाँ आया हुआ था । सैनिकों को जब चारण कवि का पता लगा तो उन्होंने कहा कि आप हमें बचाने का उपाय कीजिए आपके पूर्वजों ने अतीत में ऐसे कई काम किये हैं । यह सुन कर कवि ने आऊवे कोट में जाकर ठा. कुशलसिंहजी से निम्नलिखित दोहा कहा—

साच सरण साधार रा, विरद निभावौ वीर ।
अवर न ले गल आउवा तो विण उड़ता तीर ।।

इस पर ठाकुर साहब ने उन सैनिकों को अपने कोट में आश्रय दिया । पीछे से जब अंग्रेजी सेना आऊवे पहुँची और ठाकुर साहब से वे सैनिक माँगे तो वे ऐसा करने से इन्कार हो गये । इस बात पर युद्ध छिड़ गया । काफी दिनों तक किला घिरा रहा । इसी बीच आऊवैं ठाकुर की सहायता करने के लिए आसोप के ठा० शिवनाथसिंह जी अपनी सेना लेकर आऊवे पहुँच गये । इन दोनों की सम्मिलित सेना के वीर योद्धा तंबू की डोरें काट कर भीतर घुस पड़े और एजेंट का सिर काट लाये तथा उस सिर को आउवे के किले के दरवाजे पर बाँध दिया गया । बारहठ देवकरणजी (ईंदोकली) का एतद्विषयक निम्नलिखित गीत प्रसिद्ध हैं—

गीत (सुपंखरौ)

हिन्दू इस्लामी नारारा रूप साजिया जिहान हाकौ
(जद) समुद्रां पार रा भड़ा पाविया सौभाग ।
महारानी मल्लिका रे हुकम्मा धार रा मांझी
छटक्के सार रा बलां जाणै हिन्द छाग ।।१।।
गाढै मना जाडै थंड झोकण विडंगी गजां
आडे आंसू रुदन्ना अपलापै छोडै आन ।
होका घोम ज्यांरी संक न काढै नरेन्द्र हेकौ
(जठै) आऊवौ तोपाँ रा धुआं चाढै आसमान ।।२।।
अटक्कै न पल्लै भूप भारती निराश इला
महीपां कटक्कै छल्लै चल्लै गोरमेन्ट ।
झटक्कै रोसंगी भूरा वीर भोम भल्लै भल्लै
आऊवा रे हल्लै कल्लै लटक्कै एजेन्ट ।।३।।
कराल काल रा बीर समोवड़ी महाकान्त
ताल रान कीधा नाद बैठा ओल्हौ ताक ।
थाल रा नीर ज्यूं भूप थरक्कै अथाग थाटां
गोपाल रा पोतां धिनों धुजाया गैणाक ।।४।।

अंग्रेजों ने फिर आउवे पर आक्रमण किया । प्रतिपक्षियों की भारी सेना के सामने ठाकुर साहब कुशलसिंह जी को आउवा छोड़ना पड़ा

तोपों के गोले लगने से किले की दीवारें व बुर्जें ढह गई थीं । बाद में संधि हो जाने पर ठाकुर साहब अपने किले में आ गये ।

एक चारण ने जब यह सुना तो वे आउवा देखने के अभिप्राय से वहाँ गये । ठाकुर साहब ने उन्हें किला दिखाते हुए कहा कि यह तो टूटा-फूटा है, आपके देखने योग्य कोई वस्तु यहाँ नहीं है । अच्छे महल अथवा विशाल प्रासाद यदि आप देखना चाहते हैं तो अमुक-अमुक स्थानों पर अमुक-अमुक राजाओं के यहाँ जाइए । इस पर उक्त कविराज ने तुरन्त ही यह दोहा कह सुनाया—

घणी कली कायर घराँ, (वा) धिक सूं रही धुपाय ।
(आ) फूट-टूट चौफेर री, सोभा देत सवाय ।।

(३४)

मारवाड़ का प्रधान अखेराज सोनीगरा गिररी समेल के युद्ध में शेरशाह के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया था । उसी युद्ध में राठौड़ जैता और कूंपा भी

काम आए थे। इस घटना के चार साल बाद 'सरगिया' नामक गाँव से एक चारण अखेराज सोनीगरा के गाँव में आया। चारण से अखेराज के पुत्र ने पूछा, "कहिए बारहठजी, आप तो 'सरगिये' से आये हैं तो सरगिये (स्वर्ग) के समाचार भी सुनाइए।"

वहाँ पर जैता और कूंपा के वंशज भी बैठे थे जिन्होंने बारहठजी जी की अच्छी आवभगत की। बारहठजी कुछ देर आराम करना चाहते थे किन्तु जब अखेराज के पुत्र ने बार बार स्वर्ग के समाचार जानने का हठ किया तो बारहठजी ने खीझ कर निम्नलिखित दोहा कह सुनाया—

जैतो तो कूंपा रे जींमें, पालै गोत पखो।
सती बिना दोरो सोनीगर, हाथां पीसै खाय अखो॥

जैता, कूंपा तथा अखेराज—ये तीनों वीर शेरशाह के साथ युद्ध करते हुए काम आये थे। राव कूंपा के पीछे तो उसकी रानियाँ सती हो गई थीं किन्तु जैता और अखेराज के साथ कोई सती नहीं हुई थी। उसी को लक्ष्य में रख कर बारहठ जी ने कहा कि जैता तो कूंपा का भाई है, स्वर्ग में अपने भाई कूंपा के यहाँ वह भोजन कर लेता है—कूंपा की स्त्रियाँ जो सती होकर स्वर्ग में गई थीं, जैता के लिए भी भोजन बना देती हैं किन्तु बेचारे अखेराज को मुश्किल पड़ती है, वह हाथ से ही पीसता है और खुद ही भोजन बनाकर खाता है।

जब अखेराज की स्त्री ने बारहठजी के मुख से उक्त दोहा सुना तो वह सती होने का नारियल लेकर बाहर आ गई और पति की मृत्यु के चार वर्ष बाद सती हो गई।

(३५)

कहा जाता है कि मारवाड़-निवासी ब्रजलाल नामक किसी भाट ने 'कुल-कुलमण्डन' शीर्षक एक व्यंग्यात्मक कविता लिखी थी जिसमें चारणों को हेय ठहराया गया था। एक बार अकबर के दीवाने आम में भाटों ने चारणों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कटाक्ष किए। इस समय चारणों का गुरु लाखा अकबर का कृपापात्र था। लाखा ने अपने गुरु गंगाराम को, जो जैसलमेर के जाजियाँ ग्राम में रहता था, निमन्त्रित किया। गंगाराम ने पंडितों की भरी सभा में अकबर बादशाह के समक्ष तांत्रिक ग्रंथ 'शिव रहस्यम्' का निरूपण कर चारणों की दिव्य उत्पत्ति पर प्रकाश डाला। गंगाराम का अधिकारपूर्ण विवेचन सब को स्वीकार्य हुआ और भाट अपना-सा मुँह लेकर रह गये। सभी चारण इस कार्य के लिए लाखा के कृतज्ञ हुए। इस प्रसंग पर दुरसा आढा द्वारा द्वारा रचित निम्नलिखित दोहा राजस्थान में प्रसिद्ध है:—

दिल्ली दरगा अंब फल, ऊँचा घणा अपार ।
चारण लाखो चारणां, डाल नवावणहार ।।

अर्थात् दिल्ली–दरबार का संरक्षण उस आम–फल के समान है जो बहुत ऊँचा है। साधारण मनुष्यों की वहाँ पहुँच नहीं होती। उस आम–फल की शाखा को झुकाकर चारणों के लिए सुलभ कर देने वाला लाखा चारण है।

उक्त दोहे से लाखा के प्रति चारणों की कृतज्ञता झलकती है।

(३६)

राणा साँगा एक बार बाबर से युद्ध करते समय घायल हो गये। बेहोश अवस्था में वे युद्ध-क्षेत्र से हटा लिए गये। जागने पर उन्होंने अपने साथियों को धिक्कारा कि जीवित अवस्था में तुम लोग मुझे युद्ध-भूमि से क्यों उठा लाये। इससे तो मुझ पर युद्ध से भागने का कलंक लग गया। इस कारण मैं यहीं रह कर सेना एकत्र करूँगा और बाबर को पराजित कर चित्तौड़ जाऊँगा। इस पर जमणाजी बारहठ ने श्रीकृष्ण और अर्जुन के उदाहरण देकर उन्हें निम्नलिखित गीत सुनाया तथा उन्हें प्रोत्साहित किया:—

सत बार जरसंध आगल श्रीरंग, बिमहा टीकम दीध बग ।
मेलि घात मारे मधुसूदन, असुर घात नाखे अलग ।।१।।
पारथ हेकरसाँ हथणापुर, हटियो त्रिया पड़ंतां हाथ ।
देष जका दुरजोधण कीधी, पछै तका कीधी काँइ पाथ ।।२।।
इकरां राम तणी तिय रावण, मंद हरेगो दहकमल ।
टीकम सोहि ज पथर तारिया, जगनायक ऊपरा जल ।।३।।
एक राड भवमांह अवत्थी, ओरस आणै केम उर ।
नालतणा केवा कज मांगा सांगा तू सालै असुर ।।४।।

अर्थात् अनेक बार जरासन्ध से विमुख होकर श्रीकृष्ण भगे थे किन्तु फिर उन्होंने असुर का वध किया था। अर्जुन भी एक बार हस्तिनपुर में द्रौपदी का दुःख देख कर हटा था, वहाँ दुर्योधन ने जो किया, सब जानते हैं किन्तु उसके बाद अर्जुन ने जो किया, वह क्या किसी से छिपा है ? एक बार मूर्ख रावण सीता को हर ले गया था किन्तु फिर जग नायक रामचन्द्र ने समुद्र पर पत्थरों का पुल बाँधा (और रावण का संहार किया) आप केवल एक बार युद्ध में हारने से खिन्न क्यों होते हैं ? हे राणा साँगा ! आप बादशाह के खटक रहे हैं।

इससे प्रोत्साहित होकर राणा साँगा ने यथासमय सेना इकट्ठी की और वीरता से युद्ध करते हुए अपना प्राणोत्सर्ग कर दिया। चारण कवि के शब्दों में—

'ऊगां बिण सूर जेहवो अंबर, दीपक पाखे जसो दुवार।
पावस बिना जेहवी प्रथमी, साँगा बिण जेहो संसार ।।३।।
बिण खि बोम कसण ज्योती बिण, धाराहर बिण जिसी धर।
जैसी हर: जिसो जाणेबो तो बिण प्रथमी कलपतर ।।२।।
जलाहर गयो दुनी जीवाडण, फबै नहीं दीपक फरक।
साहां ग्रहण मोषणों साँगो, आंथमियो मोटो अरक ।।३।।

सूर्योदय बिना जैसे आकाश, दीपक बिना जैसे देहली, वर्षा ऋतु बिना जैसे पृथ्वी शोभा नहीं देती, वैसे ही साँगा बिना आज सारा संसार दिखलाई पड़ रहा है। हे कल्पवृक्ष! जैसे सूर्य बिना आकाश, ज्योति बिना अग्नि और मेघ बिना जैसे पृथ्वी दिखाई देती है, उसी तरह तेरे बिना भी पृथ्वी शून्य प्रतीत हो रही है। हा! दुनिया को जिलाने वाला मेघ चला गया! बादशाहों को पकड़–पकड़ कर छोड़ देने वाला प्रचण्ड सूर्य आज अस्त हो गया!!

(३७)

जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी ने जब बीकानेर पर आक्रमण करने का निश्चय किया तो जयपुर के महाराजा जयसिंहजी ने उनको ऐसा करने से मना किया। इस पर महाराजा अभयसिंहजी और जयसिंहजी, दोनों में तनातनी हो गई। जयसिंहजी ने करीब पचास हजार सेना एकत्र की और गाँव गगवाणे में इस सेना का डेरा हुआ।

नागोर के राजाधिराज बखतसिंहजी यद्यपि पहले तो अभयसिंहजी के विरुद्ध षड्यन्त्र में शामिल थे परन्तु बाद में उनको अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने केवल पाँच हजार सवारों की सहायता से जो युद्ध किया, उससे विरोधी पक्ष के छक्के छूट गये। कर्नल टॉड ने बखतसिंह के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "बखतसिंह जैसा वीर राजपूत, भारतवर्ष में ही क्या, संसार के इतिहास में भी दूसरा दृष्टिगोचर नहीं होता।"

गगवांणे के युद्ध के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है:—

एक कटारी आगरै, हद बाही अमरेस ।
गगवांणे रै गौरवैं खग बाह्यो बगतेस ।।

(३८)

दुरसा आढा के भाग्योदय के संबन्ध में प्रवाद प्रचलित है कि कवि ने बहरम खाँ को दूर से ही देख कर दो–तीन बार निम्नलिखित दोहा पढ़ा:—

आफताब अंधेरे पर, अगनी ऊपर नीर ।
दुरसा कवि रै दुक्ख पर, बहरम खान वजीर ।।

वजीर ने कवि को अपने पास बुला कर फिर वही दोहा सुना । इसके वाद कवि ने निम्नलिखित दोहे और कहे:—

तूं बंदा अल्लाह का, मैं बन्दा तेराह ।
तेरा है मालिक खुदा, तूं मालिक मेराह ।।
पीर पराई मेटणा, एह पीर का काम ।
मेरी पीड़ा मेट दे, बड़ा पीर बहराम ।
वीभीषण वारिधि–तटे, मेटे एकै राम ।
अब मिलम्या अजमेर में, दुरसा को बे राम ।।

कहते हैं, अंतिम दोहे का अर्थ समझ कर तो बहराम अत्यन्त प्रसन्न हुआ और कवि को एक लाख रुपया बख्शिश में दे दिए ।

(३९)

हमारे देश में दान–स्तुति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचाओं को लीजिए:—

'हे अग्नि, ऋणंचय राजा के किंकर रुशम देशवासियों ने मुझे चार सहस्र गौएं देकर कल्याणकारक कर्म किया था । नेताओं के बीच श्रेष्ठ नेता ऋणचय राजा द्वारा प्रदत्त गोरूप रत्नों को मैंने ग्रहण किया है । (५/३०/१२)

हे अग्नि, ऋणंचय राजा के किंकर रुशम देशवासियों ने मुझे अलंकार और आच्छादन आदि से सुसजित गृह तथा हजार गौएं दी हैं । रात्रि के बीतने पर

अर्थात् उषाकाल में सरस सोम ने इन्द्र को प्रसन्न किया था। गौओं को पाकर बभ्रु ने तुरन्त ही इन्द्र को सोमरस पिलाया था)। (५/३०/१३)

रुशम देश के राजा ऋणंचय के समीप में ही सर्वत्र गमन करने वाली रात्रि बीत गई। बुलाये जाने पर बभ्रु ऋषि ने वेगवान् घोड़े की तरह चार सहस्र शीघ्र-गामिनी गौओं को प्राप्त किया। (५/३०/१४)

हे अग्नि, हमने रुशम देशवासियों से चार सहस्र गौएं प्राप्त की हैं। यज्ञ के लिए महावीर की तरह सन्तप्त हिरण्मय कलश को, हमने रुशम देशवासियों से दूध दुहने के लिए, ग्रहण किया है। (५/३०/१५)*

दानस्तुतियों की इसी प्रकार की परम्परा में बीकानेर के महाराणा रायसिंह के सम्बन्ध में कहे गये डिंगल के निम्नलिखित गीत को लीजिए :—

राया सिंघ चीतगढ़ राणा, बरमाला लेवा जिण बार।
पदमण महल तलाक पड़ंता, जग नै नयण दिया जूधार।
पदमण महल पौढ़तां पैली, अंरापत देतो इक आग।
इलपत रासै चित आलोझो, नग नग पैड़ी दीधा नाग॥

महाराजा रायसिंह जब चित्तौड़ विवाह के लिए आए तो उन्होंने महल की एक-एक सीढ़ी पर चढ़ते हुए कवियों को एक-एक हाथी और दस-दस घोड़े दान में दे दिये थे।

(४०)

प्रवाद प्रचलित है कि बिना मात्रा की मुड़िया लिपि का प्रचार टोडरमल द्वारा किया गया था जिसकी साक्षी का निम्नलिखित दोहा प्रायः सुनने में आता है :—

देवनागरी अति कठिन, स्वर-व्यंजन-व्यवहार।
ताते जग के हित सुगम, मुड़िया कियो प्रचार॥

(४१)

वि० सं० १४६५ में आंवरड़ी काठियावाड़ में बीसलदेव राभा नामक एक शूरवीर चारण रहता था। उसी के आदर्शों पर चलने वाले उसके ११ मित्र थे।

---

* द्रष्टव्य हिन्दी-ऋग्वेद (पं० रामगोविन्द त्रिवेदी) पृष्ठ ५७८—५७९

एक दिन बीसलदेव ने अपने ११ मित्रों को बुलाकर कहा कि जीते जी तो और भी बहुत से लोग अपनी मित्रता निभा लेते हैं किन्तु मैं चाहता हूँ कि हम सब अपने अंगों से खून निकाल कर यह लिखें कि हम एक साथ ही जियेंगे और एक साथ ही मरेंगे। सबने ऐसा ही किया। बीसलदेव राजा का एक शत्रु था जिसका नाम था कूकड़िया चारण। उसने अहमदाबाद के बादशाह के पास जाकर यह चुगली खाई कि बीसलदेव तो अपने सामने किसी को कुछ नहीं गिनता, गुजरात के बादशाह तक को वह अपना सिर नहीं झुकाता। इस पर बादशाह ने बीसलदेव पर चढ़ाई कर दी। जब बादशाह और बीसलदेव का आमना-सामना हुआ तो बादशाह ने पूछा-गुजरात के बादशाह के सामने भी तुम्हारा सिर नहीं झुकता ? चारण ने उत्तर दिया-मनुष्य का सिर मनुष्य के सामने क्या झुके ! जगदम्बा को छोड़ कर मेरा सिर किसी के सामने नहीं झुकता। ऐसा निर्भय मनुष्य बादशाह ने पहले कभी नहीं देखा था। बीसलदेव ने कहा कि यदि आप युद्ध करने पर तुले हुए हैं तो आप मेरी एक शर्त मंजूर कर लीजिए। मुझ समेत हम बारह मित्र हैं और हम में से प्रत्येक के पास एक-एक तलवार है। मैं चाहता हूँ, आप अपनी सेना को यह हुक्म दें कि वह हमसे तोपों-बन्दूकों से न लड़ कर केवल तलवार से लडे। बादशाह ने इस शर्त को मान लिया। बीसलदेव ने एक गोल चक्र बनाया और कहा कि आज सायंकाल तक हम लड़ेंगे और फिर इसी चक्र में बैठकर बारहों मित्र एक साथ प्राणोत्सर्ग करेंगे। इतना ही नहीं सबको अपने-अपने शरीर के यवमात्र अंग, जो भूमि पर कट कर गिर जायं, उन सबके पुरजे-पुरजे को अपने-अपने हथियार, अपने-अपने वस्त्र आदि के टुकड़े-टुकड़े को चुन-चुन कर चक्र में रखना होगा। चक्र के बाहर किसी की कोई भी चीज न रहने पाये। युद्ध प्रारम्भ हुआ। एक-एक चारण वीर पर शत्रुओं की असंख्य तलवारें पड़ने लगीं किन्तु प्रत्येक वीर शत्रु से अपने को बचा लेता और जहाँ उसकी तलवार पड़ती, शत्रु के दो टूक हो जाते। एक चारण वीर की तो अंतड़ियाँ निकल कर पैरों में लटक आई, तब भी वह अंतड़ियों को गले में डालकर शत्रुओं पर प्रहार करता रहा। एक वीर का पैर कट कर भूमि पर गिर पड़ा तो भी वह अपने कटे हुए पैर को हाथ में डाले, उसके सहारे दूसरे पैर से आगे बढ़ता हुआ शत्रुओं पर प्रहार करता रहा। बादशाह ने जब यह देखा कि ये १२ योद्धा उसकी सेना का सफाया किये जा रहे हैं तो उसने शर्त तोड़ दी और अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि वे तोप-बन्दूक जिससे भी चाहें, युद्ध करें। इस विश्वासघात को देख कर बीसलदेव के मन में बड़ा रोष उपजा। उसने अपने साथियों से कहा-अब हम अधिक जीने के नहीं, इसलिए प्रत्येक वीर को चाहिए कि वह अपने कटे हुए अंगों को चुन-चुन कर चक्र में ले जाकर रखे। इतना कह कर बीसलदेव बादशाह के पुत्र मुहब्बतखां की तरफ बढ़ा। हाथी के दाँतों और कुम्भस्थल पर पैर रख कर वह शाहजादे पर टूट पड़ा और ऐसे जोर से वार किया कि उसकी तलवार शाहजादे के शरीर को जनेऊ की तरह चीरती निकल गई। उस

को मार कर बीसलदेव चक्र में आ गया। सब वीर अपने-अपने लहू में मिट्टी सानकर पिण्ड देने लगे और उत्तर की ओर सिर करके एक दूसरे के बगल में सो गए। राजस्थानी कवि के शब्दों में—

गळ अंत्रावल् गेर, केसवगिर हरण केवियाँ।
अवयट वाही फेर, बीसल धिरण धिरण ऊचर्यो ।।१।।
पग कटियो रण खेत, लिखमण पण रुकियो नहीं।
कीरत निरमळ सेत, जातां जुगां न जावसी ।।२।।
बीसळ तेरी बात, अिळ ऊपर रहसी अमर।
तूं जायो जिण रात, कोई कळ नहँ आवियो ।।३।।

अर्थात् केशवगिरि ने शत्रुओं का संहार करके गले में अपने शरीर की आँतें डाल ली और फिर तलवार का वार किया जिसे देख कर बीसलदेव ने धन्य-धन्य कहा ।।१।। पैर कट गया पर फिर भी लक्ष्मण रुका नहीं। युग बीत जायेंगे पर उसका निर्मल श्वेत यश सदा बना रहेगा ।।२।। हे बीसल ! तेरा आख्यान पृथ्वी पर सदा अमर रहेगा। रात के जिस मुहूर्त में तू पैदा हुआ, उस समय कोई दूसरा पैदा नहीं हुआ ।।३।।

(४२)

गोराँ धाय ने राजकुमार अजीतसिंह जी की जगह अपने पुत्र को सुला दिया था ताकि औरंगजेब से राजकुमार की रक्षा की जा सके। ता० १४ जुलाई सन् १६७६ सोमवार को उक्त धाय ने भंगिन का वेश बनाया, राजकुमार को कूड़े-कचरे की टोकरी में रखा तथा छद्म-वेश में दिल्ली के शाही चौकीदार की आँख बचा कर बाहर निकल आई तथा राजकुमार को मुकुन्ददास खीची के हवाले कर दिया जिसने सपेरे का स्वांग भर रखा था। इस प्रकार गोराँ धाय की स्वामिभक्ति तथा अवसरोचित सूझ-बूझ के कारण राजकुमार अजीतसिंह सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिये गए थे।

जोधपुर के प्रसिद्ध घूंसा गीत में गोरां धाय के नाम का निम्नलिखित रूप में स्मरण किया जाता है—

मुकन जैदेव गेंरां जसधारी।
धिन दुरगो राखियो अजमाल, घूंसो बाजे रे ।।

उक्त वीरांगना स० १७६१ की ज्येष्ठ बदि ११ गुरुवार को अपने पति के साथ सती हुई थी।

(४३)

जब ईडर के राजा करणीसिंह जी का देहान्त हुआ तो उनकी पँचों रानियों

ने सती होने की इच्छा प्रकट की किन्तु अंग्रेजी रेजीडेंट ने उन्हें सती होने की आज्ञा नहीं दी। इस पर सतियों ने जालिमसिंह के पुत्र सूरजमल चौहान को पत्र लिखा। जब सूरजमल को पता चला कि लाश सड़ रही है, वह थाली पर से उठकर आधी रात के समय ईडर पहुँचा और प्रातः काल घमासान लड़ाई हुई, जिसकी साक्षी के निम्नलिखित दोहे प्रसिद्ध हैं:—

सतियां दाह सुण सूजड़ो, आयो खड़ अध रात।
धर राखण हिन्दू धरम, भयो जंग परभात॥
सतियां बाहरू संभरी, चढ़ आयौ चौहाण।
सूजो जालिमसिंघ रो, है मांझी हिंदुवाण॥

सूरजमल ने रेजीडेंट से मिलकर इस बात का प्रयत्न किया था कि करणी-सिंह जी की रानियों को सती होने की इजाजत दे दी जाय किन्तु जब रेजीडेंट ने उसकी बात नहीं मानी तो अंग्रेजों से युद्ध होना अनिवार्य हो गया–

मगर पचीसां माय, रूक बजाई रांगड़
सतियां करवा साय, अंग्रेजां सूजो अड़॥
गोरां सिर घमसाण, आया जद अंग्रेज रा।
गोरां हंदो घाण, सखरो काड्यो सूजड़ा॥

सूरजमल चौहान ने सन् १८५७ के लगभग अंग्रेजों से टक्कर ली थी जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध हैं-

जस औराँ जावेह, बीसा दस कोसां विचै।
महपत नह मावेह, सुजस इला पर सूजड़ा॥
कुन्नण रा कड़ियाह, पहरे सौ सारी पृथी।
जस कंकण जड़ियाह, कर सोहे थनैं सूजड़ा॥

अर्थात् अन्य लोगों का यश जहाँ १०-२० कोसों तक सीमित रहता है, वहाँ हे सूरजमल! तुम्हारा यश पृथ्वी पर नहीं समाता। सारा संसार स्वर्ण के कड़े पहनता है, किन्तु हे सूरजमल, यशरूपी कंगन से जड़े हुए हाथ तुझे ही शोभा देते हैं।

(४४)

जैसलमेर में यदुवंशी क्षत्रियों का राज्य था जो बाद में भाटी नाम से प्रसिद्ध हुए। भारत के अनेक नगरों में इनकी राजधानियाँ रही हैं। सम्भवतः इसीलिए निम्नलिखित दोहा प्रवाद के रूप में प्रचलित हुआ होगा:—

मथरा काशी प्रागवट, गजनी अर भटनेर।
दिगम दिरावल लोद्रवो, नवमों जैसलमेर॥

सं० १२१२ में रावळ जैसल द्वारा जैसलमेर किले का शिलान्यास किया गया था।

(४५)

१६ वीं शती के प्रारम्भ में जोधपुर के राजा मानसिंह जी को जब राजस्थान के बहुत से सरदारों ने घेर लिया तो उन्हें जोधपुर के किले में शरण लेनी पड़ी थी। उस समय "वृन्द सतसई" के रचयिता सुप्रसिद्ध वृन्द कवि ने निम्नलिखित दोहा कहा था :—

नाहर मान बाहर लियां, भिड़े जुग जाहर भूप।
आयो थाहर ऊपरै, रुपियो नाहर रूप॥

अर्थात् हे मानसिंह! तुम सिंह के समान हो। युगप्रसिद्ध राजा लोग शेर से भिड़ गए हैं। किन्तु शेर जब अपने स्थान पर आ गया तो उसने अपना असली रूप धारण कर लिया।

(४६)

१७ वीं शताब्दी के मध्य में मारवाड़ के गजसिंह ने उदयपुर के भीम सीसोदिया को मार डाला था। मोतीसर चतुरा ने इस पर एक पद्य कहा जिसका तात्पर्य यह था कि गजसिंह ने अपने अनेक साथियों के साथ भीम सीसोदिया की अन्यायपूर्वक हत्या कर दी है। यह सुनते ही गजसिंह चतुरा से नाराज हो गए और चारणों को हुक्म दे दिया कि वे चतुरा के माँगने पर कुछ न दें। दुखी होकर चतुरा महाराज गजसिंह से मिलने के लिए गया। रुष्ट होकर महाराज ने तलवार उठाई और चतुरा के ऊपर प्रहार करने ही वाले थे कि वह बोल उठा—

तूं तोलै तलवार, सिर केहा गजसीह दे।
हुय तुरकांने हार, हिंदुवाने उच्छव हुवै॥

अर्थात् हे गजसिंह! तुम किसके सिर पर तलवार उठा रहे हो? तुम्हारे द्वारा तलवार उठाने पर तुर्कों की हार हो जाती है और हिन्दुओं के यहाँ उत्सव होने लगता है।

इतना सुनते ही महाराज का सारा क्रोध जाता रहा और उन्होंने चतुरा को उसकी जमीन-जायदाद लौटा दी और उसे सम्मानित किया।

(४७)

प्रवाद प्रचलित है कि छोछू भाट ने विक्रम की १३ वीं शती के मध्य में बगड़ावतों के सम्बन्ध में १५०,००० छन्द लिखे थे। बगड़ावतों में भोज सर्वाधिक प्रसिद्ध था। जब कोई अनाप-सनाप खर्च करके ऐश-आराम में लग जाता है तो भोजा

वगड़ावत से उसकी तुलना की जाती है। बीलाड़ा के पास हर्ष नामक गाँव में बगड़ावतों की एक बस्ती थी जहाँ उन्होंने एक मन्दिर तथा सरोवर की पाल बनाई थी। सं० १२३० के आसपास का एक शिलालेख मन्दिर में मिलता है। वगड़ावतों के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है :—

बहिन कराइओ देवरो, भाई कर ई पाळ।
डूबण लाग्यो देवरो, फूटण लागी पाळ।

छोछू भाट ने वगड़ावतों को लेकर कहा—

बांका रैंज्यो कोम रा बाघरां, बांका गंज न कोइ।
बांकी बन री लाकड़ी, काट न सक्कै कोइ॥

(४८)

अनेक राजपूत नरेशों ने भी समय-समय पर डिंगल में रचना की है। जोधपुर के अजीतसिंह को जीवन भर औरंगजेब से कष्टों का सामना करना पड़ा था। अजीतसिंह ने जब औरंगजेब की मृत्यु का समाचार सुना तो उसके मुख से यह दोहा निकल पड़ा था—

आइय खबर अचिंत री, मिट गयो तन रो दाह।
कासीदां इम भाखियो, मर गयौ औरंगसाह॥

(४९)

शार्दूलसिंह जी के सबसे बडे पुत्र का नाम जोरावरसिंह था। मनुल्लाखां से युद्ध करते समय उनके चेहरे पर तलवार का घाव लग गया जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य प्रचलित है—

बणियो घाव बणाव, जोरा मोहरा ऊपरै।
जड़िया नगां जड़ाव, सोने में सादूलवत॥

अर्थात् शार्दूलसिंह जी के पुत्र जोरावरसिंह के मुख पर जो घाव लग गया, वह रत्नजटित स्वर्ण की भाँति सुशोभित हुआ।

(५०)

स्व० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के शब्दों में "भामाशाह कावडिया गोत्र के महाजन भारमल का बेटा था। महाराणा सांगा ने भारमल को रणथम्भोर का किलेदार नियुक्त किया था। पीछे से जब हाड़ा सूरजमल (बूँदी वाला) वहाँ का किलेदार नियुक्त किया गया, उस समय भी रणथम्भोर का बहुत सा काम इसी के सुपुर्द रहा। उसका बेटा भामाशाह वीर प्रकृति का पुरुष था और वह प्रसिद्ध हल्दी घाटी की लड़ाई में कुँवर मानसिंह की सेना से लड़ रहा था। पीछे से महाराणा

प्रतापसिंह ने उसको अपना प्रधान मन्त्री बनाया।" "भामो परधानी करै, रामो कीनो रद्द।"

भामाशाह की मृत्यु वि० सं० १६५६ में हुई। वह वीर, राज्य प्रबन्ध में कुशल,सच्चा स्वामिभक्त और विश्वासपात्र सेवक था।

भामाशाह के सम्बन्ध में श्री अगरचन्द जी नाहटा ने निम्नलिखित डिंगल गीत प्रकाशित करवाया है—

पछमाध धरा पूरव मैं पेखे, खग आबू गिरनार लग।
भांमौ जे वड चावरो भूपत, जायो न को जांमसै जग ।।१।।
काछ पचाल किराडू काबल, रांमा करे अखंडत राज।
सातां दीपां माँहि न सुणियो, इसडो न को वांणियो आज ।।२।।
अलगा भोम आछरे अलवर, हीतो विरद न कोइ लहो।
वांणंग जायो इसो वांणियो, कोई जे हुवै तो केथ कहो ।।३।।
भारमळौत तणो भरमंडल, यस वुद अचल जपै संसार।
सारंग जगड वेसा भराया, दागे भांमो जग दातार ।।४।।

हमारे देश में आख्यानों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। "ई० पू० १००० के लगभग अत्यन्त ही प्राचीन राजाओं के बारे में कितनी ही दन्तकथाएँ समाज में प्रचलित रही होंगी जिनको परम्परागत रूप से सुरक्षित रखा गया था। राज दरबार के भाट व कवियों ने इनकी रक्षा के निमित्त बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया होगा। ऋग्वेद के मन्त्रों में परोक्ष रूप से प्राचीन राजाओं के वर्णन का पता लगता है। उदाहरणार्थ पुरूरवा और उर्वशी का कथानक लिया जा सकता है। इस समय तक प्राचीन राजाओं सम्बन्धी कथानक व कहानियों ने एक निश्चित साहित्यिक स्वरूप धारण नहीं किया था। वर्तमान पुराणों में प्रयुक्त "स्मृतम्," अनुशुश्रुमः "इति नः श्रुतम," "यस्य श्लोकोऽद्यापि गीयते" आदि शब्दों से इन प्राचीन कथानकों के परम्परागत रूप से रक्षित रखे जाने का स्पष्ट बोध होता है।

कुछ काल के पश्चात् अथर्ववेद के समय इन लोकप्रिय कथानकों व दन्त-कथाओं को निश्चित साहित्य-स्वरूप दिया गया। यह कार्य और भी पहले से प्रारम्भ हुआ होगा। इस स्वरूप के सर्वप्रथम दर्शन हमें अथर्ववेद के उस उल्लेख द्वारा होते हैं जिसमें ऋक्, यजु, सामन् तथा छांदस् के साथ ही पुराण का उल्लेख है। इस स्वरूप का उत्तरोत्तर विकास ही होता गया।

महाभारत युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण दन्तकथाओं को संगृहीत रूप दे दिया गया था और इनमें आगे चलकर किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की जा सकती थी। किन्तु फिर भी महान् वीरतापूर्ण राजा होते ही थे जिनकी कीर्तिगाथा को प्राचीन वीरों के

समकक्ष रखना औचित्यपूर्ण ही था। इसी प्रकार राजाओं के दरबार में चारण व भाट भी रहते थे जो अपने आश्रयदाता के कीर्तिगान को अमर बनाना चाहते थे।"*

मैं समझता हूँ, राजस्थान ने भारत की प्राचीन आख्यान-परम्परा को सर्वाधिक सुरक्षित रखा है।

(५१)

कभी-कभी राजा लोग कवियों को इतना अधिक द्रव्य तथा लवाजमा दे देते थे कि कविगण भी राजसी ठाठबाट से रहने लगते थे। प्रवाद प्रचलित है कि एक बार कविराज पद्माकर के लाव-लश्कर को देखकर बूंदी वालों को यह भ्रम हो गया था कि कोई उनके राज्य पर चढ़ाई करने आ गया है। तब कविराज ने उनका भ्रम दूर करते हुए अपने आश्रयदाता का निम्नलिखित रूप में गुणगान किया था :

नाम पदमाकर डराउ मति कोऊ भैया,
हम कविराज हैं प्रताप महाराज के।

(५२)

चारण कवि जहाँ राजाओं को युद्धार्थ प्रोत्साहित करते थे, वहाँ कभी-कभी वे भी युद्ध-भूमि में जाकर अपने प्राणों का बलिदान कर देते थे। राजस्थान में कवि किसना के सम्बन्ध में कहा गया है :—

कवि किसनो लड़ केवियां,
झड़ पड़ियौ खग झट्ट॥

(५३)

वीसलदेव के पुत्र अर्णोराज ने प्रसन्न होकर सुकवियों को ३० करोड़ दान में दिये थे :

वीसल क्रोड़ां वीस, दीनी नाँही एक दिन।
सुकव्यां आनँ तीस, रीझ पजोई राजिया॥

(५४)

राजपूत योद्धाओं ने नारी के प्रति सदा सम्मान प्रदर्शित किया है। दुर्गादास ने अकबर की पुत्री को सम्मानपूर्वक रखा था जिसका उल्लेख "राजरूपक" में इस प्रकार हुआ है :

पुत्री अकबरसाह री, हुरमां नाजर दास।
पूछी औरंग प्रीत सूं, पूगी जिण दिन पास॥

---

* श्री शिवदत्त ज्ञानी : पौराणिक साहित्य का विकास (भारतीय विद्या पत्रिका. वर्ष 3, अंक १० पृष्ठ, १२५)

यां सारी दाखी अरज, ज्यां राखी दुरगेस ।
प्रीत तणैं गुण भीजियो, सुण रीझियों दिलेस ।।

(राजरूपक, पृ० ३४६)

(५५)

मुगल बादशाह ने महाराज अजीतसिंह को "तेग बहादुर" की उपाधि से सम्मानित किया था :

आदर कियो मिले असुरेसुर ।
दियौ नाम नृप तेगबहादुर ।।

(राजरूपक, पृ० ४२४)

(५६)

महाराज अभयसिंह ने अपने स्नेह-भाजन राठौड़ों के ऊपर पानी वार कर पिया था :

राजा पेखै राठवड़, देखैं भाग विचार ।
पियै पुराणी सेव गिण, ऊपर पाणी वार ।।

(राजरूपक, पृ० ३६७)

(५७)

राजस्थान के देशभक्त प्रसिद्ध क्रांतिकारी ठाकुर केसरीसिंह बारहठ को कौन नहीं जानता ? उन्होंने अपने समस्त परिवार को ही क्रान्ति की ज्वाला में झोंक दिया था। सन् १६१४ में उन्हें आजन्म कारावास की सजा हुई थी तथा उनकी शाहपुरा राज्यांतर्गत जागीर, विशाल हवेली और तमाम जायदाद जब्त करली गई थी।

उनके कोटा केस में पैरवी करने के लिए लखनऊ के प्रसिद्ध बैरिस्टर नवाब हामिद अली कोटा आये थे और दो महीने तक वहीं रहे थे। उन्होंने स्पेशल जज की अदालत में निम्नलिखित शेर ठा० केसरीसिंहजी के लिए कहे थे :

यह इरशादे अदालत है, उठो, तुम बहस को हामिद—
निगाहें मुल्जिमो की भी मगर कुछ तुमसे कहती हैं।
अदब से यह गुज़ारिश हो हुजर अब गौर से दम भर
इधर देखें कि नब्जे खून होकर दिल से बहती हैं।
लहू का एक दरिया जो न देखा जायगा हरगिज़
बहेगा इस जमीं पर खूबियां जां पैर रखती हैं।
इसी इजलास में याने कहेंगे किस्सा मुल्जिम का
वो मुल्जिम शायरे यकसां सभा में जिसको कहती हैं।

वो मुल्जिम उम्र जिसकी देश की खिदमत में गुजरी है—
वो मुल्जिम पानी होकर हड्डियां अब जिसकी बहती हैं।
वही मुल्जिम बराबर कैद जिसको हिरासत है
बदन में हड्डियां जितनी हैं सब तकलीफें सहती हैं।
वो मुल्जिम 'केसरी" के जां औ दिल से देश का हामी
वो जिसकी खूबियां इखलाक़ का दम भरती रहती हैं।
बहुत शौहरत सुनी है आपके इन्साफ की हमने
अदालत गुस्तरी की नदियाँ हर सिफ्त बहती हैं।
महाराजा के साये में वही नांव रहे हामिद
रियासत की भलाई ही दुआएं हक से कहती हैं।

एक मुस्लिम बैरिस्टर का पैरवी के लिए आना विशेष महत्व रखता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अनेक अवसरों पर भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में किस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों ने राष्ट्रीय ऐक्य की भावना से काम किया था।*

(५८)

कविराजा मुरारिदानजी महाराज जसवन्तसिंहजी के राजकवि थे। वे राज-काज में बहुत हस्तक्षेप करते थे। उनके हस्तक्षेप से तंग आकर एक दिन मुसाहिब शिवदानमलजी ने कविराजा की वेशभूषा पर व्यंग्य करते हुए कहा—

कवराजा मुरार रै, फतवी रै फड़का।
के पैरणवाला बेसमझ, कै दरजी लड़का॥

किन्तु कविराजा कब चूकने वाले थे? उन्होंने उक्त पद सुनते ही तत्काल उत्तर दिया :—

क्यूं बिना ज्ञान कविता करो कर-कर ऊंचा कानिया।
कवि-धरम परम निभणो कठण, सांग नहीं सिवदानिया॥

(५९)

मेहताजी घमण्डीरामजी मालानी और कविराजा मुरारिदानजी में घनिष्ठ मित्रता थी। उन दिनों मालानी का हाकिम मुहम्मदखाँ था जो जनता पर असह्य अत्याचार कर रहा था। मेहताजी ने लोगों का सोलह आना विश्वास प्राप्त कर महाराजा के पास हाकिम की शिकायत पहुंचाने का निश्चय कर लिया, किन्तु बाद

---

*श्रीमती राजलक्ष्मी देवी साधना के एक लेख से साभार।

में कविराजा के समझाने-बुझाने से हाकिम ने हाथ जोड़ कर मेहताजी से क्षमा-याचना करली। इसकी साक्षी में निम्नलिखित दोहा कहा जाता है :—

घमण्डीराम घोड़ै चढ़े, सोलह आना साथ ।
जाण धणी जोधाण रो, हाकम जोड़ै हाथ ।।

उक्त दोहे से स्पष्ट है कि राजस्थान के चारण कवि मात्र कविता करने वाले ही नहीं थे, वे अनेक लोकोपयोगी कार्यों में भी अपना योग दिया करते थे।

(६०)

अकबर बादशाह ने अपने किसी शत्रु को परास्त करने के लिए बूंदी के राव-राजा भोजराज को भेजा; साथ में जयपुर के महाराज भी थे। भोजराजजी ने अकेले ही शत्रु को परास्त कर दिया। भोजराजजी को सन्तुष्ट करने के लिए शत्रु ने बहुमूल्य और अत्यन्त देदीप्यमान हीरा दिया जिससे उसकी प्राण-रक्षा हो गई। इस हीरे का सब रहस्य महाराज मानसिंह को मालूम था। उन्होंने भोजराजजी के विरुद्ध बादशाह के कान भर दिये। इस पर बादशाह ने भोजराजजी से वह हीरा मांगा और कहा कि इस हीरे को तो जरा मैं देखना चाहता हूँ। भोजराजजी ने अपनी कटारी दिखला कर कहा, "जो हीरा मैंने प्राप्त किया था, वह मेरी इस कटारी में जड़ा हुआ है, जिस किसी की हिम्मत हो, वह लेले"। पर किस की सामर्थ्य थी जो इस साहस के पुतले की ओर आगे बढ़ता। वहीं महाराज मानसिंहजी के यहाँ रहने वाले कुम्हारिया (जयपुर) के गंगादासजी नामक एक चारण थे जिन्होंने इस विषय का तुरन्त एक गीत सुनाया जिसकी कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

"हीरो नांह दियो राव हाडै, हाडै दियो कटारी हाथ ।
नग न दियौ पतसाह नरखवा, दिय सूतर ऊपर जमदाढ ।
इण मंह छै सो लयण कोई आवो, भोगलियाळ दिखावै भोज ।
पूछ पठाण राय ज य पूछो, देता आया तको दिया।"

अर्थात् हाडा राव ने हीरा नहीं दिया, वे कटारी पर अपना हाथ दिये रहे। बादशाह को निरखने (देखने) के लिए भी उन्होंने हीरा नहीं दिया, लेकिन अपनी नजर कटारी पर डाल कर बादशाह को कटारी निरखने का संकेत दिया और बादशाह से कहा कि नग तो इस कटारी में जड़ा हुआ है, किसी की हिम्मत हो तो ले ले। उन्होंने अपनी कटारी दिखलाते हुए कहा कि पठान से पूछलो तथा सरदारों से पता लगा लो, हम तो इसी तरह देते आये हैं, वही आज भी दे दिया।

गीत को सुनकर महाराज मानसिंहजी ने कवि से कहा कि जागीर तो तुमने मुझ से प्राप्त कर रखी है और गीत किसी दूसरे के गाते हो। गंगादासजी ने उत्तर दिया, "चारण किसी की लल्लो-चप्पो नहीं करता, वह सच्ची बात कहने में किसी

से भय नहीं खाता। राव भोजराजजी के पास यदि हीरा रह जाय तो आपका क्या बिगड़ता है ! भोजराजजी गंगादासजी को अपने यहाँ ले गये और बारह हजार की जायदाद उनको देदी।

उक्त गीत की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में श्री सुरजनसिंह शेखावत ने मुझे अपने १७-६-५५ के पत्र में लिखा था—

'राव भोज बूंदी के राव सुरजन के पुत्र थे। राव सुरजन के बड़े पुत्र दूदा तथा छोटे भोज थे। दूदा उद्दण्ड था और बादशाह से बागी होकर, राणा प्रताप से जा मिला था। भोज बादशाह का वफादार रहा और सदा ही शाही सेवा में रहा। आमेर के कुंवर और बाद में महाराज मानसिंह अकबर के ऊंचे से ऊंचे मनसबदारों में थे। अकबर के आखिरी समय में वे सातहजारी मनसब तक पहुँच गये थे जब कि उसी समय के आसपास राव भोज केवल नौसदी मनसबदार ही था। राव भोज का पुत्र राव रतन हाड़ा जहाँगीर के शासन-काल में अलबत्ता बहुत उन्नति कर गया था। किन्तु राव भोज अकबर के समय तक एक हजारी मनसबदारों की श्रेणी से भी नीचे का मनसबदार था। (ये बातें अकबर नामा के आधार पर लिखी गई हैं।)

अब देखने की बात यह है कि मुगलों के समय में बड़े मनसबदार के नेतृत्व में कुँवर मानसिंह जैसा शुरू से ही बड़ा मनसबदार कहीं भी नहीं भेजा जा सकता था। सिवाय शहबाजखां के राजा मानसिंह किसी भी मुसलमान मनसबदार की अधीनता में भी नहीं भेजे गये। जहाँ कहीं, काबुल, बंगाल आदि में वे गये, स्वयं सेनापति की हैसियत से गये। राव भोज का भी उनके साथ जाना ज्यादातर पढ़ने में नहीं आया। केवल सं० १६४८ में उड़ीसा के पठानों की बगावत को दबाने के लिए राजा मानसिंह सेनापति बनाकर भेजे गये थे। उस समय उनके नीचे राजा संग्राम, सगर, चतरसेन, भोपत राठोड़ आदि राजपूत सरदारों के अलावा राव भोज हाडा का भी नाम मिलता है। उस स्थल पर केवल इतना-सा ही लिखा मिलता है कि "कड़ा मुकाबला हुआ, पठान भग गये और शहर जलेसर फतह हुआ। राजा वापिस बिहार में अपने सदर मुकाम पर आया।"

हीरे वाली यह घटना मुझे कहीं पढ़ने को नहीं मिली। सम्भव है, छोटी घटना हो। राव भोज के साथ के किसी छोटे राजपूत सरदार या मुसलमान उमराव ने राजा भोज की शिकायत उससे बड़े किसी सूबेदार से की हो या, हो सकता है, स्वयं बादशाह से की हो, परन्तु इस घटना का सम्बन्ध महाराज मानसिंह, आमेर से जोड़ना तो इतिहास की अवज्ञा करना हैं।"

हीरे वाले प्रसंग के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा ने अपने २५-१२-६८ के पत्र में सूचित किया है—

'यह कथा वंशभास्कर की षष्ठराशि के सप्तदश मयूख में वर्तमान है। इस हीरे की प्राप्ति सूरत के युद्ध में हुई थी। मानसिंह ने इस हीरे की सूचना अकबर को दी थी। हीरे का मूल्य साठ हजार द्रम्म था। भोज ने अनेक अन्य अवसरों पर भी अकबर की आज्ञा का उल्लंघन किया था।

टॉड ने भी बूंदी के इतिहास में भोज की अक्खड़ वृत्ति का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि जोधाबाई की मृत्यु होने पर उसने मूंछें न मुंडवाई थी। सूर्यमल्ल ने यही घटना अकबर की माँ के मरने पर दी है। शायद दोनों ही घटनाएं कल्पित हैं। जोधाबाई की मृत्यु जहांगीर के समय में हुई थी। हमीदा बानू बेगम की मृत्यु सन् १६०४ में हुई। इसलिए इसमें कोई तिथिगत दोष तो नहीं है।" उक्त गीत की ऐतिहासिकता गवेष्य है। आशा है, इतिहास के अन्य विद्वान भी इस पर प्रकाश डालेंगे।

(५१)

देपालदे अमरकोट का सोढ़ा राजपूत था। जैसलमेर उसका विवाह हुआ था। वह गौने के लिए आया। पाँच सात दिन ससुराल रहा। फिर रथ लेकर चला। मार्ग में एक तालाब के पास सब लोग उतरे। दतौन कुल्ले किये; कलेवा किया। फिर रथ जुतवा दिया। देपालदे स्वयं 'अमलपानी' करके सबके पीछे-पीछे सवार होकर चला। रथ कोई आधा कोस आगे जा रहा है। स्वयं अकेला सवार हुआ पीछे चलता है। इतने में देखता क्या है कि एक चारण हल चला रहा है। हल में एक बैल जुता है। दूसरे बैल की जगह अपनी स्त्री को जोत रखा है। चारणी का पसीना झर-झर पैरों में उतर रहा है।

देपालदे ने यह बनाव देखा। देख कर कहा, चारण, क्या दूसरा बैल नहीं है?" चारण ने कहा, "स्वामी राजा! ऐसा दातार राजपूत तो कोई नजदीक-सा है नहीं जिसके पास जाकर माँग लूँ। इसलिए स्त्री को ही जोत रखा है। देखा कि अकाल का उतार हो गया है, मेह बरस गया है जो रेख खींच लूँ (हल से जितना जोत लूँ) वही अच्छा।" तब देपालदे बोला, 'मेरा रथ आगे जा रहा है। मेरे साथ चल जिससे तुझे बैल दूँ।" चारण ने कहा, "स्वामी राजा! मैं नहीं आता। बैल के लिए आप तो कहते हैं पर ठकुरानी आगे देने नहीं देगी।"

राजा ने कहा, "तो तेरी स्त्री को भेज जिससे बैल दूँ।" चारण ने कहा, "जी, स्त्री को नहीं भेजूँगा। हल चलाना बन्द हो जायेगा"। तब राजा ने कहा, "हल मैं चलाऊँगा।" तब देपालदे हल में जुता। कोड़ा चारणी को दिया और कहा-"जा बैल एक ले आ।" तब चारणी गयी। आगे रथ धीरे-धीरे हाँक रहे कि ठाकुर आ पहुँचे। चारणी ने जाकर ताजणा दिया और कहा-"जी, ठाकुर ने एक बैल दिलवाया है।" तब चाकर ने ठकुरानी से यह बात कही। ठकुरानी चारणी

के नजदीक आई। चारणी ने कहा, "जी, बैल एक दिलवाया है।" तब ठकुरानी बोली, "इस बैल के साथ तुम्हारा बैल जुतेगा नही और एक बैल से तुम्हाराकाम नही बनेगा।" फिर चाकरों से कहा, "चारणी को दोनों बैल दे दो और पहुंचा आओ।" तब चारणी आशीष देकर चली। बैल ले आयी। ठाकुर हल को छोड़ कर चला। घोड़े पर चढ़ा। चारण ने आशीष दी। ठाकुर ने रथ के पास आकर स्त्री से कहा, "तुमने अच्छा काम किया जो दोनों बैल दे दिये।" फिर नये बैल मँगवाये, रथ जोत कर घर गये।

चारण का खेत निपजा। रेखा तीन देपालदे ने खिचवायी थी सो उनमें जुवार के जो पौधे थे, उनमें जुवार के सिट्टे नहीं निकले, मक्के की तरह सिट्टे निकले। चारण ने सिट्टों को उखाड़ा, देखता क्या है कि सिट्टों के भीतर दानों की जगह मोती हैं। तब चारण ने सिट्टे इकट्ठे करके मोती निकाले, तब चारण कहता है—

जो जाणूं जिण वार, निज भल मोती नीपजै।
बाहूं तो बड वार, दीहूं सूं देपालदे॥

अर्थात् उस समय यह जानता कि इस प्रकार मोती निकलेंगे तो हे देपालदे ! बड़ी देर तक, सारे दिन, तुझी से हल चलवाता।*

इस उपाख्यान के साथ श्री रवीन्द्रनाथ द्वारा लिखा हुआ निम्नलिखित गद्य-काव्य पढ़िए तो आनन्द आ जाय।

'मैं गाँव में घर-घर भीख माँगने गया हुआ था। तब तेरा स्वर्ण-रथ एक सुनहले स्वप्न की भाँति दूर दिखाई दिया और मैं आश्चर्य करने लगा कि यह सम्राटों का महिमामय सम्राट कौन है ? मुझे उम्मीद बँधी कि मेरे बुरे दिनों का अब अंत होने वाला है। मैं बिना माँगे दान की प्रतीक्षा में खड़ा रहा-उस ऐश्वर्य के लिए भी, जो धूल में सब तरफ बिखरा पड़ा है। जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ आकर तेरा रथ रुका, तेरी नजर मुझ पर पड़ी और तू मुस्कराते हुए नीचे उतर आया। मैंने अनुभव किया कि मेरे जीवन का सौभाग्य अंत में लौट आया है। तब एकाएक तूने अपना दायां हाथ बाहर निकाल कर मुझसे कहा—क्या दोगे ?

ओह ! यह कितना बड़ा परिहास था। एक भिक्षुक के आगे अपने हाथ फैलाना। मैं बड़ी उलझन में पड़ गया। तब मैंने अपने झोले में से धीरे-से अन्न का एक छोटा-सा दाना निकाला और तुझे दे दिया। परन्तु मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब सूर्यास्त के समय मैंने जमीन पर अपने झोले को खाली किया

---

* राजस्थानी भाग ३, अंक २

तो एक सोने का दाना उस पर आ गिरा। मैं रोने लगा और सोचने लगा कि काश, मैंने सर्वस्व तुझे सौंपने की हिम्मत की होती।"

लोकाख्यानों को भी गुरुदेव किस प्रकार काव्य के साँचे में ढाल कर उनको नितान्त नवीन रूप दे दिया करते थे, यह देखते ही बनता है।

(५२)

दक्षिण से सूबेदार मीर खांनजहां ने शाहजहां से कहा था—हिन्दू लोग हमसे दो बातों में बढ़ कर हैं (१) धड़ से सिर जुदा होने पर भी वे लड़ते रहते हैं और (२) धड़ से गिर जाने पर उनकी बीबियां उनके धड़ के साथ जल कर सती हो जाती हैं।

यह सुनकर शाहजहाँ ने कहा कि इन दोनों बातों को हम अपनी आँखों से देखना चाहते हैं। छः महीनों की अवधि के भीतर यदि तुम इन दोनों बातों को साबित नहीं कर सके तो कोरी शेखी बघारने के फलस्वरूप तुम्हें मौत का दण्ड दिया जायेगा।

इतना सुनना था कि बेचारे मीर के तो पैरों तले की जमीन खिसक गई और उसके होश-हवास गुम हो गये। किन्तु जोधपुर के महाराज गजसिंह ने मीर साहब को ढाढ़स दिया और अपने सरदारों की एक सभा की जिसमें उनको सारी परिस्थिति से अवगत कराया। महाराज ने राजपूती आन-बान पर एक जोशीला वक्तव्य दिया और अपने सरदारों में बीड़ा घुमाया। तोगा नामक एक राजपूत युवक ने तलवार को म्यान के बाहर निकाल कर कहा—"इस सेवक का धड़ माथा पड़ने पर भी लड़ता रहेगा, इस बात का बीड़ा मैं उठा रहा हूँ किन्तु दूसरी बात पर मेरा वश नहीं क्योंकि मैं अभी अविवाहित हूँ।"

यह सुनते ही महाराज हर्ष-विह्वल होकर कहने लगे, "तोगाजी ! तुम्हे रंग है, तुम्हें धन्य है। तुमने आज क्षत्रियों की लाज रख ली।"

अब महाराजा साहब ने दूसरा बीड़ा फिराने की आज्ञा दी। बीड़ा घुमाने पर एक भाटी सरदार ने बीड़े को उठाते हुए कहा, "तोगाजी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा और मेरी लड़की तोगाजी के साथ सती हो जायगी।"

तोगाजी और भटियाणी का धूम-धाम के साथ विवाह हुआ। सरदारों की इच्छा हुई कि बादशाह से कह कर १२ महीनों की अवधि बढ़ा लेनी चाहिए, जिससे तोगा का वंश कायम रहे। तोगा और भटियाणी से जो पुत्र उत्पन्न होगा, उससे क्षत्रिय वंश का गौरव बढ़ेगा।

किन्तु यही प्रस्ताव जब भटियाणी के सामने रखा तो उसने उत्तर दिया, "यदि बादशाह ने अवधि बढ़ा भी दी और हम दोनों में कोई खंडित हो गया तो

मीर साहब का क्या हाल होगा और राजपूतों की आन-बान की भी रक्षा कैसे होगी ? मरना-जीना तो ईश्वराधीन है, काल की गति कोई जान नही सकता। यदि हम यह सुअवसर चूक गये तो भविष्य में न जाने क्या होगा ?"

भटियाणी का प्रस्ताव ही सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और अवधि के भीतर ही राजपूतों की विशाल सेना आगरे की ओर बढ़ी। युद्ध के लिए प्रयाण करने से पहले तोगाजी ने अपनी माता से आज्ञा प्राप्त की। माता का हृदय हर्ष से फूला न समाया। अन्त में शाही सेना और राजपूती सेना की मुठभेड़ हुई। बादशाह ने गुप्त रूप से एक बहादुर इक्के को तोगाजी का सिर उतारने के लिए तैनात कर दिया था, किन्तु तोगाजी की त्वरा के सामने इक्के की चाल न चली। इक्का अपने वार करने की दूरी से कुछ ही दूर रह गया था कि तोगाजी ने बिजली-वेग से तलवार निकाल कर अपना सिर काट डाला। महाराज गजसिंह ने सिर को धरती पर नहीं पड़ने दिया, उसी क्षण सिर को हाथ में लेकर इक्के का टुक्का कर दिया।

इसके बाद तोगाजी का कबन्ध जिस वीरतापूर्वक लड़ा, उससे शाही सेना के छक्के छूट गये। शाहजहाँ ने स्वयं जनाने महल में पहुंच कर अपने प्राण बचाये। तोगाजी का धड़ शाही सेना में कहर ढाता रहा। बादशाह ने जब उत्तरोत्तर अपने सैनिकों की मृत्यु-संख्या में वृद्धि होते देखा तो तीसरे दिन उसने रास्ते में पानी में घुली हुई नील छिड़कवादी। तोगाजी के घोड़े का पाँव ज्यों ही उससे लगा, धड़ शान्त हो गया। धड़ को लेकर रानी भटियाणी सती हो गई।

राजस्थान में तोगा की तलवार को कहावती ख्याति प्राप्त हुई। निम्नलिखित दोहा आज भी प्रायः कहावत की भाँति उद्धृत किया जाता है—

कट्टारी अमरेस री, तोगारी तलवार।
हाथळ रायसिंघ री, दिल्ली रे दरबार।।*

(५३)

रेसामिया बड़ा सरदार था। जो कोई माँगने आता, खाली हाथ नहीं लौटता था। किसी को 'ना' कहना वह जानता ही नहीं था। उसके मुसाहिब उसे कहने लगे, "यदि आप अपना सारा धन-द्रव्य याचकों को दे बैठेंगे तो आपके पास कुछ रहेगा नहीं – आप हाथी दान में दे डालते हैं इच्छानुसार घोड़े और ऊंट भी आप मांगने वाले को दे देते हैं।"

रेसामिया ने अपनी माँ से कहा, "मुझे मेरे मुसाहिब दान देने से मना करते हैं, किन्तु दान देना मेरा तो व्यसन है। चारण, भाट, ब्राह्मण जो भी मुझसे माँगने

* (इस उपाख्यान के रोमाचक वर्णन के लिये पढ़िए 'अनोखी आन'। श्री बदरीप्रसाद साकरिया)

के लिए आते हैं, मैं किसी को इन्कार नहीं करता। मुझसे तो कोई मेरा मस्तक भी माँगे तो भी मैं देने के लिए तैयार हूँ। मेरे भाई भी मेरी इस दानशीलता से नाराज हैं। अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ?" रेसामिया की माँ ने अपने अन्य पुत्रों को बुला कर निम्नलिखित दोहा सुनाया—

देणो दोरो होय, दाता पाण दीजिये।
नाम न जाणे कोय, एकण दीनै बाहरो ।।

दान देना बड़ा कठिन कार्य है, दाता में ही दान की शक्ति पाई जाती है। दान के बिना किसी का कोई नाम नहीं जानता। संस्कृत के एक सुभाषितकार ने कहा है—

'विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम्।

वैभव और दान-शक्ति बड़े भारी पुण्य का फल है।

रेसामिया की माँ ने अपने सभी लड़कों को आगे समझाते हुए कहा, "हे पुत्रो ! रेसामिया को दान देने से मत बरजो; दान के बिना आज तुम्हारे पिता का भी कोई नाम नहीं जानता। दान ही मनुष्य को अमर बनाता है। 'जननी जणै तो दोय जण के दाता के शूर'। रेसामिया को जन्म देकर मेरा 'जननी' नाम सार्थक हो गया।"

इस प्रकार रेसामिया के दान का क्रम चलता ही रहा। एक बार जब देश में अकाल पड़ा तो भाइयों ने फिर उसे दान देने से मना किया और यह भी कहा कि भाट-चारण केवल जीवित व्यक्तियों का यश बखानते हैं। इस यश के पीछे क्यों पड़े हो ?

रेसामिया ने इसकी परीक्षा करनी चाही और यह घोषणा करवा दी कि रेसामिया की मृत्यु हो गई। सब भाई-बन्धु रेसामिया को श्मशान की ओर ले चले। रास्ते में चार चारण मिले। जब उन्हें पता चला कि रेसामिया को ले जाया जा रहा है तो उन्होंने रेसामिया की प्रशंसा में अनेक दोहे कहे जिनमें से नमूने के लिए दो दोहे यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

मरे त मांगण हार, मांगण जण मेले अमर
कहि जासी कुदतार, रडवडतो रेसामिया ।।
दीना बिने दिहाह, वाका एकण वारमो।
मेहलिए मूकाह, रेह लिए रेसामिए ।।

इतना सुनना था कि रेसामिया कपड़े पहन कर उठ बैठा और भाइयों से कहने लगा, "तुमने जो कहा था, वह सच नहीं, ये चारण तो मृत्यु के बाद भी मेरा यशोगान कर रहे हैं।"

यह कह कर रेसामिया ने चारणों को यथेच्छ घृत, धान, चीनी आदि दी जिससे दुर्भिक्ष के समय उनको कष्ट न हो। ऐसा था रेसामिया।

(५४)

वीर-शिरोमणि महाराज श्री शार्दूलसिंहजी का जन्म वि० सं० १७३८ के लगभग हुआ। आपकी बाल्यावस्था अपने नाना के यहाँ व्यतीत हुई। उस समय की एक घटना यहाँ उल्लेखनीय है। डुमरूखां राजाओं, ठाकुरों और सामन्तों के यहाँ बिक्री के लिए घोड़े लाया करता था। उसके पास एक नीले रंग का बहुत ही उत्तम जाति का घोड़ा था जिसे देख कर शार्दूलसिंहजी का मन चल गया। किन्तु उनके नाना कहने लगे, "इस नीले घोड़े की कीमत चुकाने की सामर्थ्य मेरी नहीं है।" नाना का निषेधात्मक उत्तर सुनकर भी शार्दूलसिंहजी निराश नहीं हुए। उन्होंने बड़े साहस और अपनी अद्वितीय सूझ-बूझ से घोड़े को हस्तगत कर लिया और डुमरूखाँ को भी कुछ ले-देकर संतुष्ट कर दिया।

आपकी युवावस्था की एक अन्य घटना से भी आपके शौर्य और साहस का पता चलता है। सं० १७७४ में झुंझुनू का अंतिम नवाब रुहेलाखाँ था। जब श्री शार्दूलसिंहजी उक्त नीले घोड़े पर सवार होकर नवाब के यहाँ पहुँचे, तो नवाब ने उनकी योग्यता पर प्रसन्न होकर उन्हें अपने सामन्तों में प्रतिष्ठित पद प्रदान किया। उस समय पचोदा का एक डाकू, जिसका नाम ट्रटिया था, बड़ा उपद्रव किया करता था। नवाब ने उसके दमन का कार्य शार्दूलसिंहजी को सौंपा। ट्रटिया कांट ग्राम के एक तालाब पर ठहरा करता था। शार्दूलसिंहजी ने एक बार मौका पाकर उसका काम तमाम कर डाला। इस वीर-शिरोमणि की ख्याति दिन पर दिन बढ़ती गई। संवत् १७८० में वे नवाब के मुख्य मंत्री बने तथा सं० १७८६ में नवाब की मृत्यु होने पर सं० १७८७ में उन्होंने झुंझुनू पर अपना अधिकार कर लिया जिसकी साख का निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

सतरा सै सत्तासिये, अगहण मास उतार।
सादै लीनी झुंझणू, सुद आठैं शनिवार॥

आपने जोधपुर से बीकानेर की रक्षा करवाने में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंहजी का साथ दिया था।

महाराज शार्दूलसिंहजी की वीरता के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रायः सुना जाता है—

सादूलो जगराम कौ, सिंघल बुरी बलाय।
राम दुहाई फिर गई, ल्हुकती फिरै खुदाय॥

शार्दूलसिंहजी की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गई। झुंझुनू, सिंघाना, नरहड़ आदि कई परगनों पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया था। इसके अतिरिक्त ८४ गाँवों के साथ उन्होंने सुलताना भी ले लिया था। उनके अधिकृत गाँवों और कस्बों की संख्या करीब एक हजार तक पहुँच चुकी थी। शार्दूलसिंहजी के यश का बखान किसी कवि ने निम्नलिखित रूप में किया है—

इण राजा सादूल पकड़ बूंदी बिचलाई।
इण राजा सादूल लंक जिमि रिणी लुटाई॥
इण राजा सादूल लिया बैराठ सिंघाणा।
इण राजा सादूल दिया नरहड़ सिर थाणा॥[1]

[ता ३१-३-६६ को रामनवमी के शुभ दिवस पर बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के मन्त्री श्रीशुकदेवजी पांडे की अध्यक्षता में झुंझुनू के बादलगढ़ में एक समारोह किया गया जिसमें डावड़ी के ठाकुर साहब कर्नल श्री हरनाथसिंहजी ने वीर-शिरोमणि श्रीशार्दूलसिंह जी की प्रतिमा का अनावरण किया। इस अवसर पर लेखक द्वारा दिये गये भाषण का कुछ अंश ऊपर उद्धृत है। उक्त गढ़ का जीर्णोद्धार दानवीर सेठ श्री जुगलकिशोरजी बिड़ला द्वारा करवाया गया।]

(५५)

जोधपुर के महाराज मानसिंह राज्य से तटस्थ होकर योगी की भाँति रहने लगे थे। कोई मिलने जाता तो उसे रईसी 'कुरब' नहीं देते थे। एक बार पोलीटिकल एजेण्ट मिलने आया तो उसका भी स्वागत-सत्कार नहीं किया; जैसे सबसे मिलते, वैसे ही उससे भी मिले। मदोरा-निवासी श्री भोपालदानजी सांदू जब महाराज से मिलने के लिए जाने लगे तो लोगों ने कहा, "महाराज अब पहले वाले महाराज नहीं रहे, आपका उनसे मिलना बेकार है; वे कोई विशेष सत्कार आपका नहीं करेंगे।" भोपालदानजी ने कहा कि महाराज मानसिंह अपने जीते-जी ऐसा नहीं करेंगे। वे मिलने के लिए गये और महाराज की प्रशंसा में निम्नलिखित दोहा पढ़ा—

नीम थंभ कैइ पाट नृप, छत कपाट के छज्ज।
धरम देवलय कलस धज, धिनो मान कमधज्ज॥

अर्थात् धर्म रूपी देवालय के लिए कुछ नरेश तो नींव के समान हैं, कुछ खम्भे की तरह हैं, कुछ पाट (काठ की पट्टी), कुछ किवाड़ और कुछ छज्जे की भाँति हैं, किन्तु धन्य है राठोड़ मानसिंह को जो इस देवालय के कलश की ध्वजा रूप हैं।

इतना सुनना था कि महाराज कवि से बाँह पसार कर मिले। कहते हैं कि बर्ताव की इस भिन्नता पर जब पोलीटिकल एजेण्ट ने आपत्ति उठाई तो महाराज ने उत्तर में कहा था—

---

१. खेतड़ी का इतिहास (पं० झाबरमल्ल शर्मा) पृ० ३९

'सांदू हूंपै सेवियौ, साहब दुर्जनसल्ल ।
बिड़दां मायो बोलियौ, गीतां दूहां गल्ल ।।"

रावल दूदाजी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे मुसलमानों के साथ युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त हुए थे। उनकी रानी ने सांदू हूंपाजी से अपने पतिदेव का सिर ला देने के लिए कहा, ताकि वह सती हो जाय। हूंपाजी युद्ध क्षेत्र में गये, किन्तु वहाँ कटे हुए सिरों के ढेर में सिर पहचाना नहीं जा सकता था। तब हूंपाजी ने अन्य कोई उपाय न देख, रावलजी की विरुदावलि का बखान किया, जिसे सुनकर सिर हँस पड़ा था। महाराज मानसिंह के कहने का तात्पर्य यह था कि कवि की वाणी व्यर्थ नहीं जाती; उसमें अमोघ शक्ति होती है। कवि की वाणी तो जड़ का भी चेतन से सम्पर्क करा देती है। वाणी का वरद-हस्त जिन कवियों के मस्तक पर रहता है, उनसे मैं सामान्य जन से भिन्न विशिष्ट बर्ताव कैसे न करूँ ?

(५६)

जयपुर के महाराज मानसिंहजी ने जब बंगाल के राजा प्रतापादित्य पर विजय प्राप्त की थी, तब वे प्रतापादित्य की इष्टदेवी 'शिला देवी' को भी आमेर अपने साथ ले आये थे और मूर्ति की भी उन्होंने विधिवत् प्रतिष्ठा करवा दी थी। बंगाल में उस समय नर-बलि दी जाती थी। कहते हैं, आमेर में भी कुछ समय तक यह प्रथा प्रचलित रही। नर-बलि की प्रथा को बुरा तो प्रायः सभी समझते थे, किन्तु महाराज मानसिंह के सामने साँस तक निकालने की हिम्मत किसी की न होती थी। अंत में एक चारण ने इस प्रथा का विरोध करते हुए निम्नलिखित दोहा कह सुनाया—

बकर कसाई बोबड़ा, कलम कसाई केक ।
मिनख मार रच्छा चहैं, मान कसाई हेक ।।

अर्थात् बकरे काटने वाले कसाई बहुत हैं, कलम से हुक्म लिखकर दूसरों की हत्या करने वालों की कमी नहीं है, पर मनुष्यों की हत्या करके देवी से अपनी रक्षा चाहने वाले हे मानसिंह ! तू एक ही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि बकर-कसाई बहुत हैं, कलम-कसाइयों की भी कमी नहीं है, पर 'मिनख-कसाई' तो हे मान ! तुझ जैसा कोई दूसरा नहीं ! कवि की वाणी असर कर गई और कहा जाता है, तभी से आमेर में नरबलि भी बंद हो गई।

(५७)

कभी-कभी राजा लोग कवियों को इतना अधिक द्रव्य तथा लाजमा दे देते थे कि कविगण भी राजसी ठाठबाट से रहने लगते थे। प्रवाद प्रचलित है कि एक बार

कविराज पद्माकर के लाव-लश्कर को देखकर बूंदी वालों को यह भ्रम हो गया था कि कोई उनके राज्य पर चढ़ाई करने आ गया है। तब कविराज ने उनका भ्रम दूर करते हुए अपने आश्रयदाता का निम्नलिखित रूप में गुण गान किया था :

नाम पदमाकर डराउ मति कोऊ भया ।
हम कविराज हैं प्रताप महाराज के ।।

(५८)

चारण कवि जहाँ राजाओं को युद्धार्थ प्रोत्साहित करते थे, वहाँ कभी-कभी वे भी युद्ध भूमि में जाकर अपने प्राणों का बलिदान कर देते थे। राजरूपक में कवि किसना के सम्बन्ध में कहा गया है :

कवि किसनो लड़ केवियाँ ।
झड़ पड़ियो खग झट्ट ।।

(५६)

वीसलदेव के पुत्र अर्णोराज ने प्रसन्न होकर सुकवियों को ३० करोड़ दान में दिए थे :

वीसल क्रोडां वीस, दीनी नाँही एक दिन ।
सुकव्यां आने तीस, रीझ पजोई राजिया ।।

(६०)

राजपूत योद्धाओं ने नारी के प्रति सदा सम्मान प्रदर्शित किया है। दुर्गादास ने अकबर की पुत्री को सम्मानपूर्वक रखा था जिसका उल्लेख राजरूपक में इस प्रकार हुआ है :

पुत्री अकबर साह री, हुरमां नाजर दास ।
पूछी औरंग प्रीत सूं, पूगी जिण दिन पास ।।
यां सारी दासी अरज, ज्यां राखी दुरगेस ।
प्रीत तणै गुण भीजियो, सुण रीझियो दिलेस ।।

(राजरूपक, पृ० ३४६)

(६१)

मुगल बादशाह ने महाराज अजीतसिंह को "तेग बहादुर" की उपाधि से सम्मानित किया था :

आदर कियो मिले असुरेसुर ।
दियो नाम नृप तेग बहादुर ।।

(राजरूपक, पृ० ४२४)

(६२)

महाराज अभयसिंह ने अपने स्नेह-भाजन राठौड़ों के ऊपर पानी वार कर पिया था :

राजा मेखे राठवड, देखे भाग विचार ।
पियै पुराखी सेव गिण, ऊपर पाणी वार ।।

(६३) (राजरूपक, पृ० ३६७)

कविराजा मुरारिदान जी महाराज जसवंतसिंह जी के राजकवि थे । वे राज्य-काज में बहुत हस्तक्षेप करते थे । उनके हस्तक्षेप से तंग आकर एक दिन मुसाहिब शिवदानमल जी ने कविराजा की वेश-भूषा पर व्यंग्य करते हुए कहा:—

कवराजा मुरार रे फतवी रे फड़का ।
के पेरणवाला बेसमझ के दरजी लड़का ।।

किन्तु कविराजा कब चूकने वाले थे ? उन्होंने उक्त पद सुनते ही तत्काल उत्तर दिया:—

क्यूं बिना ज्ञान कविता करो, कर कर ऊंचा कानिया ।
कवि धरम परम निभणो कठण, सांग नहीं सिवदानिया ।।

(६४)

मेहताजी घमंडीराम जी मालानी और कविराजा मुरारिदानजी में घनिष्ठ मित्रता थी । उन दिनों मालानी का हाकिम मुहम्मद खां था जो जनता पर असह्य अत्याचार कर रहा था । मेहता जी ने लोगों का सोलह आना विश्वास प्राप्त कर महाराजा के पास हाकिम की शिकायत पहुँचाने का निश्चय कर लिया किन्तु बाद में कविराजा के समझाने-बुझाने से हाकिम ने हाथ जोड़ कर मेहता जी से क्षमा-याचना कर ली । इसकी साक्षी में निम्नलिखित दोहा कहा जाता है :

घमंडीराम घोड़े चढ़े, सोलह आना साथ ।
जाण धणी जोधाण रो, हाकम जोड़े हाथ ।।

उक्त दोहे से स्पष्ट है कि राजस्थान के चारण कवि मात्र कविता करने वाले ही नहीं थे, वे अनेक लोकोपयोगी कार्यों में भी अपना योग दिया करते थे ।

(६५)

पुराने समय में किसी देश में एक राजा रहता था । वह बहुत ही कंजूस था । उसका सिद्धांत था कि चमड़ी जाय मगर दमड़ी न जाय । एक पैसा खर्च करना भी वह फिजूल समझता था । यहाँ तक कि अपने उत्तराधिकारी युवराज को भी

कुछ खर्च करने के लिए नहीं देता था। राजकुमारी सयानी हो गई थी, पर विवाह में खर्च हो जायगा, इसलिए वह राजकुमारी की शादी भी नहीं करता था और धन उसके पास इतना था कि खजाने में रखने को भी जगह नहीं मिलती थी। मगर फिर भी वह न स्वयं अच्छा खाता-पहनता और न अपनी सन्तान के लिए कुछ करता। इसी तरह दिन बीते जा रहे थे। राजा बूढ़ा हो चला था।

उन्हीं दिनों एक नाटक-मंडली उस राजा के राज्य में आई। वहाँ का नट राजा के पास भी गया। कहने लगा-"श्रीमन्, अगर कृपा हो तो हमारी मंडली का नाटक भी देख लें।"

मगर यह राजा तो ऐसे थे कि 'ले' अच्छर जानते थे, 'दे' अच्छर जानते भी नहीं थे। सोचने लगे कि अगर नाटक का तमाशा देखूं तो कुछ देना पड़ जायगा। सो कौन जरा-से आंख के सुख के लिए खर्च करने जाय। उन्होंने नट को टाल दिया। बोले—"अभी तुम इस नगर में हो ही। फिर कभी देखा जायगा।"

इस तरह नट चला गया और इसी आशा में उस नगर में टिका रह गया कि राजा ने जब कहा है तो किसी दिन हमारा नाटक जरूर देखेंगे। मगर जब भी वह राजा के पास पहुँचता तो राजा कह देते कि अजी, आज तो नहीं, फिर कभी देख लेंगे ! और इस तरह उस आदमी को टाल देते। मतलब यही था कि खर्च के डर से नट अपनी मंडली के साथ खिसक जाय और फिर कभी यहाँ आने का नाम न ले। सो इसी तरह आजकल करते-करते छः महीने बीत गए; मगर राजा ने नाटक देखने का नाम न लिया।

इधर नट अपनी मंडली के लिए मुश्किल से खर्चा जुटा पाता था। जो पास पल्ले था, खर्च हो चुका था। वह बहुत दुःखी हो गया था और रोज राजा के पास जाकर गिड़गिड़ाया करता था कि सरकार, हमारा नाटक देख लें, तो फिर हम इस राज्य से चले जायँ। मगर राजा ऐसे थे कि न नाटक ही देखते और न साफ जवाब ही देते थे। बस, खर्च के डर से रुक जाया करते। तब मंत्रियों ने देखा कि यह तो बहुत बुरा हो रहा है। इससे राजा की निन्दा दूसरे राज्यों में फैल जायगी। जब उन्होंने राजा से कहा तो राजा कहने लगे कि तुम लोग तो मंत्री ठहरे, मंत्रणा दे देते हो और समझते हो कि काम हो ही जाना चाहिए। पर यह नहीं देखते कि नाटक देखने पर नट को भी देना पड़ेगा। सो कहाँ से आएगा ? मन्त्री लोग राजा की इस कंजूसी से ऊब चुके थे। बोले—सरकार, अगर आप नट को पुरस्कार नहीं देना चाहें तो हम लोग दे देंगे, पर आप नाटक तो जरूर ही देखें।

तब राजा ने सोचा कि अपना तो कुछ लगता ही नहीं है। खर्च मंत्रियों के मत्थे पड़ेगा। फिर तो सब ठीक ही है। इस तरह नाटक देखने में कोई हर्ज नहीं।

सो उन्होंने अपनी अनुमति दे दी। कहा कि जब तुम लोगों की यही मर्जी है, तो मुझे भी आपत्ति नहीं। हो नाटक।

बस, हुक्म की ही देर थी। तुरन्त नाटक का इन्तजाम होने लगा। नट-नटी के पास सूचना भेज दी गई कि आज ही नाटक दिखलाना है। वे लोग भी प्रसन्न हुए कि आज ही कला की कसौटी है, अगर ऐसे नीरस राजा को प्रसन्न कर दें तब तो हमारा नाम।

रात के समय दीपक और मशालों का प्रकाश जगमगाने लगा। राजा अपने परिवार के लोगों के साथ नाटक देखने के लिए पहुँचे। सभासद लोग भी आकर सम्मिलित हुए। नाटक का पर्दा उठा और नाटक होने लगा। उस दिन नट और नटी ने जी खोलकर अभिनय किया। पर राजा ऐसे थे कि कभी पुरस्कार का नाम ही नहीं लेते थे। वे चुप बैठे हुए जो नाटक देख रहे हैं सो देख ही रहे हैं। यह भी नहीं मालूम होता कि उन्हें नाटक अच्छा लग रहा है या बुरा मालूम हो रहा है।

इधर सारी रात करीब बीत गई। केवल दो ही घड़ी अब रात बाकी थी। अब भी अगर राजा प्रसन्न न हुए तो सारा परिश्रम अकारथ जायगा। यह देखकर नटी ने नट को सावधान करने के लिए यह दोहा कहा—

"रात घड़ी-भर रह गई, किस पिंजर में आय।
कहे नटी सुन हो पिया, मीठा ताल बजाय।"

नट ने नटी का मतलब समझ लिया और जी खोल कर अपनी कला दिखलाने लगा। पर यहाँ राजा तो इसीलिए ही बैठे थे कि कुछ देंगे ही नहीं, फिर वे देते तो कैसे ? प्रसन्न होते तो कैसे ? अब क्या हो ? फिर उस नट ने सोचा कि इस घटना से नटी कहीं निराश न हो जाय। निराशा में कला की अभिव्यक्ति ठीक होगी नहीं। फिर राजा न देता हो तो न सही। हम अपनी कला में संकोच कैसे करें ? यह सोचकर उसने नटी को लक्ष्य करके यह दोहा कहा—

"बहुत गई थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाय।
भाखत नट सुन नायिका, ताल भंग नहिं लाय॥"

नट की इस उक्ति को सुनकर सभी यह वाह-वाह करने लगे। एक साधु तो ऐसे मुग्ध हुए कि उनके पास जो ओढ़ने का कम्बल था, उसे नट को दे दिया। राजकुमार था, वह ऐसा प्रसन्न हुआ कि उसने अपनी हीरे की लड़ी गले से उतार कर दे दी। राजकुमारी थी, उसने अपना जड़ाऊ कंगन उतारा और नट को दे दिया। राजा ने यह देखा तो मन में बहुत दुःखी हुआ। पछताने लगा कि बेकार यह नाटक-

फाटक रचाने गया कि हमारे पुत्र ने हीरे की लड़ी दे दी, हमारी पुत्री ने जड़ाऊ कंगन दे दिया । इसके साथ उसे यह भी अचम्भा हो रहा था कि उस साधु ने अपना फटा-पुराना कम्बल भी क्यों दे दिया ।

जब नाटक समाप्त हुआ, तो राजा ने उस साधु को अपने पास बुलाया और पूछा कि बाबाजी, आपके पास तो एक ही कम्बल था, आपने उसे उस नट को क्यों दे दिया ?

साधु ने कहा—"हे राजन्, मैं साधु हूँ । मुझे विरक्त रहना चाहिए । लेकिन आज आपके ऐश्वर्य को देख कर मेरे मन में भोग की लालसा आ रही थी । मन में कह रहा था कि अगर हमें भी इस तरह का धन हो, तो कितना सुन्दर है । मगर जब मैंने उस नट का दोहा सुना तो मेरे मन में इस बात का ज्ञान आ गया कि मेरे जीवन के दिन तो बहुत निकल गए । अब भोग की लालसा क्यों करूँ ? इसी बात से मैं प्रसन्न हो गया कि वाह इस नट ने तो खूब ही कहा है । मगर मेरे पास था ही क्या जो उस नट को दे सकता । मेरे पास केवल वही कम्बल था, सो मैंने उसी को दे दिया ।

जब साधु चला गया तब राजा ने अपने पुत्र को बुलाया और पूछा कि बेटा, उस नट में ऐसी कौन सी बात तूमने पाई कि हीरे की लड़ी उठा कर दे दी ?

राजकुमार ने कहा–"पिताजी, अगर अभय-दान पाऊँ तो कहूँ ।"

राजा ने कहा—"अभयदान मिला । कहो ।"

तब राजकुमार ने कहा–"आप मुझे कभी द्रव्य नहीं देते । इसलिए मैं दु:खी रहा करता था । मन में उद्विग्नता भी थी । आज मैंने विचार किया था कि अब आपको जहर दे दूँ और स्वयं राज-काज ले-लूँ । परन्तु जब नट ने उस दोहे को कहा तो मेरे मन में इस बात का ज्ञान हुआ कि आपकी उम्र तो बहुत बीत ही गई । अब जो थोड़े से दिन हैं, वे भी निकल ही जायेंगे । फिर बेकार आपकी हत्या क्यों करूँ ? यही सोचकर मैं उस नट से प्रसन्न हो गया और अपनी हीरे की लड़ी निकाल कर दे दी ।"

राजा उस राजपुत्र की बात सुन कर चुप हो गया । फिर जब उसका पुत्र चला गया तो उसने अपनी राजकुमारी को बुलाया और पूछने लगा कि बेटी, वह कौन-सी ऐसी बात थी जिसके कारण तुमने अपना जड़ाऊ कंगन उस नट को दे दिया ?

राजकुमारी ने सिर झुका कर कहा—"बाबा, अपनी जान का अभय-दान पाऊँ तो कहूँ ।"

राजा ने कहा—"अभय-दान दिया। कहो।"

राजकुमारी ने कहा—"मैं न जाने कब से युवती हो चुकी हूँ, पर आप कंजूसी के मारे मेरा विवाह करते ही नहीं। इधर जब मैं विवाह से निराश हो गई, तो कामवश मंत्री के पुत्र से मेरा सम्बन्ध हो गया। आज मैं यह विचार कर रही थी कि उसी मंत्री के पुत्र को साथ लेकर भाग जाऊँ। बदनामी होगी तो आपकी। मेरा जीवन तो सुख से ही बीतेगा। पर जब मैंने उस नट का दोहा सुना तो जी में कहा कि पिताजी का जीवन तो बहुत बीत ही गया। अब वे अधिक जीने वाले नहीं। इसलिए इस आखिरी समय में उनके सिर कलंक का टीका क्यों लगाऊँ। उस नट के दोहे से मुझे यही ज्ञान हो गया था और इसी कारण मैंने उसे अपना जड़ाऊ कंगन पुरस्कार में उपहार दे दिया था।"

तब राजा को होश हुआ। उसने दूसरे दिन नट-नटी को बुला कर उनका सत्कार किया। उन लोगों को राजा ने इतना पुरस्कार दिया जितना उन्हें कहीं नहीं मिला था। उसके बाद उसने उसी दिन मंत्री के पुत्र से अपनी पुत्री की शादी करा दी, अपने राजकुमार को राजगद्दी दे दी और आप वैरागी होकर किसी गुरु की तलाश में निकल गया। (संकलित)

(९९)

बीकानेर के महाराज राव कल्याणसिंहजी के तीन पुत्र थे। सबसे बड़े रायसिंहजी तथा उनसे छोटे रामसिंहजी तथा पृथ्वीराज। पृथ्वीराज विद्याव्यसनी, चतुर, शूरवीर और बड़े भगवद्भक्त थे। अकबर के दरबार में उनकी गणना कविरत्नों में हुआ करती थी। जैसलमेर के महाराज हरराज की कुंवरी लालांदे के साथ पृथ्वीराज का विवाह हुआ था। लालांदे केवल अनुपम सुन्दरी ही नहीं थी, उसकी वाग्विदग्धता तथा काव्य-चातुरी भी अद्वितीय थी। पृथ्वीराज तथा लालांदे में परस्पर अटूट प्रेम था।

मुगल बादशाह के अधीन रहने वाले प्रत्येक राजा को बादशाह के लश्कर में नौकरी के लिए जाना पड़ता था। बीकानेर के महाराज रायसिंह को बादशाह का हुक्म मिला तो उन्होंने अपने छोटे भाई को दिल्ली जाने की आज्ञा दी। दम्पति को यद्यपि यह वियोग असह्य था, किन्तु पृथ्वीराज ने वादा किया कि मैं ६ महीने बाद अवश्य बीकानेर पहुँच जाऊँगा। लालांदे ने इस शर्त पर पृथ्वीराज को दिल्ली जाने दिया कि यदि निश्चित अवधि से एक भी दिन अधिक लगा तो वह अपने प्राण त्याग देगी। उसी के शब्दों में :—

पति परितिग्या सांभलो, अवध उलंघन थाय।
प्राण तजूं तो विरह में, कदे न राखूं काय।।

पृथ्वीराज की वीरता, उनके चातुर्य तथा काव्य-विनोद को देखकर बादशाह अकबर उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अवधि समाप्त होने पर थी; किन्तु बादशाह पृथ्वीराज को बीकानेर जाने ही नहीं देता था। अन्त में बड़ी मुश्किल से आज्ञा मिली और पृथ्वीराज बीकानेर के लिए रवाना हुए।

छः महीने के ऊपर एक दिन हो गया, किन्तु पृथ्वीराज बीकानेर न पहुँच पाये। विरह के वशीभूत होकर लालांदे ने खान-पान सब त्याग दिया। सारा दिन और सारी रात प्रिय का नाम रटते बीते। दूसरे दिन प्रातः काल लालांदे के प्राण-पखेरू उड़ गये। राज-दरबार तथा प्रजा-वर्ग सबमें विपुल शोक छा गया। लालांदे के प्रिय-प्रेम की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। श्मशान में जब लालांदे की चिता जल रही थी, उस समय पृथ्वीराज वहाँ पहुँचे। जलती चिता को देखकर उनके मुँह से निकला:—

"कंथा ऊभां कामणी, साईं ! तू मत मार।
रावण सीता ले गयो, बै दिन आज संभार।।"

हे भगवन् ! मैं यहाँ खड़ा हूँ, मेरी लालां का मरण न होने दो। हे प्रभो ! आप तो भुक्तभोगी हैं, वियोगीजनों के कष्टों को समझते हैं। रावण जब सीता को ले गया था तो कितना दुःख आपको हुआ था, उसी दुःख का आज स्मरण कीजिए और मृत्यु-मुख में प्रविष्ट मेरी लालां को उबारिए।

लालां लालां हूं करू', लांला साद म देय।
मो आंधारी लाकड़ी, मीरां ! खेंच म लेय।।

मैं 'लालां-लालां' पुकार रहा हूँ किन्तु लालां प्रत्युत्तर नहीं देती। हे मीराँ ! (भगवन्) मुझ अन्धे की लड़की को मुझ से न छीन। फिर अग्नि को सम्बोधित कर पृथ्वीराज कहने लगे:—

"तो रांध्यो नहिं खावहूं, रे वासदे निसड्ड।
मो देखत तू बालिया, लालां हन्दा हड्ड।।"

हे अग्नि ! अब तुझ पर पकाया हुआ भोजन मैं नहीं किया करूंगा, क्योंकि मेरे देखते-देखते तू ने लालांदे के शरीर को भस्म कर दिया है।

पृथ्वीराज पागल हो गये और 'लालांदे-लालांदे" की रट लगाते हुए उन्होंने खान-पान सब छोड़ दिया। राज-कर्मचारियों ने सोचा कि हरराज की दूसरी कुंवरी चांपादे है जो रूप, गुण और चातुर्य में लालांदे के समान ही है। पृथ्वीराज को यह विश्वास हो गया कि चिता-भस्म में से लालांदे पुनरुज्जीवित होकर अवश्य निकलेगी। यदि किसी तरह चांपादे को चिता-भस्म में से निकलती हुई दिखला दिया जाय तो

पृथ्वीराज, जो भावोन्माद के वशीभूत हैं, उसे लालांदे ही समझ लेंगे। यह आयोजन सफल हो गया, दोनों का विधिवत् लग्न कराया गया। अब पृथ्वीराज के आनन्द का क्या ठिकाना ? वे आनन्द-महोदधि में क्रीड़ा करने लगे। लालांदे के पुनर्मिलन को वे अपने सौभाग्य की पराकाष्ठा समझते थे। रात को शयनालय में पृथ्वीराज पलंग पर बैठे थे। चांपादे नूपुरों की झंकार के साथ जब महल में प्रविष्ट हुई तो पृथ्वीराज पुलकित और अधीर हो उठे। पृथ्वीराज की दृष्टि चाँपादे पर पड़ी। पहली दृष्टि में तो उन्होंने लालाँदे ही माना, किन्तु स्थिर दृष्टि से जब देखा तो बोल उठे :—

"आयी है चाँपा अठे, वा लालां अब नांह।"

अर्थात् यह तो चाँपादे यहाँ आई है, वह लालां अब इस लोक में नहीं रही। चाँपादे का माथा ठनका। सारी चतुराई निष्फल हो गई। यदि लालांदे के वियोग में उन्होंने प्राण छोड़ दिये तो ? किन्तु हिम्मत करके चाँपादे ने कहा—"विवाह-मंडप के नीचे समर्थ स्वामी से पाणिग्रहण हो चुका है, अब चाँपा साथ छोड़ने की नहीं।" पृथ्वीराज ने सोचा—विधि का विधान यही था, इसमें चाँपा का कोई दोष नहीं। अब जब विधिवत् लग्न हो चुका है, दूसरा कोई चारा नहीं। पृथ्वीराज कहने लगे :—

"चांपा ! डगला चार, सांमा ह्वै दीजै सजल।
हींडलतै गल हार, हंसतमुखां हरराय री।।"

अर्थात्–हे चाँपा ! वक्ष:स्थल पर पड़े हुए अपने हार को झुलाती हुई तथा हास्य की किरण बिखेरती हुई अपने प्रिय के पास आओ तो सही। चाँपा ने भी काव्य में ही उत्तर दिया :—

"मुकुल परिमल परहरे, अब आये ऋतुराज।
अलि नहीं आली हय नकी, कलि विकसे केहि काज।।"

वसंत ऋतु के आने पर जब भ्रमर पुष्पों के परिमल को छोड़दें तो कली किस लिए विकसित हो ?

पृथ्वीराज ने देखा कि चाँपादे तो लालांदे से भी काव्य-रचना में कुशल है तो उन्होंने दौड़कर बड़े प्रेम से चाँपादे को गले लगाया। पृथ्वीराज और चांपादे का दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखपूर्ण रहा।

रानी चाँपादे को भी कवि-हृदय मिला था। कहते हैं कि एक बार महाराज पृथ्वीराज अपनी दाढ़ी संवार रहे थे। दाड़ी में उनको एक सफेद बाल दिखाई पड़ा,

तो उसे उखाड़ कर फेंक दिया। पीछे से रानी चाँपादे ने महाराज को ऐसा करते देख लिया। महाराज मुस्कराकर कविता में ही अपनी प्रिया से कहने लगे—:

"पीथल धौला अ विया, बहुली लागी खोड़।
पूरै जोबन पदमणी, ऊभी मुक्ख मरोड़ ।।
पीथल पलीट भुक्कियां, बहुली लागी खोड।
मरवण मस्त गयन्द ज्यूँ, ऊभी मुक्ख मरोड ।।

पीथल कहता है कि सफेद बाल उग आये, यह तो बड़ी खोड़ (खोट, खराबी, त्रुटि) लग गई। बड़ा बुरा हुआ कि पूर्ण यौवन को प्राप्त पद्मिनी-सी मोहिनी प्रिया खड़ी हुई मेरी ओर देखकर मुख मरोड़ रही है। पीथल कहता है कि दाढ़ी के बाल पकने लगे, बड़ा बुरा हुआ, जिसके कारण मदोन्मत्त हाथी के समान प्रिया मरवण खड़ी-खड़ी मुख मरोड़ रही है। यह सुनकर चाँपादे महाराज का भाव ताड़ गई और उनकी आत्म-ग्लानि के भाव को दूर करती हुई अपने पति के सन्तोषार्थ कहने लगी :—

"प्यारी कह पीथल सुणो, धौलाँ दिस मत जोय।
नरां नाहरां डिगमरां, पाक्यां ही रस होय।।"

(६७)

श्री जसराज चारण की मृत्यु पर जोधपुर के महाराजा के मुख से निम्नलिखित उद्‌गार निकल पड़े थे :—

"रत जो आवत रार, वार न आवत रैणवत।
साचो हित संसार, जद तो–मो जाणत जसा ।।

अर्थात् तुम्हारी मृत्यु पर मेरे नेत्रों से अनवरत रक्त बहता और आँसू मात्र न आते, तब हे जसराज! तुम्हारे और मेरे पारस्परिक प्रेम को संसार सच्चा समझता।*

(६८)

कवि विजयरामजी कहा करते थे कि माढाणी युद्ध में प्राण देंगे, किन्तु युद्ध के समय जब कवि ने सुना कि माढ़ाणी ऐसा नहीं कर रहे हैं तो कवि ने स्वयं मरने का निश्चय कर लिया। यह सुनकर माढ़ाणी ने युद्ध में प्राण दिये। उक्त घटना का साक्ष्य भरने वाली निम्नलिखित पंक्ति प्रायः सुनने में आती है :—

---

*अई वालहा विजोग, पांणी भांपण नीसरइ।
साचउ नेह तेजांइ, जउ लोयण लोही वहइ ।।
(पुरंदर चउपई–माल कवि कृत)

"मिटती तो 'पारख' मरदां री,
मोहण रो मिटतो रण मांय ।"

(६९)

हांडी मड़ंगजी के सम्बन्ध में श्री ईसरदास जी कह गये हैं:—

"अई सेर सुलतान लागां पलक,
उनमनी तोड़ तैं खलक हूं मोह तागो ।
जोड़ तैं बलक कर जेर पंचम छुटी,
जोग चकवै अलख हेत जागो ।।'

(७०)

सिंघी इन्द्रराज के विषय में महाराजा मानसिंह ने यह दोहा कहा था:—

पड़ते घेरे जोधपुर, आयो दल जु असम्भ ।
आभ डिगंते ईंदड़ा, तैं दीधो भुज थम्भ ।।

(७१)

राजस्थान के प्रसिद्ध कवि दुरसा आढा जब ६ वर्ष के ही थे, उनके पिता का देहांत हो गया। पिता की मृत्यु के बाद बगड़ी-ठाकुर ने उनकी शिक्षा का प्रवन्ध किया और उन्हें योग्य बनाया। कवि ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा था—

माथै मावीताँह, जनम तणौ क्यावर जितौ ।
सोहड सुध पातां ह, पालनहार, प्रतापसी ।।

अर्थात् वीरों और कवियों का संरक्षण करने वाले बगड़ी ठाकुर हे प्रताप-सिंह ! जन्म-दान के लिए माता-पिता का जितना अहसान होता है, मेंरे सिर पर उतना ही तेरा अहसान है ।

(७२)

एक बार औरंगजेब ने प्रलोभन देने के लिए दुर्गादास से पूछा था—

औरंग इक दिन यों कहयौ, थनै वाल्हो कांइ विशेष ।
निज मुखड़ै मांगो नि वो, देऊं थनें दुरगेश ।।

इसके उत्तर में दुर्गादास ने सहज भाव से उत्तर दिया—

खग व्हाली वाल्हो प्रभू, व्हालो मुरधर देश ।
स्वामधरम वाल्हो सदा, वाल्हो न कांइ विशेष ।।

अर्थात् मुझे मेरी तलवार प्रिय है, प्रभु प्रिय है, मरुधर देश प्रिय है, सदा स्वामि-धर्म का निर्वाह प्रिय है—इनके अतिरिक्त ऐसी कोई भी विशेष वस्तु नहीं जो मुझे प्रिय हो ।

कहावतें (पर्यालोचन)
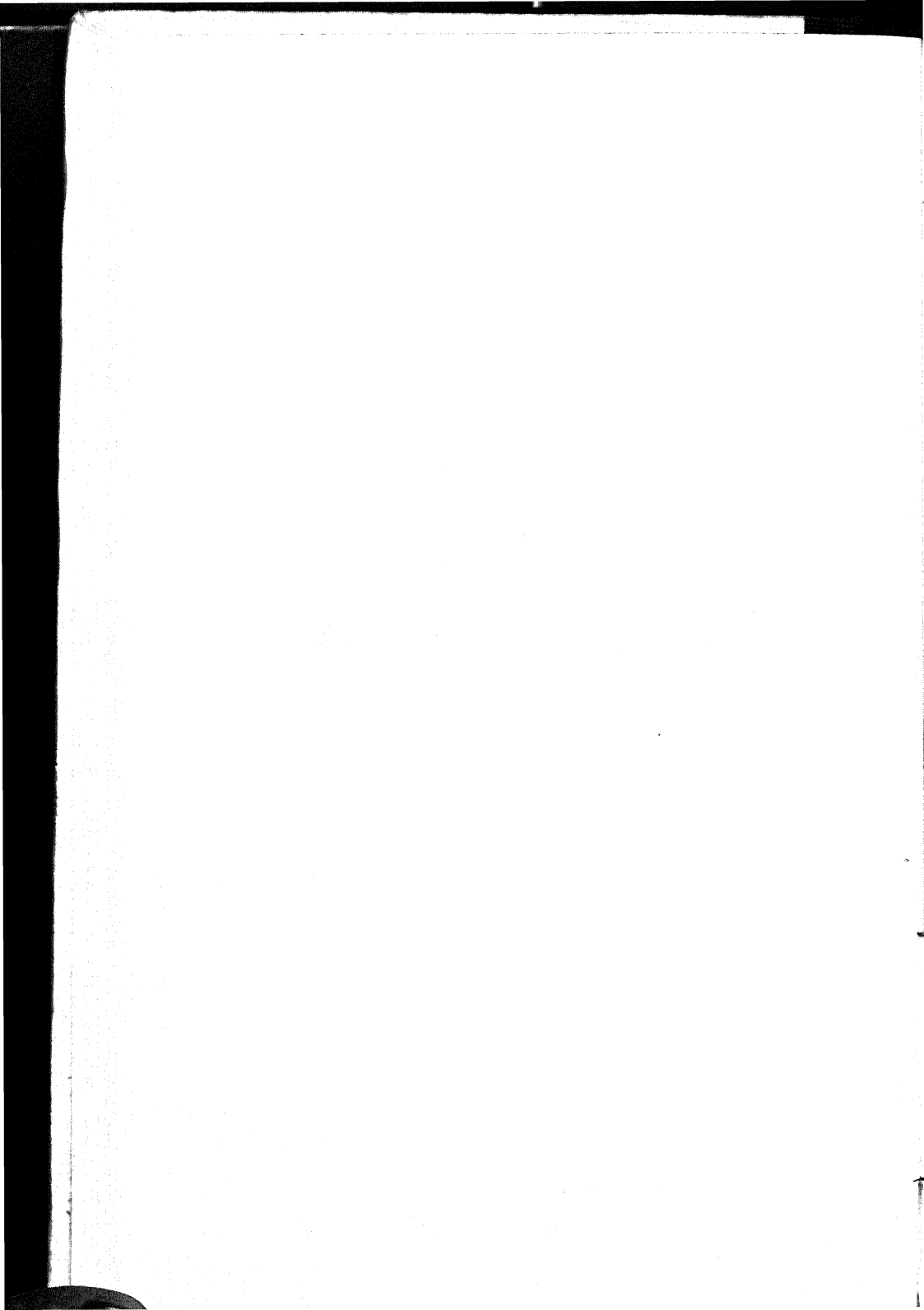
कहावत—एक विवेचन

(राजस्थानी कहावतों के संदर्भ में)

●

लोकोक्तियों को 'अनुभव की दुहिताएं' कहा गया है। ये किसी से भय नहीं खातीं; जैसा देखती हैं, वैसा ही कह देती हैं। ये झूठ नहीं बोलतीं, इनकी सत्य-वादिता के समक्ष हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर भी नतमस्तक हैं; निर्धन, धनी राजा, रंक-इनकी दृष्टि में सभी बराबर हैं। ये राग और द्वेष से ऊपर हैं, ये सत्य की सरस्वतियाँ और घटित की प्रतिध्वनियाँ हैं। लोकोक्तियाँ, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, जनता-जनार्दन की उक्तियां हैं अथवा यों कहिए, जन-समुद्र की बिखरी हुई मणियां हैं। किसने ये बहुमूल्य मणियां बिखेरीं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं; किन्तु इतना निश्चित है कि प्रत्यक्ष वास्तविकताओं ने कहावतों को जन्म दिया है। किताबों की आंखों से देखने वाले निरे बुद्धिविलासी व्यक्ति कहावतों के निर्माता नहीं थे; लोकोक्तियों के निर्माता जीवन के द्रष्टा थे। क्या हुआ, यदि किसी कहावत के निर्माता ने कोई पुस्तक नहीं पढ़ी, जीवन की पुस्तक से उसने जो पाठ पढ़े थे, सूक्ष्म निरीक्षण, सामान्य बुद्धि और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ज्ञान का जो साक्षात्कार उसने किया था, वही सब एक मनोरम लोकोक्ति के रूप में प्रकट हो गया। कहावती जगत् वस्तुतः यथार्थ का लोक है, आदर्श का नन्दन-कानन नहीं। आंखों ने जिस व्यापार का प्रत्यक्षीकरण किया, उसी को एक विदग्ध जन ने बुद्धि अथवा समझ-बूझ की तूलिका से अङ्कित कर दिया—लोक के मानस-पट पर एक ऐसी रेखा खींच दी जिसे काल का अदम्य प्रवाह भी धो नहीं पाता।

कहावतों की चिरन्तनता को देखते हुए उन्हें 'काल की दीमक से अछूता फर्नीचर' कहा गया है। एतद्विषयक एक प्रसिद्ध सूक्ति भी है 'काल गया पर कहावत

रह गई ।[1] हिमालय पर्वत-सी प्राचीनता कहावतों में पाई जाती है किन्तु उनमें पर्वतों के समान स्थितिशीलता नहीं पाई जाती; कहावतें सैलानी अथवा घुमक्कड़ प्रकृति की होती हैं, उनकी संचरणशीलता में 'बर्लिन-वाल' जैसी दीवारें भी प्रतिबन्धक नहीं हो पातीं।

तमिल में कहावत के लिए जो शब्द प्रचलित है उसका अर्थ ही 'पुरोक्ति' है जिसे कुछ विद्वान् सामान्यतः कहावत की लघुतम परिभाषा के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

पुस्तकों की सत्ता के पहिले भी कहावतों की सत्ता थी। वाल्मीकि रामायण में प्रयुक्त कुछ कहावतों को लीजिए—

१—सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति माम् ।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ।।२।३५।२८

सुमंत्र कैकयी से कहते हैं कि आज मुझे यह लोकोक्ति सच मालूम होती है कि पुत्र पिता के समान होते हैं और कन्याएँ माता के समान।

राजस्थानी में भी एक कहावत है—'मा गैल डीकरी, घड़ा गैल ठीकरी।' अर्थात् लड़की मां के अनुरूप होती है और घड़े के खंडित टुकड़े घड़े के अनुरूप।

किन्तु वाल्मीकि रामायण की एक और अन्य कहावत में ठीक इसके विपरीत बात कही गई है—

२—न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति ।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ।।३।१६।३४

अर्थात् पुरुष पिता के स्वभाव का नहीं, बल्कि माता के स्वभाव का अनुसरण करते हैं। इस प्रसिद्ध लोकप्रवाद को भरत ने उल्टा कर दिया क्योंकि भरत ने माता के स्वभाव का अनुकरण न कर पिता के स्वभाव का अनुकरण किया।

इसी से मिलती-जुलती एक कहावत भी है—'मा पर पूत पिता पर घोड़ो, घणो नहीं तो थोड़म थोड़ो।' अर्थात पुत्र मां का अनुसरण करता है और घोड़ा पिता का। यदि बहुत नहीं, तो थोड़ी-बहुत अनुरूपता तो देखी ही जाती है।

३—न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ।।२।३५।१७

---

१. (क) वातां रह जाई, बिळियां बह जाई।
(ख) बखत चल्यो जाय, पण बात रै ज्याय।

अर्थात् लोक में कही जाने वाली यह कहावत सत्य ही है कि नीम से मधु नहीं टपकता ।

४—आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् तु कः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ।।२।३५।१६

भला आम को कुल्हाड़ी से काट कर उसकी जगह नीम का सेवन कौन करेगा ? जो आम की जगह नीम को ही दूध से सींचता है, उसके लिए भी यह नीम मीठा फल देने वाला नहीं हो सकता ।

उक्त श्लोक का उत्तरार्द्ध राजस्थान की निम्नलिखित कहावत से तुलनीय है—

नीम न मीठो होय, सींचो गुड़ घीव सैं,
जिणका पड़या सुभाव क जासी जीव सैं ।

अर्थात् घी और गुड़ के सींचने पर भी नीम मीठा नहीं हो सकता । सच है, स्वभाव भी प्राणों के साथ ही छूटता है ।

५—अहिरेव अहेः पादान्विजानाति न संशयः ।।५।४२।९

अर्थात् सर्प ही सर्प के पैरों को (चरण रहित गति को) जानता है, इसमें संशय नहीं ।

६—कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम् ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्ष शतादपि ।।६।१२८।२

अर्थात् यह लौकिकी गाथा मुझे कल्याणकारी जान पड़ती है कि जीवित रहने वाले मनुष्य को, चाहे सौ वर्ष में ही सही, आनन्द मिलता ही है ।

७—गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।।२।९।५४

हे कल्याणि ! नदी का पानी निकल जाने पर उसके लिए बाँध नहीं बाँधा जाता ।

८—रामो द्विर्नाभिभाषते ।।२।१८।३०

राम दो तरह की बात नहीं करता ।[1]

९—न कश्चिन्नापराध्यति ।।४।३६।११

ऐसा कोई नहीं जिससे अपराध न होता हो । 'To err is human' इसी से मिलती-जुलती अंग्रेजी कहावत है ।

१—तुलनीय राजस्थानी कहावत—'बाप और बचन एक होय ।'

१०—नाग्निरग्नौ प्रवर्तते ।।५।५५।२२

आग आग को नहीं जलाती ।

११—प्रवादः सत्यमेवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप ।

पतिव्रतानां नाकस्मात्पतन्त्यश्रूणि भूतले ।।६।११३।६६

हे नृप ! पतिव्रताओं के आँसू व्यर्थ ही भूमि पर नहीं गिरते, यह कहावत तुम्हारे विषय में चरितार्थ हो गई ।

१२—यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते ।।७.४३।१६

जैसा राजा करता है, प्रजा भी वही करने लगती है ।

१३—यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ।।७।१५।२३

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है । 'करन्ता सो भोगन्ता' एक प्रसिद्ध राजस्थानी कहावत है ।

१४—रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुंजरोत्तमम् ।।२।३७।३

उत्तम हाथी का दान करने वाले पुरुष को उसके रस्से में आसक्ति रखने की क्या आवश्यकता है ?

१५—लोकप्रवादः सत्योऽयं पंडितैः समुदाहृतः ।

अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ।।५।२५।१२

पंडितों ने यह लोकोक्ति ठीक ही कही है कि किसी भी स्त्री या पुरुष की मृत्यु बिना समय आये नहीं होती ।[1]

ऊपर दिये हुए उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट है कि उक्त कहावतें रामायण-काल में अथवा उससे भी पहले प्रचलित थीं । किन्तु वाल्मीकि रामायण में ही नहीं, ऋग्वेद में भी अनेक कहावतें उपलब्ध हैं जिनका विवेचन मैं अपने 'ऋग्वेद की लोकोक्तियाँ' शीर्षक निबन्ध में कर चुका हूँ ।[2]

१—मिलाइए (क) ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ।।२।२०।५१ (वाल्मीकि रामायण)

(ख) सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके ।

नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः ।।५।२८।३ (वाल्मीकि रामायण)

२—द्रष्टव्य हिन्दी-अनुशीलन का धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० २३०-२३३

कहावतें और विरोधाभास

ऊपर उद्धृत प्रथम दो कहावतों में दो परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। कहावत संख्या १ में पुरुष को पिता के स्वभाव का अनुसरण करने वाला कहा गया है जबकि कहावत संख्या २ के अनुसार वह माता के स्वभाव का अनुसरण करता है, पिता के स्वभाव का नहीं। ऊपर यह भी कहा गया है कि कहावतें झूठ नहीं बोलतीं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः ही प्रश्न उठता है कि परस्पर विपरीत कथन करने वाली उक्त दोनों ही कहावतें सच्ची कैसे हो सकती हैं ?

कहावतों में इस प्रकार के विरोधाभास को देख कर चौंकने की आवश्यकता नहीं। स्टीवेन्सन ने कहा था कि निरपेक्ष सत्य जैसी कोई वस्तु संसार में नहीं, हमारे सभी सत्य अर्द्ध सत्य होते हैं।[1] विवेच्य कहावत संख्या १ और २ में भी केवल सापेक्ष सत्य की ही अभिव्यक्ति हुई है, किसी निरपेक्ष सत्य की नहीं। जब इस प्रकार के अनेक उदाहरण सामने आये होंगे जिनमें पुत्र ने पिता का अनुसरण किया होगा तो 'पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गना' कहावत का निर्माण हो गया होगा और जब इस प्रकार के बहुत से उदाहरण सामने आये होंगे जिनमें पुत्र ने पिता के स्वभाव का अनुसरण न कर माता के स्वभाव का अनुसरण किया होगा तो 'न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति' लोकोक्ति प्रचलित हो गई होगी।

सही बात तो यह है कि जीवन का सत्य किसी सरल फार्मूले से आबद्ध नहीं किया जा सकता।

कभी-कभी लाघव के हेतु भी कहावत निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत कर दी जाती है। उस हालत में किसी अन्य लोकोक्ति द्वारा उसकी सापेक्षता पर प्रकाश डाल कर एकांगिता को दूर करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।[2]

---

1. There is nothing like absolute truth, all our truths are half truths.

2. Proverbs have often the form of categorical imperatives; but common sense morality does not share the rigorism of certain philosophers, and the unconditional character of its proverbial maxims may be due simply to their necessary brevity. In such cases their one-sidedness has to be corrected by other proverbs dealing with particular circumstances that modify the general rule.

   —Wit & Wisdom in morocco (Introductory Essay p. 49) A Study of Native Proverbs by Edward Westermarck.

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कहावत का सत्य निरपेक्ष सत्य भले ही न हो, वह सत्य अवश्य होता है क्योंकि कहावत सत्य की दुहिता अथवा घटित की प्रतिध्वनि के अतिरिक्त और ही है क्या ?

राजस्थनी भाषा में कहावत के पर्याय के रूप में 'ओखाणो' शब्द प्रचलित है। गढ़वाली भाषा में भी कहावत के लिए 'अखाणो' या 'पखाणो' काम में आता है। 'अखाणो' संस्कृत 'आख्यान' से तथा 'पखाणो' उपाख्यान से व्युत्पन्न हुआ है। राजस्थानी 'ओखाणो' की निरुक्ति भी संस्कृत 'आख्यान' से की जा सकती है। गढ़-वाली भाषा में कहावत को 'आणो' तथा संस्कृत में आभाणक कहते हैं। आणो और आभाणक एक ही हैं। आभाणक ही आणो हो गया है। इसमें मूल धातु 'भण' है जिसका अर्थ होता है 'कहना'।

उक्त निर्वचन भी यही सिद्ध करता है कि कहावत में जिस अनुभव की अभिव्यक्ति होती है, वह घटनामूलक होता है। इसीलिए कहावत के पर्याय-रूप में अखाणो, ओखाणो, आणो तथा पखाणो जैसे शब्द प्रचलित हुए होंगे।

मंझन कृत 'मधुमालती' में कहावत के लिए 'उपखान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा,

'यह उपखान जानि मन हँसी।
गारुरि ससुर कुठाहर डँसी ।।'[1]

अर्थात् वह यह उपाख्यान समझ कर हंस पड़ी कि किसी स्त्री को सर्प ने (गुह्य स्थान) पर डस लिया था और उसका गारुड़ी (उपचारकर्त्ता) उसका श्वसुर था।

यही उपखान (कहावत) राजस्थानी भाषा में निम्नलिखित रूप में प्राप्य है—'सुसरो वैद कुठोड़ खाई।'

जिस प्रकार कहावत के लिए प्रयुक्त उपखान शब्द किसी कथा की ओर संकेत करता है, उसी प्रकार कुछ विद्वान् कहावत शब्द को 'कथावत्' तथा 'कथा-वार्त्ता' से व्युत्पन्न कर यह व्यंजित करना चाहते हैं कि कहावत के पीछे भी कोई घटना अवश्य होती है।

---

१. मधुमालती (सम्पादक—डा० माताप्रसाद गुप्त) पृ० ३९५

कुछ कहावतें तो आकार-प्रकार की दृष्टि से ही कथात्मक होती हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेजी की एक कहावत लीजिए—

'The case is altered ,quoth plowden'[1]

कहा जाता है कि प्लाउडन नाम के एक न्यायाधीश अथवा बैरिस्टर थे। उनके पास पहुँच कर किसी ने खबर दी कि आपके आसामी के बैल ने आपके बैल को सींगों से चोट पहुँचाई है। प्लाउडन साहब ने सुनते ही कहा कि आसामी को इसके लिए हरजाना देना होगा लेकिन बाद में जब पता चला कि प्लाउडन साहब के बैल ने ही आसामी के बैल को चोट पहुँचाई है तो प्लाउडन महोदय के मुंह से निकल पड़ा 'Oh, then the case is altered, quoth plowden'

रवीन्द्र की एक कथा में भी जब यह पता चला कि अपराधी राजकुमार है तो दण्ड की घोषणा वापिस ले ली गई थीं।

इसी प्रकार एक भोजपुरी लोक-गाथा के अनुसार ५-७ लड़कों ने मिल कर एक गदहे को मार डाला। पंडितजी के पास लोग न्याय के लिए पहुँचे। पंडितजी ने कहा, यहाँ न्याय का विधान तो स्पष्ट है—जब लड़कों ने गदहे की हत्या की है तो उन्हें अवश्य कड़ा दण्ड मिलना चाहिए किन्तु किसी ने कहा—पंडितजी महाराज! गदहे की इस हत्या में आपका लड़का सन्तोष भी शामिल है। इतना सुनना था कि सिर खुजलाते हुए पंडितजी ने निम्नलिखित गाथा पढ़ी—

"पांच-सात लरिका एक सन्तोष
गदहा मरिले कोनो ना दोष।।"

अच्छा, पाँच-सात लड़कों ने मिल कर गदहे की हत्या की है और उनमें एक सन्तोष भी था—तब तो गदहे को मार डालने में कोई दोष नहीं रहा !

इसी प्रकार एक अन्य कहावत लीजिए—'आप आप री खोली में सैं मसत।' निम्नलिखित कथा को जान लेने के बाद उक्त कहावत का मर्म भली-भांति समझ में आ सकता है—

'एक बड़ा प्रतापी राजा था। मृत्यु के समय उसने अपने पुत्र को बुलाकर कहा, 'अगले जन्म में मैं शूकर होकर जन्म लूंगा। मेरे माथे पर भूरे रंग का टीका होगा, तुम पता लगा कर मुझे इस योनि से छुड़ा देना, मुझे मार डालना।' कई वर्षों बाद जब पुत्र वहाँ गया तब उसने देखा कि शूकर अपने स्त्री-बच्चों सहित

---

1. The Oxford Dictionary of English Proverbs (William George Smith) p. 422

बहुत प्रसन्न मुद्रा में बैठा हुआ है। तीर हाथ में लिए हुए अपने पुत्र को देख कर उसने कहा, 'तुम कहीं तीर न चला देना अन्यथा अनर्थ हो जायगा। राजा की योनि में मैं इतना सुखी नहीं था जितना अब हूँ।'

प्रत्येक स्थिति में किसी घटना से कहावत उद्भूत होती है अथवा कभी-कभी कहावत से घटना की उद्‌भावना कर ली जाती है। इस संबन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत संभव है कि ऊपर जो कहावत उद्धृत की गई है, उसके संबंध में कथा गढ़ ली गई हो।[1] चाहे किसी कथा अथवा घटना से कहावत उद्‌भूत हुई हो अथवा आगे चल कर किसी कथा की कल्पना कर ली गई हो, यह निश्चित है कि कहावत प्रत्यक्ष कथन न होकर एक प्रकार का चुटीला अप्रत्यक्ष कथन है।[2] कहावतों में प्रायः दूसरे पर ढाल कर कोई बात कही जाती है, इसलिए अप्रस्तुत कथन के रूप में ही कहावतों का प्रचलन हो पाता है। 'गरीब का कोई साथी नहीं, सभी समर्थ का साथ देते हैं' इस प्रस्तुत अर्थ को प्रकट करने के लिए 'उलळते पालड़ै को कोई भी सीरी कोनी' जैसी अप्रस्तुत उक्तियों का प्रयोग कहावतों के रूप में किया जाता है। संस्कृत कोश-काव्यों में जिसे अन्यापदेश कहा गया है अथवा संस्कृत आलंकारिकों ने जिसे उपमा-ध्वनि, अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा अन्योक्ति की संज्ञा दी है, लोकोक्तियों में भी उन सबके निदर्शन हमें अनायास मिल जाते हैं।

कहावतों में लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता तथा प्रतीक-पद्धति का भी अच्छा प्रयोग देखने में आता है। उदाहरणार्थ—

लाक्षणिकता

१—कमावै धोती हाळा, खा ज्याय टोपी हाळा।

यहाँ लक्षणा से 'धोती हाळा' हिन्दुओं के लिए तथा 'टोपी हाळा' अंग्रेजों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

२—माया सैं छाया भली।

यहां भी 'छाया' का लाक्षणिक अर्थ इमारत लिया गया है।

---

1 Not seldom too when a story has been given to account for a proverb's rise, it must remain a question open to much doubt, whether the story has not been subsequently imagined for the proverb, rather than that the proverb has sprung out of history.
(Preface to Kelley's Collection of Scotch Proverbs.)

2 Proverb is an oblique statement with an element of pointedness in it.

ध्वन्यात्मकता

ऐरण की चोरी करै, करै सुई को दान ।
चढ़ चौबारै देखण लाग्यो, कद आवै वीमान ।।

अर्थात् निहाई जैसी बड़ी वस्तु की तो चोरी करता है और सुई जैसी तुच्छ वस्तु का दान करता है—फिर भी आप अपने को बड़ा भारी दानी समझते हैं और आशा करते हैं कि आपको ले जाने के लिए स्वर्ग से विमान आएगा ! उक्त कहावती दोहे में तथाकथित दानियों की वृत्ति पर अच्छा व्यंग्य कसा गया है ।

प्रतीक-पद्धति

१—गाडै लीक सो गाडी लीक ।

अर्थात् छोटे, बड़ों का अनुसरण करते हैं । यहाँ 'गाडा' बड़ों के तथा 'गाडी' छोटों के प्रतीक के रूप में व्यवहृत हुए हैं ।

२—साँप कै चीखलै को के बडो अर के छोटो ?

अर्थात् सांप के बच्चे का क्या बड़ा और क्या छोटा ? यहां सांप का बच्चा दुष्ट के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

रूप-निर्माण

कहावतों के रूप-निर्माण में तुक, लय, छन्द, अलंकार आदि के अतिरिक्त अध्याहार पर भी हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता । निम्नलिखित दो कहावतें लीजिए जिनमें वार्तालाप के पूर्वार्ध का अध्याहार करना पड़ता है—

१—बडका जीता तो फोज भेली हो ज्याती ।

एक पुरुष ने कहा—यद्यपि मैं कम कमाता हूँ तथापि खाने-पीने में यदि मुझे कुछ व्यय न करना पड़ता तो मेरे पास आज सम्पत्ति का ढेर लग जाता । इस पर दूसरे ने उत्तर दिया कि यदि तुम्हारे सबके सब पूर्वज अब तक जीवित रहते तो तुम्हारे यहाँ एक बड़ी सेना न तैयार हो जाती !

२—ब्याया नहीं तो जनेत तो गया हां ।

किसी ने कहा कि जब तुम्हारा विवाह ही नहीं हुआ तो विवाह विषयक इन बातों का तुम्हें क्या पता ? यह सुन कर अविवाहित व्यक्ति ने उत्तर दिया कि हम विवाहित

नहीं हैं तो क्या हुआ, बरात तो गये हैं। तात्पर्य यह है कि हमने यह काम नहीं किया तो क्या हुआ, औरों को तो करते देखा है।[1]

कहावत के संक्षिप्त होने के कारण भी अनेक बार अध्याहार आवश्यक हो जाता है। संक्षिप्तता से एक बड़ा लाभ यह है कि कहावत आसानी से याद हो जाती है। 'पंच परमेश्वर', 'अती खोटी' तथा 'नित बड़ी' जैसी द्विशब्दात्मक राजस्थानी कहावतें संभवत: सबसे छोटी कहावतें हैं।

भारतीय भाषाओं में अनेक कहावतें ऐसी भी हैं जो या तो स्वयं संस्कृत से प्रभावित हैं अथवा जिन्होंने संस्कृत को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए एक राजस्थानी कहावत लीजिए :—

"पंचां पंचा कीजे काज, हारे जीते न आवे लाज।"

इस कहावत को पढ़ कर संस्कृत के निम्नलिखित सुभाषित का स्मरण हो आता है :—

पंचभि: सह गन्तव्यं, स्यातव्यं पंचभि: सह।
पंचभि: सह वक्तव्यं, न दु:खं पंचभि: सह ॥

अचेतन पदार्थों के मानवीकरण की प्रवृत्ति भी अनेक कहावतों में दृष्टिगोचर होती है। यथा,

१—आ सुन्दर मन्दर चलां, तो विन रह्यो न जाय।
माता देती आसकां, बै दिन पूंच्या आय ॥

हे यष्टिके ! आओ, मंदिर चलें। तुम्हारे बिना अब रहा नहीं जाता। माता बुड्ढा-डोकरा होने की आशीष दिया करती थी, आज वे दिन आ पहुँचे हैं।

२—रूपलालजी गुरू, बाकी सै चेला।
महान रुपया गुरु है शेष सब उसके शिष्य हैं।

पहले उदाहरण में लाठी का तथा दूसरे में रुपये का मानवीकरण किया गया है।

कभी-कभी किसी अमूर्त भाव का मूर्त रूप भी कहावतों में देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित राजस्थानी कहावत लीजिए—

"अक्कल कै सवा हाथ को घूंघटो होवै।"

उक्त कहावत को पढ़ कर लगता है मानो अक्ल कोई अवगुंठनवती नायिका हो।

---

१ मिलाइए—परण्या न थी पण जाने तो गया हइशुं।

विरोध-पद्धति का आश्रय लेने से भी कहावतों में एक प्रकार के विशेष वक्रताजन्य चमत्कार की सृष्टि हो जाती है। उदाहरण के लिए दो राजस्थानी कहावतें लीजिए—

१—लुगाई कै पेट में टाबर खटा ज्याय, बात कोनी खटावै।

२—तरवार को घाव भर ज्या, बात को कोनी भरै।[1]

कहावतों के रूप का अध्ययन करते समय व्यंग्यात्मक कहावतों के प्राचुर्य की ओर हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। कुछ व्यंग्यात्मक कहावतें यहां उल्लेखनीय हैं :—

(क) **छाज तो बोलै सो बोलै पण चालणी बी बोलै जें कै ठोतरसो बेज।**

छाज तो बोल सकता है किन्तु चलनी क्या बोले जिसमें १०८ छिद्र होते हैं।

(ख) **लालाजी करी ग्यारस अर बा बारस की दादी।**

ध्वनि यह है कि लालाजी बारस के दिन जितना भोजन करते हैं उससे अधिक उन्होंने फलाहार के रूप में एकादशी के दिन भर पेट उड़ाया !

(ग) **ऐ मा ! माखी है। उड़ा ले बेटा। मा ! ऐ तो दोय है !**

पुत्र की भीरुता पर स्पष्ट ही व्यंग्य है।

(घ) **जीवतां नै नहीं खाध, मूआं करै जीमण श्राध।**

जीवितावस्था में जिनको भोजन नहीं दिया, उन्हीं के लिए उनके पुत्रादि जेमन और श्राद्ध करते हैं।

उक्त कहावत में हिन्दुओं की तथाकथित धर्म-भावना और रीति-रिवाज पर व्यंग्य कसा गया है।

कहावती वाक्यों का गठन

कहावती वाक्यों के गठन की अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनका निर्देश कुछ उदाहरणों सहित नीचे किया जा रहा है :—

१. क्रिया का अध्याहार

(क) **कमाई गैल समाई।**

(ख) **करणी जिसी भरणी।**

---

१ मिलाइए—(१) लोह तणी तलवार न लागे, जीभ तणी तलवार जिसी।
(२) तलवार दा फट मिल वैंदे, जबान दा फट नईं मिलदा।
(लहँदा कहावत)
(३) जहर उतरै पिण खारो बोलियो नहीं उतरै।

(ग) कागा हँस न गधा जती ।

(घ) काती सब साथी ।

(ङ) नानी बाई रै मायरै री ठाकुरजी नै लाज ।

उक्त वाक्यों में क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है। क्रिया के अभाव का कारण सामान्यतः तुक का आग्रह अथवा संक्षिप्तता की प्रवृत्ति है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी कहावती वाक्यों में मुख्य क्रिया का प्रयोग नही होता। नीचे के सभी वाक्यों में मुख्य क्रिया का प्रयोग हुआ है :—

(क) काणी को काजल भी कोनी सुहावै ।

(ख) काल मरी सासू, आज आयो आँसू ।

(ग) कोडी कोडी धन जुड़ै ।

२. संवाद-वाक्य

(क) काणती भाभी ! छाय घाल। घालस्यूं दही, तू सुण्यार भोत बोल्यो ना !

हे कानी भोजाई ! जरा छाछ तो देना। भोजाई ने उत्तर दिया—छाछ ही क्या, मैं तुम्हें दही दूंगी ! तुम मीठे बहुत बोले न !

(ख) काणिया पांड्या राम राम। देखी रै तेरी ट्याम ट्याम ।

हे काने पंडित ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ। उत्तर मिला—रहने दो यह ट्याम ट्याम ।

इस प्रकार के संवाद-वाक्यों में 'भौजाई ने उत्तर दिया' तथा 'पंडित ने कहा' आदि अंशों का अध्याहार अपेक्षित होता है।

३. प्रश्नोत्तरी वाक्य

(क) ओगड़ बेटो क्यांसूं मोटो ? लावो गिणै न टोटो ।

यह लड़का मोटा क्यों है ? इसलिए कि लाभ-हानि की चिन्ता नहीं करता ।

(ख) कुत्ती क्यूं घुसै है ? कै टुकड़ै खातर ।

प्रश्न—कुत्ती क्यों भौंकती है ? उत्तर—रोटी के टुकड़ों के लिए ।

प्रश्नोत्तरी वाक्यों द्वारा मनोरंजकता में वृद्धि होती है और उक्ति एक प्रकार की नाटकीयता से मंडित हो उठती है।

४. वाक्य माला

खाणू मा का हाथ को होवो भांवै झैर ई,
चालणू गैलै को होवो भांवै फेर ई।
बैठणूं भायां को होवो भांवै वैर ई,
छाया मोकै की होवो भांवै कैर ई।।

उक्त कहावत के चारों वाक्य स्वतंत्र उपवाक्य हैं; इनमें से प्रत्येक वाक्य भी एक कहावत का काम दे सकता है।

५. आश्रित वाक्य

किन्तु जब किसी कहावत में एक मुख्य उपवाक्य तथा दूसरा कोई आश्रित उपवाक्य होता है तो दोनों उपवाक्य एक ही कहावत के निर्माण में योग देते हैं। यथा—

घर में आई जोय, टेडी पगड़ी सीदी होय।

अर्थात् घर में जब स्त्री आती है तो टेढ़ी पगड़ी भी सीधी हो जाती है। यहाँ पहला क्रियाविशेषण उपवाक्य तथा दूसरा मुख्य उपवाक्य है। इस प्रकार के वाक्यों में जब, तब आदि का अध्याहार करना पड़ता है।

६. संबोधन-वाक्य

१. आ बळद ! मनै मार।
२. आ रै मेरा सम्पटपाट ! मैं तन्नै चाटूं, तूं मन्नै चाट।
३. कुत्ता ! तेरी काण कै तेरै धणी की।

इस प्रकार के संबोधन-वाक्यों से अभिव्यक्ति में एक प्रकार की वक्रता आ जाती है।

७. प्रश्न-वाक्य

(क) आंधा सुसरा सैं क्याँ की लाज ?
(ख) आपकी मा नै डाकण कुण बतावै ?
(ग) आप मर्यां बिना सुरग कठै ?
(घ) ऊँट कै मूं मैं जीरै सैं के हुवै ?

इस प्रकार के प्रश्न-वाक्य काकु वक्रोक्ति-शैली में निर्मित होते हैं जहाँ कण्ठध्वनि विशेष से ही निषेधार्थ की प्रतीति होती है।

८. अत्युक्तिपूर्ण वाक्य

चिड़ी की चांच में सो मण को लकड़ो।

अर्थात् चिड़िया की चोंच में सौ मन का लक्कड़ नहीं समा सकता ।

६. सकार-नकार मिश्रित वाक्य

(क) गाँव को ठाकर केरड़ी मार दी, पण म्हे क्यूं कहाँ ?

अर्थात् गाँव के ठाकुर ने बछिया मार दी, पर हम क्यों कहें ?

(ख) गूगो बडो क राम ? कै बडो तो है सो है ही पण सांपां सैं बैर क्यूं बंधावै ?

अर्थात् कुम्हारी ने कुम्हार से पूछा कि गूगा बड़ा या राम ? कुम्हार ने उत्तर दिया कि बड़ा तो जो है वही है अर्थात् राम बड़ा है किन्तु यह कह कर कि राम बड़ा है, साँपों से वैर क्यों करवाती हो ?

उक्त दोनों वाक्यों में बात कह भी दी गई है और निषेध भी कर दिया गया है ।

कहावती वाक्यों का गठन वस्तुतः एक विस्तृत विवेचन का विषय है। विस्तार-भय से वाक्य-गठन के कुछ ही प्रकारों का यहाँ निर्देश किया गया है। लोकोक्तिमूलक वाक्यों के गठन में तुक, अलंकार, वक्रोक्ति आदि का विशेष योग देखने को मिलता है । कहावती वाक्यों में इस प्रकार के बिम्बों का प्रयोग होता है जो लोकमानस-गम्य और समझने में सुगम होते हैं ।

व क्य-गठन के निरूपण के लिए ऊपर केवल राजस्थानी कहावतों से ही उदाहरण संकलित किये गये हैं किन्तु यदि विविध भाषाओं की कहावतों के वाक्य गठन का विश्लेषण किया जाय तो असंख्य रूप उपलब्ध हो सकेंगे ।

कहावतों का महत्व

शताब्दियों से कहावतें जनता को शिक्षित करने का काम करती आई हैं। जॉनसन के शब्दों में "हमसे त्रुटि और मूर्खतापूर्ण कार्य इसलिए नहीं होते कि हम कर्म के सच्चे सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं बल्कि इसलिए कि समय-विशेष पर हम उन्हें भूल जाते हैं । इसलिए उस व्यक्ति को, जो जीवन के नियमों को छोटे-छोटे वाक्यों में आबद्ध कर देता है, यदि मानवता का उपकारी माना जाय तो यह उचित ही है । संक्षिप्त कहावती वाक्य स्मृति-पट पर शीघ्र ही अङ्कित हो जाते हैं और उनकी बार-बार आवृत्ति होने से वे स्वभावतः ही मनश्चक्षुओं के सामने आते रहते हैं ।"[2]

जीवन में व्याप्त अनेक मानसी व्यथाओं के लिए कहावतें पेटेंट औषधियों का काम देती हैं । वे एक प्रकार से छोटी-छोटी गुटिका अथवा वटिका की भांति हैं

जिन्हें आसानी से संचित रखा जा सकता है, सुगमतापूर्वक जिनकी आवृत्ति की जा सकती है तथा सरलता से जिनका स्मरण एवं कथन किया जा सकता है।[1]

सभी प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान कहावतों में सुरक्षित मिलता है। किस पर विश्वास करना और न करना, सुख-दुःख में किस प्रकार व्यवहार करना, सगे-सम्बन्धियों और मित्रों के साथ कैसा बर्ताव करना, सज्जन-दुर्जन को किस प्रकार पहचानना आदि सभी प्रसंगों से संबद्ध कहावतें उपलब्ध होती हैं। अतः कहावतों पर मनन और तदनुरूप आचरण करने वाला व्यक्ति निश्चय ही व्यवहार-कुशल हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

उपयोगी समझ कर ही अरस्तू जैसे महापुरुष ने कहावतों का संग्रह किया था। स्वयं ईसा मसीह ने बाइबिल में कहावतों का प्रयोग किया। कहावतों के प्रसिद्ध विवेचक ट्रेंच के शब्दों में "अधिकांश कहावतों में सद्भावना और सामान्य बुद्धि का निदर्शन, स्वाभाविक संतुलन, दया, जीवन के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण व्यावहारिक नियम, ज्ञान, मितव्ययिता, धैर्य, अध्यवसाय, पुरुषोचित स्वातन्त्र्य, मानव-स्वभाव का ज्ञान, मित्रों का चुनाव, बच्चों का लालन-पालन, सम्पत्ति तथा विपत्ति में व्यवहार, असीम आकांक्षाओं का संयम आदि के सम्बंध में जो उपयोगी संकेत मिलते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं।"

सरोवर में पत्थर फेंकने से जिस प्रकार जल की तरंगें चारों ओर फैल जाती हैं, उसी प्रकार कहावत रूपी तरंगें भी मानव-समाज रूपी सरोवर में क्रीड़ा करने लगती हैं। हाँ, यह सच है कि अशिक्षितों में कहावतों का विशेष प्रचार देखा जाता है। ग्रामीण स्त्रियाँ परस्पर बातचीत में कहावतों का प्रचुर प्रयोग करती देखी जाती हैं।

कहावतें सर्वसाधारण के लिए सहस्रों उपदेशकों का काम देती हैं। बहुधा कहावतों के आधार पर ही अनेक प्रकार के संदेहों का निराकरण हो जाता है।

---

1. Proverbs are somewhat analogous to those medical formulas which, being in frequent use, are kept ready-made in the chemist's shops and which often save the framing of a distinct prescription—Whately. They are in other words the patent medicines for many of the ills of life. They are often the by, products of life's bitterest experiences–wisdom gathered from the living of life,–wisdom concentrated in pithy sayings and in tabloid from, easy to store and easy to repeat, esay to remember and easy to recite.

(Aryan Path, May 1946)

परम्परा का बल प्राप्त होने के कारण कहावत स्वत: एक प्रबल युक्ति का काम देती है। अरस्तू के शब्दों में "लोकोक्तियां साक्षी का रूप धारण किये रहती हैं।"[1]

कहावतों से शिक्षा प्राप्त होती है, इसलिए उनसे परिचित होने का आदेश दिया गया है।[2]

फ्रैंकलिन अपने तिथि-पत्रों (almanacks) को कहावतों से भरा रखता था। अष्टम हेनरी के शासन-काल में सर टामस ईलियट (Sir Thomas Elyot) ने इस बात का उल्लेख किया है कि किसी अमीर के घर में भित्तियों पर कहावतों का उत्कीर्णन अलंकरण के रूप में ग्रहण किया जाता था। आगे चलकर लोगों ने पर्दों पर कहावतें चित्रित करवाईं, बर्तनों पर कहावतें अंकित करवाई गईं, चाकुओं के फलकों पर, तश्तरियों के सिरों पर तथा स्वर्ण की बनी अंगूठियों पर कहावतों ने अपना आसन जमाया। एलिजाबेथ के शासन काल में हाउस आफ कामन्स के एक सदस्य ने तो अपना समूचा भाषण ही घरेलू कहावतों के रूप में दिया था। एक इस प्रकार का उदाहरण भी मिलता है जब सर डडले कार्लटन (Sir Dudley Carlton) ने लार्ड मिडिलसेक्स (Middlesex) पर अभियोग लगाने के प्रसंग में सन् १६३२ में एक पूरा पत्र ही लोकोक्तियों के रूप में तैयार किया था।

१४ वें लुई के शासन-काल में कहावत-सम्बन्धी विषयों के आधार पर सुखान्त नाटकों की सृष्टि की गई थी। Duke de la valliere ने कहावतों के एक सुखान्त नाटक का उल्लेख किया है जो सन् १६३४ में बड़ी सफलता के साथ अभिनीत हुआ था। इसी प्रकार कहावतों के एक नृत्य-नाटक में स्वयं लुई चतुर्दश ने भाग लिया था। फ्रान्स में ऐसे अनेक एकांकी नाटकों की रचना हुई जिनके शीर्षक कहावतों के रूप में रखे गये। इस प्रकार के कहावत-विषयक नाटकों की उद्भावना Carmontel ने की थी जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की विनोद-वृत्ति पाई जाती थी। रूस की प्रसिद्ध कैथराइन भी इस प्रकार के नाट्य-निर्माण में बड़े आनन्द का अनुभव करती थी।

उक्त विवेचन से कहावतों की उपयोगिता और उनका महत्व स्पष्ट है। किसी ने कहा है कि हम भले ही वृद्ध हो जाएँ किन्तु फिर भी कहावतें हमारे लिए नवीन बनी रहती हैं। सत्य और प्रकृति, ये दोनों कभी पुराने नहीं पड़ते।[3]

---

1. Proverbs are in the nature of evidence. Aristotle.
2. Acquaint thyself with proverbs for of them thou shalt learn instruction.—Ecclesiasticas 8, 8.
3. We may grow old and find novelty in proverbs. Truth and nature can never be obsolete.

मानव-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में कहावतों की व्याप्ति दृष्टिगोचर होती है। जीवन की सभी रंगीनियों से वे क्रीड़ा करती हैं, उनके निर्माण में प्रतिभा की झलक के दर्शन होते हैं, उनकी विनोद-वृत्ति मानव-मन को आह्लादित करती है, उनका व्यंग्य सामाजिक सुधार की उद्देश्य-पूर्ति में सहायक होता है; उनके बिम्बों, प्रतीकों और अलंकारों द्वारा काव्य का-सा आनन्द प्राप्त होता है। मानव-हृदय कहावतों के लिए खुला रहता है, वे उसमें झांक कर देखने की क्षमता रखती हैं, वे इस प्रकार एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की यात्रा करती रहती हैं कि अनेक बार उनकी जन्म-भूमि का पता ही नहीं चलता।

कहावतों का निर्माण

कभी-कभी यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि कहावतों का निर्माण पुरुषों ने किया अथवा स्त्रियों ने ? इस सम्बन्ध में नारी-विषयक कुछ राजस्थानी कहावतें लीजिए :—

१. लुगाई कै पेट में टाबर खटा ज्याय पण बात कोनी खटावै।

२ गाड़ी को फाचरो' र लुगाई को चाचरो कूट्योड़ो ही चोखो।

अर्थात् स्त्री के पेट में बच्चा समाया रहता है किन्तु बात नहीं समाती; वह भेद को गुप्त नहीं रख सकती। गाड़ी के फाचर और स्त्री के सिर को जितना कूटा जाय, उतना ही अच्छा।

इस प्रकार की कहावतों के निर्माण करने वाले निश्चय ही पुरुष रहे होंगे। यदि कोई स्त्री 'गाड़ी को फाचरो' र मरद को चाचरो कूट्योड़ो ई चोखो' इस प्रकार 'लुगाई' के बदले कहावत में 'मरद' बिठला दे तो क्या हो ! किन्तु राजस्थान की बहुत सी अशिक्षित स्त्रियां तो स्वयं यह कहती हुई देखी-सुनी गई हैं कि स्त्री की जाति ही ऐसी है, उसे तो दबी हुई ही रहना चाहिए, अन्यथा उसके उच्छृंखल हो जाने का भय है और अपने कथन के समर्थन में वे लोकोक्तियों का आश्रय लेने लगती हैं चाहे वे लोकोक्तियां नारी-जाति के विरुद्ध ही क्यों न पड़ती हों।

किन्तु इसका अर्थ यह न समझा जाय कि स्त्रियों ने कहावतों का निर्माण किया ही नहीं। उदाहरण के लिए एक कहावत लीजिए :—

"A wooden mother is better than a golden father."

इस प्रकार की कहावत के निर्माण में निश्चय ही स्त्री-जाति का हाथ रहा होगा।

कहावतों का वर्गीकरण

Behar Proverbs के संपादक ने कहावतों को निम्नलिखित ६ वर्गों में विभक्त किया है—

१. मनुष्य की कमजोरियों, त्रुटियों तथा अवगुणों से सम्बद्ध—इस वर्ग में निम्नलिखित का समावेश हुआ है—बनना, बहानेबाजी, झूठापन, धोखेबाजी, छद्मवेशिता, लालच, कंजूसी, प्रलोभन, लालसा, बन्दरपन, झिड़की, सताना, रौद्र रूप धारण करना, बुरा लेख, बड़बड़ाहट, ऐंठ, अत्यधिक व्यय, अतिशयोक्ति, पेटूपन, कृतघ्नता, अज्ञान, दूरदर्शिता, गुणग्राहकता का अभाव, असावधानी, थोथे प्रदर्शन के प्रति रुचि, व्यर्थ की डींग हांकना, छैलापन, जिद्दीपन, अहंकार, आवश्यकता से अधिक विश्वास, अविनय, लापरवाही, स्वार्थपरता, हृदयहीनता, दुराग्रह, अपनी बात रखना, व्यर्थ की इच्छा, व्यर्थ की आशा, निरर्थक प्रयत्न आदि ।

२. सांसारिक बुद्धिमत्ता, सूक्तियों, अवसरवादिता, चातुर्य, चेतावनी और सलाह आदि से संबंधित ।

३. जातियों की विशेषताओं से सम्बद्ध ।

४. सामाजिक और नैतिक विषयों से सम्बद्ध, धार्मिक रीति-रिवाज और लोक-प्रचलित अन्ध-विश्वासों से सम्बद्ध—
साला, साली, वर-वधू, अन्धा-बहरा, लड़की, आश्रित जन, नृत्य, मूर्ख, मेहमान और मेजमान, आदत, पति-पत्नी, हृदय की अन्यतम अभिलाषा, लाचारी, रत्न, शरारती लोग, सास, दूसरे को दोष देना, झगड़ालू स्त्रियां, जुआरी, झगड़े और हँसी-मजाक, बहिन, सहानुभूति और उसका अभाव, पुत्र, संगीत, कष्टों की वृद्धि, तम्बाकू, चोर, विधवा, विवाह, उपासना, आदि वर्गों का सामावेश उक्त व्यापक वर्ग में हुआ है ।

५. कृषि और ऋतुओं से सम्बद्ध ।

६. पशु और सामान्य जीव-जन्तुओं से सम्बन्धित ।

Manuaring ने अपनी Marathi Proverbs नामक पुस्तक में कहावतों के निम्नलिखित १४ वर्ग निर्धारित किये हैं—कृषि, जीव-जन्तु, शरीर और उसके प्रत्यंग, नैतिक, भोजन, स्वास्थ्य और बीमारी, गृह, धन, नाम, प्रकृति, सम्बन्ध, धार्मिक-व्यापार और पेशे तथा प्रकीर्ण ।

कहावतों के वर्गीकरण की सर्वश्रेष्ठ पद्धति क्या है, इस प्रश्न ने आज से २०० वर्ष पहले अंग्रेजी कहावतों के प्रसिद्ध संग्राहक रे को भी उलझन में डाल दिया था ।

वर्गीकरण की सबसे बड़ी कठिनाई, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह है कि कहावत अनेक वर्गों में रखी जा सकती है। इसलिए रे का कहना था कि करीब-करीब कहावतों के संग्रह जितनी ही लम्बी सूची ग्रन्त में देने से ही काम चल सकेगा।

R. C. Temple का कहना है कि पौरस्य देशवासियों ने वर्गीकरण करते समय अकारादिक्रम-पद्धति को ही अपनाया है और व्यावहारिक दृष्टि से यही सबसे अधिक उपयोगी भी है।

सन् १९५० में Racial Proverbs नामक पुस्तक का दूसरा संस्करण छपा था जिसके सम्पादक हैं Selwyn Gurney Champion, M. D.। इसमें दुनियां के सभी देशों की चुनी हुई कहावतों का भाषावार संग्रह किया गया है। कहावतों के वर्गीकरण पर महत्वपूर्ण विचार इस पुस्तक में व्यक्त किये गये हैं। सम्पादक के शब्दों में "प्राचीन काल के कहावत-संग्रह-कर्त्ताओं ने प्रत्येक कहावत के प्रथम शब्द के पहले अक्षर को लेकर अकारादिक्रम से वर्गीकरण किया है। दूसरे लोगों ने ऐसा करने के साथ-साथ मित्रता, प्रेम, ईश्वर, देश आदि वर्ण्य-विषयों को लेकर लोकोक्तियों को प्रस्तुत किया है। कुछ लोगों ने कहावतों के अन्त में मुख्य शब्दों की सूची दे दी है किन्तु ऐसी सूचियों में एक-एक शब्द के अन्तर्गत सैकड़ों कहावतें रखी गई हैं। इसलिए केवल एक कहावत के तलाश करने के लिए उन सब कहावतों को देखना होता है। 'Oxford Dictionary of English Proverbs' की सूची में केवल 'Horse' के नीचे करीब १०० कहावतों के प्रसंग दिये हुए हैं। इसलिए इस प्रकार की सूची को लेकर अगर कहावत तलाश की जाय तो बहुत-सा समय बरबाद हो जाने की सम्भावना है।" G. L. Apperson ने अपनी पुस्तक 'English Proverbs and Proverbial Phrases' में वर्ण्य-विषय और प्रथम महत्वपूर्ण शब्द को लेकर सूची दी है किन्तु इस सूची में महत्वपूर्ण शब्द कौनसा है, इसके सम्बन्ध में विवेक से काम नहीं लिया गया है। 'Every man wishes water to his own mill' में Every शब्द को महत्वपूर्ण ठहराया गया है किन्तु इस कहावत में Every शब्द को किसी भी प्रकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। Racial Proverbs के सम्पादक ने प्रत्येक कहावत के प्रमुख शब्द को लेकर कहावतों का अकारादिक्रम से वर्गीकरण किया है। उदाहरण के लिए कुछ कहावतें लीजिए—He **acts** well who acts quickly. One **advice** bought is worth two advices gratis. Be duly **afraid** and there is no danger. अन्त में उन्होंने Subject-mtetar Index और Alternative chief word Index—इस प्रकार की दो सूचियाँ दे दी हैं। इस पद्धति का रूपान्तर से प्रयोग सबसे पहले Dr. Anderson और Mr. Cundall ने अपने ग्रन्थ Jamaica Negro Proverbs and

Sayings में किया था। यह ग्रन्थ लन्दन से सन् १६२७ में छपा था। यदि एक ही कहावत में दो महत्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग हुआ हो तो Racial Proverbs के संपादक ने पहले शब्द को महत्वपूर्ण मान कर अपना संग्रह तैयार किया है। मुख्य शब्द के पहले यदि किसी विशेषण का प्रयोग हुआ हो तो उस विशेषण को जान-बूझ कर छोड़ दिया गया है। स्व. W. S. Stallybrass ने अपने उद्धरण-ग्रन्थ में इसी पद्धति का उपयोग किया था जिसके कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ था। वस्तुत: कहावतों की किसी सर्वमान्य वर्गीकरण-पद्धति का निर्देश नहीं किया जा सकता।

'कहावत' शब्द कितना प्राचीन है, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। श्री आनन्दघनजी कृत कुन्थुनाथ स्तवन के निम्नलिखित पद्य में 'कहावति' का शब्द का प्रयोग हुआ है—

मन साध्यो तेणें सगलो साध्यो,
ए कहावति नहि षोटी।
अमकै साध्यूं ते नवि मान्यूं,
ए कहावति छै मोटी॥

श्री आनन्दघन जी का स्वर्गवास सं० १७३० में हुआ; उनका रचना-काल लगभग सं० १७०० माना जाता है। उक्त स्तवन में 'कहावत' के लिए 'उपाणो-न्याय' भी व्यवहृत हुआ है—

रजनी वासर वसती ऊजड़, गयण पयालो जाय।
साप खाय नै मुंहडै थूथो, ए उषाणो न्याय॥

'पाइअसद्दमहण्णवो' में कहावत के लिए 'आहाण' और 'आहाणय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। श्रीमद्धनेश्वरमुनीश्वरविरचित "सुरसुन्दरी-चरिअं" में कहावत के लिए 'आहीणं' शब्द का प्रयोग हुआ है—

अह भणइ पुहइ-नाहो ईसिं हसेऊण, देवि।
आहीणं संजायं जं सम्मइ एत्थ लोगम्मि॥

(सुरसुन्दरीचरिअम्मि बीओ परिच्छेओ-गाहा)

'कहावत' शब्द की व्युत्पत्ति बहुत कुछ विवादास्पद है। डा० धीरेन्द्र वर्मा कह धातु के आगे आवत (कृदन्त) द्वारा 'कहावत' शब्द को व्युत्पन्न करते हैं।[1] प्रस्तुत लेख के अन्त में 'कहावत' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के अभिमत दिये जा रहे हैं।

---

१. द्रष्टव्य—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० २३२-२३३

'कहावत' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के अभिमत

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन (पत्र ता० १७-८-५३)

कहावत कथा वार्ता या कहा-वत ∠ -कहा-वट-कहावत

२. मौलाना आजाद (पत्र ता० १७-८-५३)

You may say that Kahawat is from the verb Kahna, as has previously been suggested to you.

'Wat' or 't' is not an Arabic suffix in Kahawat. It is entirely beside the mark.

'Wat' or 'Bat' as you have written in your letter as meaning "a thing" seems to be too far-fetched. Grammar comes later in the history of literature, and therefore, we cannot judge every word according to rules of later origin. You may simply say that Kahawat has come to mean "a saying or proverb," just as Kahani by common usage has come to mean a story.

Kahawat originally comes from Kahna but it cannot be said that it is equal to Kah+Bat. It is a simply a word which has rown from Kahna, without any conscious attempt to co-ordinate t with any fixed rule of grammar, and has by long usage come to mean as it does at present.

3. Dr. A. N. Upadhye (Letter dated 18-10-1951)

The term Kahawata, I do not think, is of Sanskritic origin; please try Persian and Arabic sources. As far as I understand the term, it means what we understand by Arthantaranyasa is Sanskrit. The range of Arthantaranyasa is sufficiently wide in Sanskrit, Prakrit and Apabhramsa literatures.

४. लालचन्द्र भगवान् गांधी (पत्र ता० १६-१०-५१)

प्राकृत में 'कहावत्ता,' संस्कृत में 'कथा-वार्त्ता' शब्द के साथ 'कहावत' शब्द का निकट सम्बन्ध है। कथा-वार्ता में विशेष उपयुक्त होने से उसी नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई मालूम होती है। कथा-वार्ता के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

५. डा० वासुदेवसरण अग्रवाल (पत्र ता० २२-१०-५१)

कहावत शब्द की निश्चित व्युत्पत्ति के विषय में अभी ऐकमत्य नहीं है। प्लाट ने व्युत्पत्ति कथावत् से मानी है, अर्थात् जिसके मूल में कोई कथा हो। प्राकृत कहाप् धातु से भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए त्त प्रत्यय जोड़कर कहा-पत्त 7 कहावत बन सकता है।

६. Dr. H. L. Jain (पत्र ता० १८-१०-५१)

कहावत की व्युत्पत्ति अभी विचारणीय है। मूल धातु 'कथ' है, इसमें तो संदेह नहीं। उससे उत्पन्न कथापितृ, कथोद्घात या कथावृत्त से इसकी उत्पत्ति होना सम्भव है। अपभ्रंश में 'अहाणउ (आभाणक) का उपयोग तो याद आता है किन्तु कहावत के किसी पूर्व का नहीं। इसमें उर्दू-फारसी शब्द रचना का कुछ हाथ हो तो आश्चर्य नहीं। मुसीवत जैसे शब्द सम्मुख रख कर इस ओर विचार किया जा सकता है।

७. डा० भोगीलाल सांडेसरा (पत्र ता० १८-१०-५१)

'कहावत' (गुज० कहेवत) का पर्याय गुजराती में 'कहेती' भी है। इसकी व्युत्पत्ति का प्रश्न चिन्त्य है।

८. आचार्य मुनि जिनविजय (पत्र ता० १३-८-५१)

कहावत शब्द का मूल 'कथा-वार्ता' है।

९. डा० उदयनारायण तिवारी (पत्र ता० १-५-५४)

संस्कृत में कहावत के लिए लौकिक न्याय अथवा उक्ति शब्द का प्रयोग होता है। अन्य आर्य भाषाओं में कहावत के लिए निम्नलित शब्द प्रचलित हैं:—

उर्दू	—	जर्बुल मिस्ल
बंगला	—	प्रवाद वाक्य, प्रचलित वाक्य
मराठी	—	म्हण, म्हणणी, आणा, आहणा, न्याय, लोकोक्ति इनमें म्हण तथा म्हणणी सर्वाधिक प्रचलित हैं।
गुजराती	—	कहेवत, कहेणी, कथन, उखाणु
लहंदी	—	अखाण
गढ़वाली	—	पखाणा

१०. पं० झाबरमल्ल शर्मा, जसरापुर (पत्र ता० २७-८-५३)

राजस्थानी में ओखाणा, कहावत, कैबत, कहबत, आदि शब्दों के अतिरिक्त लोकोक्ति के लिए और कोई प्रचलित शब्द मेरे ध्यान में नहीं है। हाँ,—शायद एक 'कहणावण' भी है। कहावतों को मैं संस्कृत न्याय के ही अर्न्तगत मानता हूँ।

११. Dr. S. K. Chatterji (पत्र ता० २६-८-१९५३)

The origin of the word Kahawat would appear to be Old Indo-Aryan ∠Kathay∠Katha + Early MIA. Causative or de-

nominative affix — apay — + IA present participle affix (Sar- —ant — * Kathapayanta * Kadhapayanta 7 *Kahavanta, Kahavanta 7 Kahawat.

In Bengali, tne tadbhava word (Kahawat as in Hindi) is not used, we use the Sanskrit words pravada, vacana, Pravacana and Lokokti. The Behari dialects use Kahavat and the other words (Sanskrit words) too.

राजस्थानी कहावतों में हास्य का स्वरूप

●

हास्य जीवन की मनोरंजनी वृत्ति है जिसका प्रादुर्भाव विद्रूपता अथवा असंगति से होता है। 'रुपया गुरु है, शेष सब उसके चेले हैं — इसके स्थान में एक राजस्थानी कहावत में कहा गया है—"रूपलाल जी गरू और सै चेला।" अर्थात् रूपलालजी गुरु हैं, शेष सब चेले हैं। इसमें मानवीकरण द्वारा रुपये को 'रूपलालजी' कहने से हँसी आती है। इसी से मिलती-जुलती पद्धति निम्नलिखित कहावत में भी अपनाई गई है—

'अनियूँ नाचै, अनियूँ कूदै, अनियूँ तोड़ै तान।' भाव यह है कि अन्न के बल पर ही नाच-कूद और राग-रंग सूझते हैं। यहां अन्न को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है मानो 'अनियूँ' किसी व्यक्ति का नाम हो। मानवीकरण द्वारा प्रसूत नाम की यह विद्रूपता अनेक कहावतों में हास्य की सृष्टि करती है।

असंगति-जन्य हास्य के निदर्शनार्थ निम्नलिखित लोकोक्ति लीजिए :—

गुड़ कोनी गुलगुला करती, ल्याती तेल उधारो।
परींडा में पाणी कोनी, बलीतो कोनी न्यारो॥
कड़ायो तो मांग कर ल्याती, पण आटा को दुख न्यारो।
पड़ोसण कै आटो कोनी, ओ बी साँसो न्यारो॥

एक स्त्री की उक्ति है—गुड़ नहीं है, नहीं तो गुलगुला बनाती। तेल तो किसी से उधार ही माँग लाती। घर के जलागार में पानी नहीं है, न ईंधन का ही कोई 'जोगाड़' है। कड़ाह तो मांग कर ही ले आती किन्तु आटे का भी तो नितान्त अभाव है। आटा पड़ोसिन से ही मांग लेती किन्तु पता चला कि उसके पास भी आटा नहीं। कितनी असंगत बात है यह! जब कुछ भी नहीं तो यह स्त्री गुलगुले बनायेगी क्या खाक! उक्त स्त्री की सर्वथा साधनहीनता तथा इच्छा का वैषम्य भी श्रोताओं की हँसी का कारण हो सकता है।

कभी-कभी कोई व्यक्ति जब बहुत ही नादानी की बात करता है तो भी हास्य का उद्रेक हुए बिना नहीं रहता। एक चरवाहे का लड़का किसी के पास गया और कहने लगा "मैं आपके ऊँट चरा लाया करूँगा, मुझे दूसरे की अपेक्षा आप चराई के कुछ कम पैसे दे दिया करें।" ऊँट के मालिक ने पूछा कि ऊँट खो जाय तो ? चरवाहे ने बड़े सरल, स्वाभाविक ढंग से उत्तर दिया—"ऊँट खो जाय तो मेरी टोपी उतार लेना !" चरवाहे की दृष्टि में मानो उसकी टोपी से अधिक और कोई कीमती चीज नहीं हो सकती थी। टोपी तथा ऊँट की मूल्य-जनित विद्रूपता (Incongruity) भी निम्नलिखित राजस्थानी कहावत में द्रष्टव्य है:—

"ऊँट खो ज्याय तो मेरी टोपली उतार लिये !"

हॉब्स के मतानुसार किसी की नादानी पर हँसने का कारण दूसरों की हीनता द्वारा प्रादुर्भूत हमारी उच्चानुभूति में निहित है।+ इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति चतुराई का आश्रय लेकर अपनी अर्थ-सिद्धि करना चाहता है, तब भी हमारी हँसी फूट पड़ती है। उदाहरणार्थ एक राजस्थानी कहावत लीजिए:—

सासू बोली—बीनणी, ग्यारस करसी के ?

बीनणी बोली—मैं तो टाबर हूं।

सागार कै बखत सासू पूछ्यो—बीनणी, सागार लेसी के ?

बीनणी बोली—इसी के अभागण हूं सो सागार बी कोनी लेस्यूँ ? ग्यारस तो कोनी करी सो कोनी करी पण इतरो पुण्य तो मैं बी लेईस्यूं।

अर्थात् सास ने पूछा, "हे बहू ! एकादशी का व्रत करेगी क्या ?

बहू ने उत्तर दिया, "अभी व्रत करने जैसी मेरी अवस्था ही कितनी है ?"

फिर फलाहार के समय जब अच्छे-अच्छे फल और व्रत-प्रयोज्य मिठाइयाँ सामने थीं, तो सास ने फिर बहू से पूछा, "हे बहू ! शाकाहार करोगी क्या ?"

चतुर बहू के मुंह में पानी आ गया और उसने चट उत्तर दिया, "मांजी ! मैं ऐसी भी क्या अभागिनी हूँ जो शाकाहार भी न करूँ। एकादशी का व्रत न किया तो न सही, शाकाहार का पुण्य-लाभ तो लूँगी ही !"

निश्चय ही बहू का यह वाक्-चातुर्य मधुर हास्य की सृष्टि किये बिना नहीं रहता। उक्त कहावत में वाग्वैदग्ध्य (wit) और हास्य (Hunour) दोनों का गंगा-

---

+The basis of our perception of the ludicrous is a sense of our own superiority awakened by our being confronted with inferiority in others.—Hobbes.

जमुनी-संगम दृष्टिगोचर होता है। कभी-कभी गप की सीमा का स्पर्श करती हुई अत्युक्ति भी हास्योत्पत्ति में हेतुभूत होती है। यथा,

दादो घी खायो, म्हारी हथेली सूँघल्यो।

किसी ने कहा—हमारे दादा ने घी खाया था। प्रमाण चाहते हो तो हमारी हथेली सूँघ लो।

अनेक बार अज्ञान को छिपाने का प्रयत्न भी श्रोता के हृदय में हास्य जागृत कर देता है। उदाहरण के लिए एक मेवाड़ी कहावत लीजिए—

"अस्या पर ऐई सोवे है।"

अथात् ऐसे पर ऐसा ही शोभित होता है। उक्त कहावत के स्पष्टीकरण के लिए नीचे लिखी कथा उल्लेख्य है—

"कीं गांव में अंबावाड़ी (अंबाड़ी) सेत हाथी आयो। ज्यां पेली हाथी देख्यो नहीं, अस्या बाप बेटा आपस में बोल्या। बेटे पूछ्यो—यो ईं पर काईं है? बाप भी अजाण हो पण समझणो हो सो बात टोलाय बोल्यो भाई अस्या पर अंही सोवे है।"

अर्थात् किसी गाँव में हौदे सहित एक हाथी आया। पिता-पुत्र ने पहले कभी हाथी देखा नहीं था। पुत्र ने पूछा, "यह इस पर क्या है?" बाप अजान था किन्तु था समझदार, इसलिए बात टाल कर बोला, "भाई! ऐसे पर ऐसा ही शोभित होता है!"

कभी-कभी असाधारण अथवा अजीब नाम भी हँसी का कारण बन जाता है। एक बाबाजी का नाम बैंगनदास था जिसे लेकर निम्नलिखित उक्ति कही गई है—

बाबाजी का बावाजी, तरकारी की तरकारी। उक्त कहावत को पढ़कर विपरीत–साम्य–निदर्शनार्थ निम्नलिखित प्रसंग का स्मरण हो आता है—

When Sir Alfred (now Lord) Bossom was speaking in the Commons one day, Churchill muttered: 'Bossom, Bossom. Extraordinary name, neither one thing, nor the other.

यदा-कदा कोई अद्भुत अथवा अप्रत्याशित युक्ति गाम्भीर्य–प्रसंग में भी हास्य प्रस्फुटित कर देती है। कहा जाता है कि एक बड़ी उम्र का दूल्हा विवाह करने के लिए गया। जब वह भाँवर लेने बैठा तो कन्या की माता अपनी लड़की को मंडप तक लाने में कुछ आगा-पीछा करने लगी। देर होते देख कर वर-पक्ष वालों ने पूछा, "माजरा क्या है? विलम्ब क्यों हो रहा है?" इस पर कन्या-पक्ष वालों ने उत्तर दिया, "वर अधिक उम्र का है, उससे विवाह कैसे हो?" तुरन्त ही वर-पक्ष वालों में

से किसी मसखरे ने उत्तर दिया, "ज्यों-ज्यों देर कर रहे हो, त्यों-त्यों वर और भी बड़ा होता जा रहा है। अब तो जल्दी करो।" उक्त कथा-गर्भित राजस्थानी कहावत का रूप निम्नलिखित है:—

"वीन तो वडो घणू
कै और ना बडो होयो जाय है,
अब तो जल्दी करो।"

राजस्थान में ठाकुर को लेकर अनेक हास्य-गर्भित कहावतें प्रचलित हैं जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

१. ठाकरां, ऊत गई, कह—गयां ही जाय है।
२. ठाकरां, क्यूं गावो, कह—रोवण में ही कोनी धापां।
३. ठाकरां, खल खावो हो, कह—आ ही कुत्तां हूं खोसी है।
४. ठाकरां, गैर बखत कठे, कह—गैर बखत तो म्हे ही हां।
५. ठाकरां, घोड़ी ठेका तीन देसी। कह—ठाकर यार तो पैलै ही ठेकै आसी दोय तो एकली देसी।
६. ठाकरां, ठाडा किसाक ? कह—कमजोर का तो बैरी ही पड़या हाँ।
७. ठाकरां, धोला आयगा और भागो हो,—कह-भाग-भाग तो धोला लिया हैं, नहीं तो कालां में ही मार गेरता।
८. ठाकरां, पूंचो पतलो दीसै है ? कह—लाग्यां वेरो पड़सी।
९. ठाकरां, व्याया क कुंवारा ? कह—आधा। आधा क्यूं ? कह-म्हे तो त्यार हां, आगलो मिल ज्याय तो पूरा हो ज्यावां।
१०. ठाकरां, भागो किसाक ? कह—गैल की मार जाणिये।
११. ठाकरां, मर्या सुण्या ! कह—सांपरत खड़या हां नी।

(हिन्दी रूपान्तर)

किसी ने कहा—ठाकुर साहब ! आपके यहाँ तो सब निकम्मे निकले। उत्तर—मिला, निकम्मे तो अब भी निकल रहे हैं। (१)

हे ठाकुर, कुछ गाओ। उत्तर—रोने से फुरसत मिले तब न ! (२)

हे ठाकुर ! खली खा रहे हो ? उत्तर—यह भी कुत्तों से छीनी है। (३)

हे ठाकुर ! डाका पड़ने आदि के समय आप कहाँ जाते हैं ? उत्तर—डाका तो हमारे ही कारण पड़ता है। (४)

हे ठाकुर ! घोड़ी तीन उछाल मारेगी। उत्तर—ठाकुर यार तो पहली ही उछाल पर नीचे गिर पड़ेगा, दो उछाल तो घोड़ी अकेली मारेगी। (५)

हे ठाकुर ! आप कितने बलवान हैं ? उत्तर-कमजोर के तो पूरे शत्रु पड़े हैं। (६)

हे ठाकुर ! आपके बाल सफेद हो गये और अब भी भागते हैं ? उत्तर-भग-भग कर ही तो सफेद तक पहुंचे हैं, अन्यथा काले बालों के समय ही लोग मार डालते। (७)

हे ठाकुर ! आपकी कलाई पतली दिखलाई पड़ती है ? उत्तर--लगने पर (मार पड़ने पर) पता चलेगा। (८)

हे ठाकुर ! आप विवाहित हैं या अविवाहित ? उत्तर-आधे। प्रश्न-आधे कैसे ? उत्तर-हम तो तैयार हैं, कोई लड़की देने वाला मिल जाय तो पूरे विवाहित हो जाएँ। (९)

हे ठाकुर ! आप भगने में कैसे हैं ? उत्तर-पीछा करने वालों की मार के अनुरूप। (१०)

हे ठाकुर ! सुना, आप स्वर्ग सिधार गये। उत्तर-प्रत्यक्ष न खड़ा हूँ। (११)

ठाकुर- विषयक उक्त कहावतों में निम्नलिखित तथ्य ध्यातव्य हैं :—

(क) ठाकुर इस ढंग से उत्तर देता है जो असाधारण, अद्भुत तथा अप्रत्याशित है। किसी ने जब ठाकुर से यह पूछा था कि आपके सन्तान क्या है, तो ठाकुर ने उत्तर दिया था—भाई के साले के दो बच्चे हैं।

"ठाकराँ कीं टावर-टीकर है ? कह–भाई कै साळे कै दो डावड़ा है।" ध्वनि यह है कि न मेरे, न मेरे भाई के कोई संतान है।

(ख) अनेक कहावतों में ठाकुर स्वयं अपने पर हँसता है और यह आत्म-हास्य पर-हास्य को जन्म देता है जो हास्य का सुन्दर रूप है।

(ग) उक्त कहावतों में अनेक व्यंग्य-गर्भित हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसे हैं जो यह मान कर चलते हैं कि दूसरों के दुःख की प्रच्छन्न कल्पना हमारे हास्योद्रेक का कारण बन जाती है। बर्गसां ने हास्य-विषयक अपने निबन्ध में इस सिद्धान्त को पल्लवित किया है। इस प्रसंग में निम्नलिखित राजस्थानी कहावत लीजिए :—

हड़-हड़ हँसे कुम्हार की, मालण का टूटै बूंट।

तू के हाँसै बावली, कै कड़ बैठै ऊँट ?

एक ऊँट के बोरे में एक तरफ तो मिट्टी के बर्तन थे और दूसरी तरफ हरे-भरे पौधे। ऊँट ने पौधों को खाना शुरू कर दिया। इस पर कुम्हार की लड़की हँसने

लगी । यह देख कर मालिन की लड़की ने कहा, 'पगली, अभी क्या हँसती है ? देखना यह है कि ऊँट किस करवट बैठता है ? कहा जाता है कि ऊँट जब बैठा तो धरती पर लोटने लगा जिससे कुम्हार की लड़की के बर्तन फूट गये । इसीलिए अंग्रेजी की एक कहावत में कहा गया है—

"He laughs best who laughs last."

जो भी हो, कुम्हार की लड़की के हसने से मनोवैज्ञानिकों के इस मत का समर्थन होता है कि दूसरे की हानि की संभावना से भी कभी-कभी हमें हँसी आ जाती है ।+

सच तो यह है कि हास्य किसी एक कारण से उद्भूत नहीं होता, हास्य के प्रादुर्भाव में अनेक कारणों का योग रहता है । लोकोक्तियों में हास्योद्रेक के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे हास्य के मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । लोकोक्तियों का सम्बन्ध जनता से रहता है, हास्य भी समाज से संबद्ध है, यथार्थ में यह एक सामाजिक गुण है । हँसने वाला व्यक्ति चाहता है कि दूसरा भी उसके साथ हँसे, हास्य के लिए प्रतिध्वनि अपेक्षित है । यदि कोई अपने आपको समाज से विच्छिन्न कर ले तो वह हास्य का आस्वाद नहीं कर सकेगा* । प्राय: देखा जाता है कि एक व्यक्ति को हँसते हुए देख कर दूसरा व्यक्ति हँसने लगता है ।

लोकोक्तियों में हास्य का प्राचुर्य स्वाभाविक है क्योंकि लोकोक्तियाँ तथा हास्य दोनों का सम्बन्ध समाज से है ।

+ The psychologists have traced the origin of laughter to the instinct of cruelty inherent in human nature. The imagination of another's suffering is secretly accompanied by a feeling of pleasure.

*You would hardly appreciate the comic if you felt yourself isolated from others. Laughter appears to stand in need of an echo. Our laughter is always laughter of a group—Bergson on 'Laughter'.

कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा

कहावतें मानव-जाति की सर्वसामान्य सम्पत्ति हैं, उन पर किसी जाति अथवा राष्ट्र का एकाधिकार नहीं होता। जीवन के अनुभव का एक 'लघुतम रूप" सर्वत्र देखने को मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति संक्षिप्त सारगर्भित तथा चटपटे वाक्यों द्वारा कहावतों के रूप में पुरा काल से होती आई है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहावत को 'जीवन का लघुत्तम समापवर्त्य' कहा है।[1]

जाति-विज्ञान और संस्कृति के विद्वानों का कथन है कि जनता की विचार-धारा जन-कथाओं, कहावतों और मुहावरों आदि में व्यक्त होती है। यह बात सोलहों आने सही है। कहावतें और मुहावरे श्रमिक जनता की सम्पूर्ण और ऐतिहासिक अनुभूतियों के संक्षिप्त रूप हैं। लेखकों के लिए इस सामग्री का अध्ययन करना आवश्यक है। मैंने कहावतों और मुहावरों आदि से बहुत कुछ सीखा है।[2]

राजस्थान में कहावतों का प्राचुर्य है। शिक्षा की दृष्टि से यह राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा भले ही पिछड़ा हुआ रहा हो किन्तु इसका लोक-साहित्य अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतवर्ष के किसी भी राज्य की तुलना में यहां का लोक-साहित्य नि.संकोच रखा जा सकता है। राजस्थान की कहावतों को लेकर ही विचार करें तो वे संख्या में १० हजार से कम न होंगी। अभी राजस्थानी कहावतों का कोष तैयार नहीं हुआ है जिसके प्रणयन में लेखक वर्षों से संलग्न है। इसलिए संख्या आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना निरापद तो नहीं तथापि इतना निःसंदेह सत्य है कि विविधता और प्राचुर्य की दृष्टि से यहां की कहावतों की समता सहज ही नहीं की जा सकती।

---

1. The L. C. M. of Life has been expressed in every country by a combination of words or pithy sentences, which are called proverbs.

   (Prof. Mukkhan Lal Roy choudhury, D. Lit.)

२. गोर्की

राजस्थानी सभ्यता और संस्कृति को समझने में जैन विद्वानों के ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। राजस्थानी कहावतों के सम्बन्ध में भी उन्होंने सराहनीय प्रयत्न किए हैं। सं० १६६६ को पौष मास में श्री धनविजयगणि ने राजनगर के समीप ऊष्मापुर नामक नगर में 'आभाण शतकम्' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी अनेक कहावतें ऐसी हैं जो राजस्थानी लोकोक्तियों का अनुवाद-सी जान पड़ती हैं। तुलना के लिए यहां कुछ लोकोक्तियां उद्धृत की जा रही हैं—

(१) **गता तिथिर्यथा पूर्वं ब्राह्मणेन न वाच्यते।**
तथा पुराकृतं पापं धर्मिभिर्नानुमन्यते ।।२१।।

अर्थात् गई तिथि जैसे ब्राह्मण नहीं बांचता, उसी प्रकार पूर्वकृत पाप का धर्मात्मा अनुमोदन नहीं करते।

राजस्थानी कहावत

गई तिथि तो बामण भी कोनी बांचै।

(२) **स्वकीयाशुद्धधर्मस्यमिथ्यात्वं वक्ति को जनः ?**
दुष्टायाः को निजाम्बायाः शाकिनीत्वं प्रकाशयेत् ।।२७ ।।

अर्थात् कौन मनुष्य ऐसा है जो अपने अशुद्ध धर्म को मिथ्या बतलाता है ? अपनी दुष्ट माता को भी शाकिनी कौन कहता है ?

राजस्थानी कहावत

आपकी मां ने डाकण कुण बतावै ?

(३) **बहुरक्षितबहुशिक्षितनीचजनो भजति नैव सन्मार्गम्।**
पुच्छमिव शुनो नालिकाघृतमपि सरलं यथा न स्यात् ।।२८।।

अर्थात् नलिका में रखी हुई भी कुत्ते की पूंछ जैसे सीधी नहीं होती, उसी प्रकार बहुरक्षित और बहुशिक्षित नीच मनुष्य सन्मार्ग का अनुसरण नहीं करता।

राजस्थानी कहावत

कुत्तै की पूंछ १२ वर्ष नाळी में राखी तो बी टेढ़ी की टेढ़ी।

(४) **यद्वचो धर्मनाशाय तद्वचो वक्ति कः सुधीः ?**
यत्स्वर्णं कर्णनाशाय यथा तत्को निषेवते ? ।।४४।।

अर्थात् जिस वचन से धर्म का नाश हो उसे कहने में कौन सी बुद्धिमानी है ! जिस सोने से कान का नाश होता हो, उसे कौन सेवन करेगा ?

राजस्थानी कहावत

बाळ सोनूं कान तोड़ै।

(५) **संयमेन वियुक्तस्य यद्वत्साधोः क्रियाविधिः ।**
अधोनग्नस्य मर्त्यस्य मस्तके मौलिबन्धनम् ।।५४।।

अर्थात् संयम-विहीन साधु की क्रियाविधि वैसी ही होती है जैसे कोई मनुष्य नीचे से नग्न हो और मस्तक पर मौलिबन्धन कर रखा हो ।

राजस्थानी कहावत

ऊपर तो लहर्‌यो परण नीचै के पहर्‌यो ।

अर्थात् सिर पर तो रंग-बिरंगी पाग अथवा लहरिया धारण कर रखा है पर नीचे क्या पहना है !

(६) **अंगोपांगादयो ग्रन्था द्वादशांग्यां प्रतिष्ठिताः ।**
गवादीनां यथा पादा हस्तिपादे महत्तरे ।।७३।।

अर्थात् अंगोपांगादि ग्रन्थ द्वादशांगी में प्रतिष्ठित हैं जैसे गायों के पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं ।

राजस्थानी कहावत

हाथी कै खोज में सैंका खोज समावैं ।

(७) **मधुरवचनेन युक्तं सर्वं हितमेव वेत्ति न त्वहितम् ।**
सकलं धवलं दुग्धं पश्यति बालस्तु नो तक्रम् ।।८८।।

अर्थात् जो भी मधुर वचन से युक्त है, उसे हित के रूप में ही ग्रहण करता है, अहित के रूप में नहीं । बालक, जो भी सफेद है, उसे दूध ही समझता है, छाछ नहीं ।

राजस्थानी कहावत

ऊं ताइं छाय भी धोली, दूध भी धोलो ।
अर्थात् उसके लिए छाछ भी सफेद है और दूध भी सफेद ।

(८) **दातुर्दानं यथा स्वल्पमनल्पं न विचार्यते ।**
धर्मधेनोस्तथा दन्ता न विलोक्या हि धीधनैः ।।९३।।

अर्थात् दाता के स्वल्प या अधिक दान पर विचार नहीं किया जाता । धर्म की गाय के दांत नहीं देखे जाते ।

राजस्थानी कहावत

धर्मादै की गाय का दांत कोनी देख्या जायं ।

"आभाणशतकम्" के भी कई सौ वर्ष पहले कहावत-ग्रन्थों की रचना होने लगी थी । "ओहाणक स्तोत्र" की एक प्रति सं० १४३० की लिखी मिलती है जिस में से कुछ कहावतें यहां उद्धृत की जा रही हैं—

१. वलिकियं तं सुन्नं जं सुन्नं तोडए कन्नं ।

राजस्थानी रूप—वाल् सोनू जो कान तौड़े ।

२ चिक्कण घड़ए सामिय ढलिऊण पाणियं जाइ ।

राजस्थानी रूप—चीकणै घड़ै पर बून कोनी ठैरै ।

३. पक्काणं भंडाणं कि पहु कन्नाय लग्गंति ।

राजस्थानी रूप—पाकै घड़ै के कानो कोनी लागै ।

४. जो मरेइ गुलेण चिय तस्य विसं दिज्जए कीस ।

राजस्थानी रूप—जो गुड़ सैं मरै ऊंने भैर क्यूं देणो ?

५. नय मरइ न मंचयं देइ ।

राजस्थानी रूप—मरै न माचो छोड़ै ।

६. जइ नच्चाण पविट्टठा ता किं घुंघट्टकरणेण ।

राजस्थानी रूप—नाचण हाली कै क्यां को घूमटो ?

७. हत्थट्ठियं कंकणयं को पुण जोएइ आरिसए

राजस्थानी रूप—हाथ कंगण नै आरसी सूं के काम ?

८. दुद्धं च दियइ छाली पुण भरियं मिगीणियं च ।

राजस्थानी रूप—बकरी दूद तो दे पण दे मींगणी करकै ।

९. खीरी खंडं मिट्ठं परलोयं केण पुण दिट्ठं ।

राजस्थानी रूप—श्रो भव मीठो, परभव किण दीठो ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने लोकप्रचलित कहावतों को प्राकृत और संस्कृत के शब्दों में निबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया था ।

व्यावहारिक शिक्षा की दृष्टि से लोकोक्तियों से परिचय प्राप्त करना अत्यन्त उपादेय है ।[1]

---

1. Acquaint thyself with proverbs for of them thou shalt learn instruction. (Ecclesiasticas, 8, 8)

कुछ भीली और शेखावाटी कहावतें

अनेक भीली और शेखावाटी की कहावतें ऐसी हैं, जिनमें न केवल भाव-साम्य ही मिलता है किन्तु प्राय: ज्यों की त्यों शब्दावलि भी पाई जाती है। यहाँ कुछ कहावतें उदाहरण के बतौर दी जा रही हैं :—

भीली—अवले ठेकाणे खादी ने हाहरो बैंद।

शेखावाटी—सुसरो बैद कुठोड़ खाई; अर्थात् श्वसुर वैद्य है और बहू के मार्मिक स्थान में चोट आई है !

भी०—घड़ो तेवी ठीकरी, आई तेवी दीकरी।

शे०—घड़ै गैल ठीकरी, मां गैल डीकरी; अर्थात् घड़े के अनुरूप ही उसके खंडित टुकड़े होते हैं, और मां के अनुरूप ही लड़की देखने में आती है।

भी०—जागे तीनी पाडी ने हुतानो पाडो।

शे०—सोवतड़ां की पाडा जलमै। निम्नलिखित कहानी सामने रख कर ही यह कहावत समझी जा सकती है :—

कहते हैं, दो पड़ौसी थे। दोनों के एक-एक भैंस थी। जब भैंसों के प्रसव का समय आया तो दोनों चौकसी करने लगे। एक दिन, दिन ढलते ही दोनों भैंसें उठने-बैठने लगीं। रात को दोनों पड़ौसियों ने जगने का निश्चय किया। आधी रात तक तो दोनों जगे, फिर एक को नींद आ गई। जो जग रहा था, उसकी भैंस ने पाडा जना और सोने वाले की भैंस पाडी लाई। जगने वाले ने पाडे को सोने वाले की भैंस के नीचे कर दिया और पाडी को अपनी भैंस के नीचे। प्रात:काल हुआ तो सोने वाले ने कहा—"भई, हमारी भैंस ने तो पाडा जना है, तुम्हारी भैंस क्या लाई ?" जगने वाले ने उत्तर दिया—"सोवतड़ां की पाडा जलमै" अर्थात् जो सो जाते हैं, उनकी भैंस पाडे को ही जन्म देती है।

भी०—ठालो सणो वागे घणो ।

शे०—थोथो चणो बाजै घणो; अर्थात् थोथा चना अधिक शब्द करता है। जिसमें गुण नहीं होते, वही बढ़-बढ़ कर बातें बनाता है। संस्कृत सुभाषितकार ने यथार्थ ही कहा है—

"सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दम्,
अर्द्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वम्,
गुणैर्विहीना बहु जल्पयन्ति ॥"

भी०—डुंगोर बले दुनिया जुए, पेट बले कोई नी जुए ।

शे०—डूंगर बलती दीखै, पगां बलती कोनी दीखै; अर्थात् पहाड़ पर जलती हुई आग तो सब को दिखलाई पड़ जाती है किन्तु अपने पैरों जलती हुई दिखलाई नहीं पड़ती ।

राजिया के दोहे में भी यही बात कही गई है—

डूंगर बलती लाय
जोवै सारो ही जगत ।
पाजलती निज पाय
रती न सूझै राजिया ।

कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरों के दोष आसानी से दिखलाई पड़ जाते हैं किन्तु अपने नहीं ।

भी०—धणी ने के तूं जाग,
सोर ने के तूं ताक ।

शे०—चोर नै कहै लाग, साह नै कहै जाग; अर्थात् चोर से कहता है, "चोरी कर" और साहूकार से कहता है "सतर्क रह ।"

भी०—नकटी रो नाक बांड्युं ने हवा गज वध्युं ।

शे०—नकटा, नाक कटी ? कहै—मेरी तो सवा गज बधी अर्थात् जब नकटे से किसी ने पूछा कि क्या तुम्हारी नाक कट गई ? तो उसने उत्तर दिया, "ऐं, मेरी तो सवा गज बधी !" सच है—निर्लज्ज के लज्जा नहीं होती ।

भी०—नर मां नावी, पखी मां कारा, पाणी नुं काचवुं तारो दगाबाज ।

शे०—नर में नाई आगलो, पखेरू में काग ।
पाणी मांलो काछवो, तीनूं दग्गाबाज ।

अर्थात् मनुष्यों में नाई चालाक होता है, पक्षियों में कौआ और जलचरों में कछुआ, ये तीनों ही धोखेबाज होते हैं।

भी०—नहटी ने वे अहाढ।

शे०—दूबली अर दो साढ; अर्थात् निर्बल गाय-भैंस हो और आषाढ आ जाए तो वर्षा के अभाव में तृण का मिलना मुश्किल है।

भी०—बंदी मूठ लाखनी।

शे०—**बंधी मूठी लाख की,**

खल्ली मूठी राख की।

अर्थात् किसी के पास चाहे धन न हो किन्तु दूसरे यह समझते रहें कि वह धनी है तो प्रतिष्ठा बनी रहती है, भ्रम खुलने पर प्रतिष्ठा जाती रहती है अथवा पैदा होते समय बच्चा अपने बहुमूल्य भविष्य को छिपाए हुए संसार में आता है और मृत्यु के समय खाली हाथ चला जाता है।

ऊपर की कहावतों में प्रयुक्त कुछ शब्दों के अर्थ निम्नलिखित हैं—

हाहरो—श्वसुर, आई–मां, हुतानो—सोए हुए का, सणो–चना, सोर--चोर, हवा–सवा, अहाढ-आषाढ।

भीली बोली में 'स' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग होता है; इसी प्रकार 'च' के स्थान में भी, 'स' जैसे 'चना' के लिए 'सणो' का प्रयोग उदाहरणार्थ रखा जा सकता है।

राजस्थानी कहावतें : एक विहंगम दृष्टि

●

कहावतें लौकिक सिक्के हैं जो अनुभव की टकसाल में ढलते रहते हैं। कोई उक्ति कितनी ही सारगर्भित क्यों न हो, जब तक उसके पीछे लौकिक स्वीकृति और मान्यता न हो, वह लोकोक्ति अथवा कहावत का स्पृहणीय आसन ग्रहण नहीं कर सकती। लौकिक मान्यता के साथ-साथ कहावत संक्षिप्त, अनुभवमूलक तथा सामान्यतः चटपटी होती है।

जाति-विज्ञान और संस्कृति के विद्वानों का कथन है कि जनता की विचारधारा जितनी लोकोक्तियों में व्यक्त होती है, उतनी लोक-साहित्य की अन्य किसी विधा में नहीं। कहावतों के अध्ययन का महत्व अब दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। पुरातत्व के क्षेत्र में जैसे सिक्कों और शिलालेखों का अनुसंधान किया जाता है, उसी प्रकार पुराने रीति-रिवाज, सामाजिक जीवन तथा नृतत्त्व विद्या आदि की दृष्टि से कहावतों का भी अब अन्वेषण और वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा है। ग्रामीण जनता के लिए तो कहावतें जीवन रूपी व्याकरण के लिए पाणिनि के सूत्रों की भाँति उपयोगी हैं। ईसा मसीह ने ठीक ही कहा था कि कहावतों की कोई अवमानना न करे, उनसे जो शिक्षा मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कोई भी व्यक्ति जब अपने अनुभव की बात सुनाता है, तब हम बड़े ध्यान से सुनते हैं। कहावतें भी अनुभव से उत्पन्न होती हैं, उन्हें यदि अनुभव-सुताएं कहा जाए तो कुछ अनुचित न होगा। इन अनुभव-सुताओं की सत्यवाणी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, उसे हम ध्यान से सुनते हैं और हम पर उसका प्रभाव पड़ता है।

राजस्थान का कहावती साहित्य बड़ा समृद्ध है। संख्या में कुल राजस्थानी कहावतें कितनी होंगी, यह कहना तो कठिन है किन्तु लेखक का अनुमान है कि संख्या में भी राजस्थानी कहावतें दस हज़ार से ऊपर ही होंगी। कहावती लोक भी

वस्तुतः एक विलक्षण लोक है। कोई ऐसी नगरपालिका नहीं जहाँ कहावती शिशुओं के जन्म-मरण का लेखा किया जाता हो और यह संभव भी नहीं क्योंकि कहावती शिशु का जब जन्म होता है तो किसी को पास नहीं बैठने दिया जाता। दूसरी बात यह भी है कि राजस्थान की धरती कहावतों से भरी पड़ी है, जहां से खोदिए, कोई न कोई कहावत निकल पड़ेगी। इसीलिए कहावती संख्या बिल्कुल सही न होकर अनुमानाश्रित ही हो सकती है।

सम्पूर्ण राजस्थानी कहावतें दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—

१. रूपात्मक तथा २. विषयाश्रित।

रूपात्मक वर्गीकरण के अन्तर्गत आयाम, तुक, लय, छन्द आदि का अध्ययन किया जाता है। सर्वप्रथम रूपात्मक वर्गीकरण पर ही यदि हम दृष्टि डालें तो आयाम की दृष्टि से छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी, निम्नलिखित दो कहावतों का सुनाना मनोरंजक तथा साथ ही शिक्षाप्रद भी होगा—'अति खोटी' अर्थात् अति बुरी होती है, यह दो शब्दों की छोटी से छोटी कहावत मानी जा सकती है। बड़ी से बड़ी कहावत के उदाहरणार्थ आयु का यह १०० वर्षों का विभाजन श्रोतव्य है—

"दसां डावड़ो, बीसां बावलो, तीसां तीखो, चालीसां चोखो, पचासां पाको, साठां थाको, सतरां सूलो, अस्सी लूलो, नव्वै नांगो, सौवां तो भागो ही भागो।"

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति १० वर्ष तक लाड़ला बच्चा रहता है, २० वर्ष तक उच्छृंखल पगला-सा रहता है, ३० वर्ष तक युवावस्था की तीव्रता लिए हुए रहता है, चालीसवें वर्ष में अच्छा समझदार मनुष्य बन जाता है, ५० वर्ष तक आते-आते परिपक्व होने लगता है, साठवें वर्ष थकने लगता है, सत्तर तक पहुँचते-पहुँचते अनेक शूलों अथवा दर्दों का शिकार हो जाता है, अस्सी में लंगड़ाने लगता है, ९० वर्ष की अवस्था में नंगा-सा रहने लगता है। उसे वस्त्रों की भी सुध-बुध नहीं रह जाती और १०० तक पहुँचने पर तो महाप्रयाण ही महाप्रयाण है; यमराज के यहाँ से कभी भी बिना बुलाए निमंत्रण आ सकता है।

कहावतों के रूप-निर्माण में तुक का बहुत बड़ा हाथ है। इस लम्बी कहावत में भी कुछ झड़ों को छोड़ कर प्रायः तुक का निर्वाह हुआ है। कुछ कहावतों में तो तुक की झड़ी-सी लग जाती है जैसे—'ओछो बोरो, गोद को छोरो, मुरँ की सांड, नातँ की रांड, ओछँ की प्रीत, बालू की भीत···कदेई न्याल कोनी करँ।' अर्थात् निकृष्ट ऋणदाता, गोद का लड़का, बिना नकेल की ऊंटनी, नाते की स्त्री, ओछे मनुष्य की प्रीति तथा बालू की दीवार, ये कभी निहाल नहीं करते।

आंतरिक तुकों के भी अच्छे उदाहरण राजस्थानी कहावतों में मिल जाते हैं। जैसे, (१) ठाकर नै चाकर घणा। अर्थात् ठाकुर को सेवकों की क्या कमी है? (२) कम खाणो र गम खाणो फायदो ही करै। अर्थात् कम खाने और धैर्य धारण करने से लाभ ही होता है। किन्तु सभी कहावतों में तुक के दर्शन नहीं होते। बहुत-सी तुक-विहीन कहावतें लय के प्रयोग के कारण गतिशील हो उठती हैं। यथा,

घर का पूत कुँवारा डोलै, पाड़ौसी का नौ नौ फेरा।

अर्थात् घर के लड़के तो कुँवारे भटकते हैं जब कि पड़ौसी के यहाँ नौ नौ भाँवरों का आयोजन देखा जाता है।

राजस्थानी कहावतों में छन्दों के भी विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए चौपई छन्द के दो चरण लीजिए—

खेती करै न बिणजी जाय।
विद्या कै बल बैठ्यो खाय।

अर्थात् ब्राह्मण न खेती करता है, न वाणिज्य के लिए कहीं जाता है, वह अपनी विद्या के बल पर बैठा खाता है।

अलंकार–प्रयोग की दृष्टि से भी राजस्थानी कहावतों का वैभव निराला है। एक विरोधमूलक अलंकार का उदाहरण लीजिए—

"लुगाई क पेट मँ टाबर खटा ज्याय, बात कोनी खटावै" अर्थात् स्त्री के पेट में बच्चा समाया रहता है किन्तु बात नहीं समाती।

राजस्थानी कहावतों के रूप-निर्माण में अध्याहार, कथा, संवाद तथा लौकिक न्याय आदि अनेक तत्त्वों ने योग दिया है जिससे उनका रूप-सौन्दर्य निखर उठा है।

राजस्थानी कहावतों का दूसरा वर्ग है विषयाश्रित वर्ग। इसमें इतिहास, भूगोल, समाज और संस्कृति, शिक्षा और साहित्य, धर्म और जीवन-दर्शन, कृषि और वर्षा आदि सभी का समावेश किया जा सकता है। इनमें से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. ऐतिहासिक कहावत—हाडो ले डूब्यो गणगौर।

२. भौगोलिक कहावत—सीयाळै खाटू भलो, ऊनाळै अजमेर।
नागाणो नित नित भलो, सावण बीकानेर॥

३. सामाजिक

१. बेटी जाय जमारो हार्‌यो।

अर्थात् पुत्री को जन्म देकर जीवन व्यर्थ ही खो दिया।

२. जँकी धी सुखी, ऊंको जमारो सुखी ।

अर्थात् जिसकी पुत्री सुखी है, उसका जीवन सुखी है ।

३. बंधी भारी लाख की,
खुल्ली बीखर ज्याय ।

अभिप्राय यह है कि संयुक्त परिवार में रहने से प्रतिष्ठा बनी रहती है, भाइयों के अलग-अलग हो जाने से इज्जत जाती रहती है ।

४. दूजवर की गोरड़ी र मोत्यां बिचली मोरड़ी ।

अर्थात् अधिक अवस्था वाले पुरुष के दूसरा विवाह करने पर वह उस स्त्री का विशेष आदर करता है ।

४. सांस्कृतिक

बाप और बचन एक होय ।

'रामो द्विर्नाभिभाषते' के पुनीत आदर्श का चित्रण इसमें हुआ है ।

इस सम्बन्ध में प्रवाद के रूप में प्रचलित निम्नलिखित वाद-प्रतिवाद को भी सुनिए—

किसी ने कहा है—

मरद तो मूंछ्याल् बंको, नैण बंकी गोरिया ।
सुरहल् तो सींगाल् बंकी, पौड बंकी घोड़िया ।

अर्थात् मर्द तो मूंछों वाला ही श्रेष्ठ है, स्त्री बांके नेत्र वाली, गाय सींगों वाली तथा घोड़ी अच्छे सुमों वाली श्रेष्ठ होती है । इस उक्ति को सुन कर राजस्थानी संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले दूसरे व्यक्ति ने इसका संशोधन प्रतिवाद के रूप में उपस्थित किया—

मरद तो जब्बान बंको, कूख बंकी गोरिया ।
सुरहल् तो दूधार बंकी, तेज बंकी घोड़िया ।।

अर्थात् मर्द तो वही है जो जबान का धनी हो, नारी वही है जो वीर-प्रसविनी हो, गाय वही है जो दूध देने वाली हो और घोड़ी वही है जो तेज चलने वाली हो । इस उक्ति में प्रतिज्ञा-पालन और वीर-जननी का बड़ा भव्य आदर्श अभिव्यक्त हुआ है ।

५. शैक्षणिक

गुरू की चोट, विद्या की पोट । अर्थात् गुरु की चोट से प्रचुर विद्या प्राप्त होती है ।

६. साहित्य में प्राप्त

उघंतणइ बिछाणउ लाधउ ।
मुंगनइ चाउल मांहि घी । (समयसुन्दर)

७. जीवन-दर्शन

फिरै सो चरै, बैठ्यो भूखां मरै ।

रेगिस्तान में रहने वालों को कठिन परिश्रम के द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करना पड़ता है। अतः ऊपर की कहावत की सार्थकता और उपयुक्तता सहज ही सिद्ध हो जाती है ।

भाग्यवाद और कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित कहावतों की भी यहाँ प्रचुरता है। उदाहरणार्थ (क) रूप की रोवै, करम की खाय ।
(ख) करणी भोगै आपकी, के बेटो के बाप ।

८. कृषि-सम्बन्धी

(क) खात पड़ै तो खेत, नहीं तो कूड़ो रेत ।
(ख) साह नांटज्या, पण बाह नां नाटै ।

अर्थात् साहूकार भी रुपये देने से इन्कार कर सकता है किन्तु खेत में जो जोताई की जाती है, वह निष्फल नहीं जाती ।

९. वर्षा-सम्बन्धी

सुकरवार री बादली, रही सनीचर छाय ।
डंक कहे हे भड्डली, बरस्यां बिना न जाय ।।

वर्षा संबंधी कुछ ठेठ राजस्थानी कहावतें भी उपलब्ध हैं । यथा,

१. एक मेह एक मेह करता, बडेरा ही मर गा ।

एक मेह, एक मेह करते हुए पूर्वज ही चल बसे । राजस्थान में वर्षा कहाँ !

२. सौ सांढिया सौ करहलां, पूत निपूती होय ।
मेवड़ला बूठा भला, होणी होय सो होय ।।

अर्थात् यदि वर्षा के कारण सौ ऊँट और ऊँटनियाँ नष्ट हो जायँ, माता के सब पुत्र भी चल बसें, तब भी वर्षा का तो स्वागत ही करना चाहिए, जो होना हो, वह हो ।

अन्य ऋतु, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि से सम्बद्ध कहावतें 'प्रकीर्ण' शीर्षक के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं ।

इस प्रकार राजस्थानी कहावतों का रूप-शिल्प तथा विषय-वैविध्य, दोनों ही महत्वपूर्ण हैं ।

यदि ग्रन्थों में प्राप्त राजस्थानी कहावतों को छोड़ दें तो कहना होगा कि सन् १८६२ के रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में श्री लालचन्द्र विद्याभास्कर ने (Marwari Weather Proverbs) प्रकाशित करवा कर प्रारंभिक प्रयत्न किया था। अब तो राजस्थानी कहावतों के अनेक संग्रह निकल चुके हैं और राजस्थानी कहावतों का शोधमूलक वैज्ञानिक अध्ययन भी लेखक द्वारा किया जा चुका है। लेखक राजस्थानी कहावतों के कोष-निर्माण में तत्पर है जो बहुत ही श्रमसाध्य कार्य है।

परिस्थितियों की भिन्नता से आज जीवन के मूल्य बदल रहे हैं, इसलिए कहावतों से कभी-कभी हानि होने की भी संभावना रहती है। अंधविश्वासों से संबन्ध रखने वाली बहुत-सी कहावतें भी ग्रामीण जनता में बहुधा सुनाई पड़ती हैं जिनसे चिपटे रहना ग्रामीण जनता के स्वभाव में शामिल हो जाता है। अतः कहावतों के आधार पर हमारी परम्परागत रूढ़ियों के स्तूप चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहते हैं। विचार-स्वातंत्र्य की भावना को भी इस प्रकार की कहावतें पनपने नहीं देतीं। वे ऐसा नुस्खा रख देती हैं जो बाबा आदम के जमाने में बना था। किन्तु आशा की जाती है कि विज्ञान के इस युग में जब चंद्रलोक में भी मनुष्य के चरणचिह्न पड़ चुके हैं, ग्रामीण जनता भी रूढ़िवाद से दूर रह सकेगी।

राजस्थानी कहावतों में नारी-जाति के प्रति भाव, शकुन संबन्धी बहुत-से विश्वास, कृषि और वर्षा-संबन्धी अनेक सूत्र, खेती-विषयक कहावतों का आधिक्य, ऊँट-भैंस आदि के पर्याय शब्दों का प्राचुर्य, कन्या-जन्म के संबन्ध में मनोवृत्ति तथा जातिगत विशेषताएँ आदि अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे राजस्थानी संस्कृति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अन्य राज्यों की कहावतों के साथ राजस्थानी लोकोक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन सांस्कृतिक और भावात्मक एकता की वृद्धि में भी सहायक सिद्ध होगा।+

+आकाशवाणी, जयपुर के सौजन्य से

काव्यालोचन
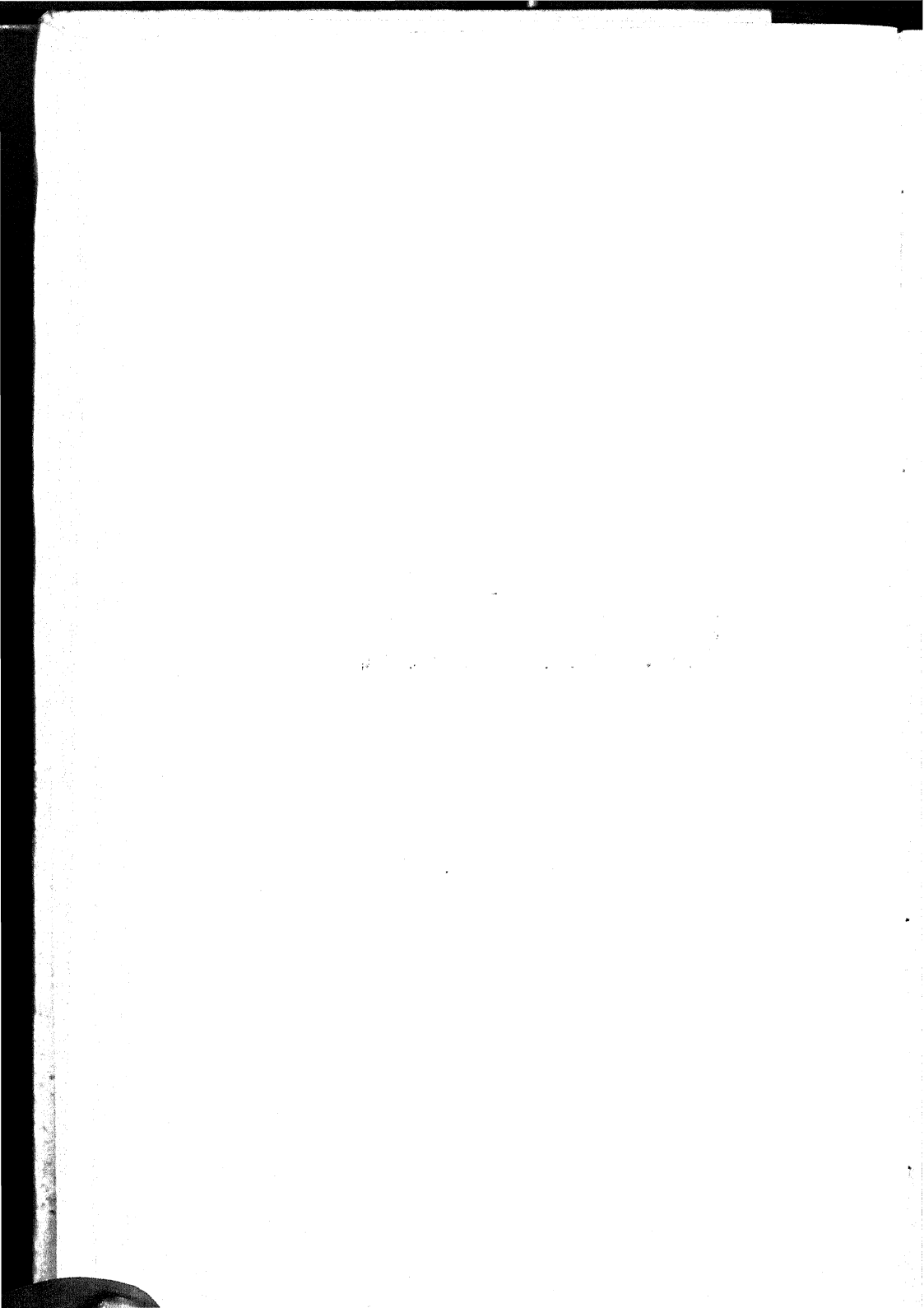
राजस्थान के प्राचीन प्रमुख कवि पद्मनाभ

●

राजस्थान के प्राचीन कवियों में महाकवि पद्मनाभ का नाम अग्रगण्य है। वे विसनगरा नागर ब्राह्मण थे और अखयराज के राजकवि थे। अखयराज जालोर के चौहान कुलशिरोमणि कान्हड़दे की पांचवीं पीढ़ी में हुए थे। अखयराज की प्रेरणा से ही इस महाकवि ने कान्हड़दे की कीर्ति का गान किया –

'अषइराज सीषामण सरी,
पदमनाभ कीरति विस्तरी।' (३४१)

संवत् १५१२ में पद्नाभ ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'कान्हड़दे प्रबन्ध' का निर्माण किया था।

'माइ भारती तणइ पसाइ,
अक्षरबंध बुद्धिरस थाइ।' (३४१)

अपनी कविरंजनी बुद्धि द्वारा पद्मनाभ ने जिस काव्य की सृष्टि की, उसका सहृदयों में बड़ा आदर हुआ, कान्हड़दे प्रबन्ध कवि-यश का स्वर्णकलश सिद्ध हुआ। कवि ने इसमें यथास्थान दूहा, चौपाई, पवाडु तथा लोक-गीतों की ढाल का प्रयोग किया है जिनको पढ़ने-सुनने से रोमांच हुए बिना नहीं रहता। उसने स्वयं कहा है कि इस प्रबन्ध को सुनने से शरीर जोश और उल्लास से भर जाता है तथा सम्पूर्ण तीर्थ-फल की प्राप्ति होती है—

'सांभलतां सरीर उल्हसइ। (४/३४२)
तीरथ फल बोल्युं जेतलूं, पामइ पुण्य सवे तेतलूं।'(३५१)

पद्मनाभ को 'पुण्यविवेक' का विरुद प्राप्त था जो सर्वथा सार्थक कहा जा सकता है। पुण्य विवेक के द्वारा ही इस प्रकार की पावनी काव्य-सृष्टि संभव है

जिसके मनन से आत्म-सम्मान, स्वधर्म तथा देश के प्रति भव्य एवं उदात्त भावनाओं का संचार होता है। कवि ने अपने संबंध में कोई विशेष जानकारी हमें नहीं दी है—हाँ, अन्तः साक्ष्य से इस बात का पता अवश्य चलता है कि वह बहुश्रुत था, राज-दरबारों की रीति-नीति से वह परिचित था, इतिहास, भूगोल तथा धर्मशास्त्र आदि का उसे अच्छा ज्ञान था, उसकी वाणी 'रसाल' तथा मनोहर थी, अपने काव्य-सामर्थ्य तथा पांडित्य के प्रति उसकी अस्मिता जागरूक थी—तभी तो उसने अपने प्रबन्ध के प्रत्येक खण्ड के अन्त में—'पदमनाभ पंडित मति कही' की आवृत्ति की है। 'कान्हड़दे प्रबन्ध' जैसी प्रौढ़ कृति को देखते हुए यह भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस महाकवि की और भी कृतियाँ रही होंगी जो काल के सर्वभक्षी प्रवाह में सुरक्षित न रही हों।

काव्य-रूप की दृष्टि से कवि की इस अन्यतम काव्य-सृष्टि को प्रबन्ध की संज्ञा दी गई है। चरित्र-प्रधान ग्रन्थों को तत्कालीन लेखकों ने प्रबन्ध का नाम दिया था। इस प्रकार के प्रबन्धों में गद्य अथवा पद्य में, एक अथवा अनेक पुरुषों के चरित्रों का हृदयग्राही वर्णन होता था। ऐतिहासिक चरितात्मक पद्य-प्रबन्धों में कान्हड़दे प्रबन्ध के साथ विमल प्रबन्ध का भी नाम लिया जाता है किन्तु विद्वानों में कान्हड़दे प्रबन्ध को ही सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई। इतिहास और काव्य का जैसा सुन्दर सामंजस्य इस काव्य में हुआ है, वैसा किसी भी मध्ययुगीन काव्य-कृति में देखने को नहीं मिलता। इस प्रबन्ध में वर्णित प्रायः सभी मुख्य घटनाएँ इतिहास द्वारा समर्थित हैं।

यह प्रबन्ध चार खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में गुजरात के शासक वीरमदे के दुर्व्यवहार के कारण उसका मंत्री माधव देश-द्रोह का काम करता है। उसके निमंत्रण पर अलाउद्दीन की सेना पाटण को नष्ट कर सोमनाथ पर चढ़ाई करती है और शिवलिंग तोड़ दिया जाता है। सोमनाथ-विजय के पश्चात् अलाउद्दीन का सेनापति उलुगखां कान्हड़दे से युद्ध करता है। परिणामस्वरूप उसकी पराजय होती है और उसे शिवलिंग वापिस करना पड़ता है। दूसरे खण्ड में सुलतान की सेना समियाणे के दुर्ग पर आक्रमण करती है जहाँ कान्हड़दे का भतीजा सांतल वीरतापूर्वक लड़ता हुआ अपने प्राणों की आहुति दे देता है। तीसरे खण्ड में वाहड़मेर और भीनमाल के पतन के पश्चात् अलाउद्दीन की लड़की शीताई जालौर जाकर कान्हड़दे के पुत्र वीरम के साथ विवाह का प्रस्ताव रखती है। चौथे खण्ड में वीका सैजवाल की धोखेबाजी के कारण सुलतान की सेना गुप्त मार्ग से जालौर में प्रवेश करती है, जौहर होता है तथा वैशाख शुक्ला ५, संवत् १३६८ को कान्हड़दे युद्ध में अपना प्राणोत्सर्ग करता है।

पद्मनाभ की इस रचना में वर्णन का वैभव सबसे अधिक आकर्षण का कारण है। कवि के पास वर्णन करने के लिए इतनी प्रचुर सामग्री है और उसकी जानकारी इतनी विशद है कि इस प्रबन्ध में अलंकारों की साज-सज्जा की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। कवि ने सेना-प्रयाण, युद्ध, नगर, दुर्ग तथा उत्सव आदि का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। समियाणे के लिए प्रयाण करती हुई शाही सेना का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

दल चालंतां धरणी कांपइ, सेष न झालइ भार।
सायर तणां पूर ऊलटियां, जेहकां रेलणहार ।। (२।९३)
बरगां ढोल नफेरी वाजइ, साथइ सहसे अढार।
जांगी ढोल नीसाण ध्रसूकइ, सुणीइ जोयण बार ।। (२।९४)

समियाणे का वीर सांतल अपने वीर स्वभाव के अनुरूप इस विशाल वाहिनी को देखकर उल्लास में भर उठता है—

कटक तणी सामगरी दीठी, सांतलि करिउं वषाण।
धन्य धन्य दिन आज अम्हारउ, जै आव्यउ सुरताण ।। (२।१०७)

राज-दरबार में कवि-गण जब प्रबन्धों का पाठ करते तो बीच-बीच में वे एक विशिष्ट प्रकार की रचना-शैली का प्रयोग करते थे जिसे 'भडाउली' कहा जाता था। इसमें वर्णन का ब्यौरा इतना सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण होता था कि श्रोतागण तृप्त हो उठते थे। एक 'भडाउली' का कुछ अंश उदाहरण के लिए लीजिए—

इन घोड़ों को गंगा-जल में स्नान कराया जाता, मस्तक पर सुन्दर कमल चढ़ा कर पूजा की जाती, इनकी पीठ पर बावना चंदन का 'हाथा' दिया जाता, इनके ऊपर पंचवर्ण पाखर डाली जाती। "ते घोड़ा गंगोदकि स्नान कराव्या। तेह तणि सिरि श्रीकमलि पूजा कीधी। तेह तणि पूठि पंचवर्ण पाषर ढाली। किसी किसी पाषर। रणपाषर। जीणपाषर। गुडिपाषर। लोह पाषर। कातलीयाली पाषर।"

(प्रथम खंड, पृष्ठ ४४-४५)

इसके बाद प्रस्तुत 'भडाउली' में पल्हाण, षित्री, राउत और दंडयुध का वर्णन हुआ है। तृतीय खंड की 'भडाउली' में महाराजाधिराज श्री कान्हड़दे की राजसभा का दृश्य है जो यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

महाराजाधिराज श्री कान्हड़दे सभा पूरी वइठउ छइ। सिंहासनि पाउ परठिउ छइ। मेघवना उलच बांध्या छइ। परीयछ ढली छइ। केतकीना गंध गहगहीया छइ। सोरंभना सोड सांचरिया छइ। सभा मांहि सेरी मेल्हाणी छइ। जाइ वेली वालउ पाडलना परिमल पंचवर्ण पुष्फजातिना प्रकर पाथरिया छइ। गुल्लालना गंध गहगहीया छइ। पडीयां कपूर पाए चंपाइ छइ। घोड़ा वहीआलइ घालीया छइ।

हाथीयानी सारसी आगलि कानि पडिउं कांइ नथी संभलातुं । पंचशब्द वाजित्र वाजइ छइ । गल्यां पीतल रतांजणी तणां पषावज धोंकार करइ छइ । नृत्यकी पात्र नृत्य करइ छइ । ततवितत घनशुषिर पंचवर्ण वाजित्र वाजिइ छइ । पंचवर्ण छत्र धरियां छइ । चामर व्यिंजन बिहु पषि हुइ छइ । अमात्य प्रधान सामंत मंडलीक मुकुटवर्द्धन श्रीगरणा वइगरणा वर्मादिकरणा मसाहणी टावरी बारहीया पुरुष वइठा छइ ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिंब-ग्रहण की जिस वर्णन-शैली की प्रशंसा की थी, उसका जीता-जागता उदाहरण कान्हड़दे प्रबन्ध तथा उसकी दोनों भडाउलियों में आसानी से मिल जाता है ।

मर्मस्पर्शी स्थलों की दृष्टि से कुछ मोहक चित्र लीजिए—

१. समियाणे के योद्धा सांतल को जब सुलतान की ओर से प्रलोभन दिया गया तो उसने ओजस्वी उत्तर दिया था—

आपूं प्राण, नवि मूकूं भाण ।
लाजइ साष तणी चहूआण । (२।१६१)

स्वयं सुलतान ने सांतल के रुधिर को सिर से लगा कर उसके शूरातन की प्रशंसा की थी । रणांगण में प्राण देने वालों की सुर और सिद्ध भी वन्दना करते हैं—

'जे समरंगणि साम्हा मरइ । तेह सुर सिद्ध वंदणा करइ ।' (३।१०६)

२. इसी प्रकार कान्हड़दे के प्रधानों ने अलूषान से कहा था—

जउ वैस्वानर ताढउ थाइ, पश्चिम ऊगइ दीस ।
नारायण टलतउ कान्हड़दे, कहि न नामइ सीस ।। (१।१४३)

अग्नि चाहे शीतल हो जाय, सूर्य भले ही पश्चिम दिशा में उगने लगे, तो भी कान्हड़दे नारायण को छोड़ कर किसी के सामने सिर नहीं झुका सकता ।

३. जब एक मुगल सैनिक ने शान में आकर, धनुष पर बाण चढ़ा, आकाश में उड़ती पक्षिणी को विद्ध कर दिया तो लखण सेवटा ने तलवार के प्रहार से परवाल सहित भैंसे के दो टूक कर दिये । यह देख कर उलुगखान ने पूछा कि तुम्हारे जैसे कितने योद्धा कान्हड़दे की सेना में हैं? इस पर लखण ने उत्तर दिया—चौबीस हजार । खान ने लखण को इनाम देना चाहा किन्तु लखण ने उत्तर दिया—

कहइ प्रधान रीझ नवि लीजइ,
लाजइ कान्हड राउ । (१।१५०)

इनाम लेकर मैं अपने स्वामी को लज्जित नहीं कर सकता। यही लखण सेवटा जब वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ धराशायी हो गया तो शत्रु ने उसके रक्त से अपने ललाट पर टीका किया और उसकी प्रशंसा की।

मलिकइ लोही लषण तणउं,
लेई निलाडि कीउं वांदणउं।
कीधी वली प्रसंसा घणी,
धन्य धन्य माता तुझ तणी ।। (३/१०५)

वीका सेजवाल ने जब कान्हड़दे के साथ धोखेबाजी की तो उसकी पत्नी हीरादेवी ने अपने पति की भर्त्सना की और अंबाल फेंक कर उसका प्राणान्त कर दिया। तत्पश्चात् गढ़ में जाकर हीरादेवी ने कान्हड़दे को सब हाल कह सुनाया। इस काव्य का मुख्य रस वीर रस है। स्वप्न में गंगा–गौरी दर्शन तथा भावी-सूचक स्वप्न 'अद्भुत' रस के अन्तर्गत आते हैं। द्वितीय खंड में पीरोजा का विलाप-गीत विप्रलम्भ का उदाहरण प्रस्तुत करता है। जौहर में करुण और शान्त की छवि देखी जा सकती है।

कथा-निबन्धन की अपेक्षा भी चरित्र-चित्रण, ओजस्वी शैली, वर्णन-क्षमता तथा रसोद्भावन की दृष्टि से कान्हड़दे प्रबन्ध का स्थान सर्वोच्च रहेगा। अन्त में यदि यह कहा जाय कि प्रस्तुत काव्य प्राचीन राजस्थानी अथवा प्राचीन जूनी गुजराती का एक महार्घ रत्न है तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी। उस जमाने में किस प्रकार युद्ध हुआ करते थे, सेना के साथ क्या-क्या वस्तुएँ और कौन-कौन सी पेशेवर जातियां चलती थीं, किन वाद्य-यन्त्रों और शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था, किस प्रकार वीर राजपूत योद्धा मानरक्षार्थ अपने प्राणों की आहुति दे दिया करते थे, धान्य घटने पर किस प्रकार व्यापारी वर्ग अपना धान्य अर्पित करने के लिए तैयार रहता था, शत्रु-वर्ग किस प्रकार अनेक प्रलोभन दिया करता था, वीर की मृत्यु पर वैरी भी किस प्रकार उसके रक्त से मस्तक पर टीका लगाया करते थे, किस प्रकार देवी की भक्ति और स्वप्न में अनागत घटनाओं का संकेत मिलता था, किस प्रकार प्रणय धर्म की संकुचित सीमाओं का उल्लंघन कर अपना जन्मान्तर व्यापी रूप प्रकट करता था, किस प्रकार राजपूत जौहर किया करते थे, किस प्रकार धन और ज़ागीर के प्रलोभन में धोखेबाजी भी हो जाती थी, किस प्रकार भवितव्यता और पाप–पुण्य–भावना जीवन-क्रम को संचालित करती थी– इन सब की जानकारी के लिए किसी एक काव्य का नाम लेने के लिए यदि मुझे कहा जाय तो मैं कहूंगा 'कान्हड़दे प्रबंध' और मुख्यतः कान्हड़दे प्रबन्ध।+

+आकाशवाणी, जयपुर के सौजन्य से।

हम्मीरायरा—एक परिचय

●

भारतीय साहित्य में शरणागत-रक्षा की महिमा का स्थान-स्थान पर स्तवन किया गया है । महर्षि वाल्मीकि का कथन है कि यदि शत्रु भी शरण में आ जाय तो शुद्ध हृदय वाले श्रेष्ठ पुरुष को अपने प्राणों का मोह त्याग कर उसकी रक्षा करनी चाहिए । रामानुज-दर्शन में भी 'परा प्रपत्ति' अथवा शरणागति को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है । इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से शरणागत की रक्षा करना हमारे दर्शन और साहित्य का अभिन्न अंग रहा है ।

भारतवर्ष में भी शरणागत-रक्षा की दृष्टि से राजस्थान ने जो गौरव प्राप्त किया, वह अद्वितीय तथा अनुपम है । यहाँ के क्षत्रिय नरेशों ने शरणागत की रक्षा के लिए जिस प्रकार अपने प्राणों की आहुति दी, उसका स्मरण कर आज भी रोमांच हुए बिना नहीं रहता । 'सरणाई साधार'—राजस्थान के शीशोदिया क्षत्रियों का तो 'विरुद' ही बन गया था और सामान्यतः वीर के विशेषण के रूप में भी यह पद प्रयुक्त होने लगा । 'त्राहि त्राहि' करते हुए यदि किसी शरणागत आर्त की पुकार किसी राजपूत योद्धा के कानों में पड़ी और उसने शरणागत की रक्षा न की, तो राजस्थान ने कभी उसे 'वीर' की उपाधि से विभूषित नहीं किया ।

राजस्थान में भी शरणागत-रक्षा के प्रसंग में 'हम्मीर हठाला' को जो कहावती ख्याति प्राप्त हुई, वह किसी अन्य नरेश को नहीं । हम्मीरविषयक यह दोहा तो केवल राजस्थान में ही नहीं, बल्कि उत्तर भारत में भी कहावत की भाँति प्रयुक्त होता है—

सिंह संग सत्पुरुष बच, केल फलै इक बार ।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार ॥

हम्मीर ने जब महिमशाह को शरण दी तो अलाउद्दीन ने कहलवाया कि हे राव हम्मीर ! अपना हठ छोड़, महिमशाह को मुझे सौंप दे, वह मीर रखने योग्य नहीं है—

अक्खइ एम अलावदी हट तज राव हमीर।
महमासा मो सूंप दे, रखण जोग नहं मीर ।।

इस पर हम्मीर ने जो उत्तर भिजवाया, वह राजस्थान के कहावती दोहों में आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित है—

जत छाडै जोगी कदे, सत छंडै रजपूत।
सेख न सौंपूं साह तो, जब लग सिर साबूत ।।
धड़ नच्चौ लोही बहै, बोलै पड़ सिर बोल।
कट-कट तन रण में पड़ै, तौ नहँ देउँ मंगोल ।।
गवर संभु तन परहरै, अचल मेर हो चल्ल।
बोले वयण हमीर तो, चलण-हलण नहँ टल्ह ।।

क्या योगी कभी अपने 'जत' और रजपूत अपने 'सत' को छोड़ देता है ? हे शाह ! जब तक मेरा सिर साबित है, तब तक मैं शेख को कदापि नहीं छोड़ सकता। धड़ नाचने लगे, लोहू प्रवाहित होने लगे, तन कट-कट कर रण-भूमि में गिर पड़े तो भी मैं मंगोल को नहीं दे सकता। चाहे गौरी शंकर के शरीर को छोड़ दे, अटल सुमेरु पर्वत चाहे चलायमान हो जाय किन्तु हम्मीर के मुँह से जो वचन निकल गया, उसका पालन टल नहीं सकता। वाल्मीकि के राम ने जैसे कहा था कि राम दो बार नहीं बोलता (रामो द्विर्नाभिभाषते), उसी प्रकार हम्मीर ने जो एक बार कह दिया, वह कह दिया। क्या प्राणों के भय से वह अपना वचन वापिस ले ले ? नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। राजस्थान की एक कहावत में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'पिता और वचन तो एक ही होते हैं'। और फिर मर्द तो वही है जो ज़बान का धनी है, ज़बान का बाँका है। "मरद तो जब्बानबंको।"

हम्मीर चौहान ने निस्सन्देह उस कुल को गौरवान्वित और दिव्य आभा से मंडित किया जिसके सम्बन्ध में आज भी कहा जाता है—

चहुवाणां कुल चालणी, चाल न सयकै कोय।
कर मठ्ठा रिण भज्जणा, सो चहुवांण न होय ।।

ऐसे चौहान-कुल-भूषण हम्मीर के सम्बन्ध में यदि विपुल साहित्य की सृष्टि हुई तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, हम्मीर का चरित तो स्वतः ही एक काव्य है। 'प्राकृत पैङ्गलम्' में उपलब्ध हम्मीर-विषयक आठ पद्यों को आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल ने शार्ङ्गधर रचित 'हम्मीर रासो' का अंश घोषित किया था किन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मैथिल कवि विद्यापति ने 'पुरुष परीक्षा' में दयावीर हम्मीर की कथा का संक्षेप में वर्णन किया है। जैनाचार्य नयचन्द्र सूरि ने अपने 'हम्मीर महाकाव्य' में हम्मीर की जीवनी से संबन्धित घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। इस महाकाव्य की रचना सं० १४५८ और १४७९ के बीच हुई। जोधराज का 'हम्मीर रासो' तथा चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ'—ये दोनों रीति-कालीन प्रबन्ध-काव्य तो विद्वानों में चिरकाल से प्रसिद्ध रहे हैं। 'हम्मीरदेव वचनिका' नामक रचना भी श्री उदयशंकरजी शास्त्री के संग्रह में सुरक्षित है। एक वृहद् 'हम्मीरायण' नामक काव्य अभी अप्रकाशित है। ग्वाल कवि का 'हम्मीर हठ' सं० १८८३ की कृति है। कवि महेश द्वारा रचित 'हम्मीर रासो' की भी कुछ त्रुटित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।

इन प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त हम्मीर के सम्बन्ध में अनेक फुटकर रचनाएँ भी प्राप्त हैं। 'हमीर हठालँ रा कवित्त,' भाट खेम रचित 'हम्मीर दे कवित्त तथा बात' आदि का इस विषय में उल्लेख किया जा सकता है।

हम्मीरपरक स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सुर्जन चरित', 'कान्हड़दे प्रबन्ध' आदि काव्यों, मुसलमानी इतिहासकारों के ग्रन्थों तथा शिलालेखों में भी हम्मीर के संबन्ध में बहुमूल्य सामग्री प्राप्य है।

हम्मीर के सम्बन्ध में प्राकृत, संस्कृत, डिंगल, पिंगल आदि अनेक भाषाओं में रचनाएँ की गईं। जिस हम्मीर के चरित की छटा को प्रकाश में लाने के लिए काव्य, बात, वचनिका आदि साहित्य की विविध विधाओं का प्रयोग किया गया तथा जिस हम्मीर ने जाति और धर्म विशेष की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठ कर शरण में आये हुए महिमशाह और गर्भरूक नामक विद्रोही मुगल सरदारों की रक्षा करने में अपने प्राणों की बाजी लगा दी, उस हम्मीर का स्थान, इतिहास और काव्य दोनों में अमर हो गया।

विवेच्य कृति 'हम्मीरायण' में उसी शरणागत-वत्सल हम्मीर का काव्यमय चित्रण हुआ है। इस काव्य के रचयिता का नाम 'भाड' या 'भाण्डउ' व्यास है जैसा कि उपसंहार की अर्द्धालियों से स्पष्ट प्रकट होता है। प्रारम्भ की अर्द्धाली इस प्रकार है:—

"हम्मीरायण अति सु रसाल,
'भाड' गायो चरिय सुविसाल।" (४)

इसी प्रकार काव्य का समापन करते हुए कवि ने कहा है:—

"भणतां दुःख दालिद सहु टलइ,
'भांडउ' कहइ मो अफलां फलइ।"

उपक्रम और उपसंहार के अतिरिक्त भी 'हम्मीरायण' के कवि ने आधे दर्जन से भी अधिक स्थानों पर अपने नाम का प्रयोग किया है जिससे रचयिता के बारे में किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती।

रामायण के सादृश्य पर ही 'हम्मीरायण' का नामकरण हुआ है। कवि ने इसे रामायण तथा महाभारत के बाद तीसरे स्थान पर रखा है।

रणथम्भोर का हम्मीर चौहान जयतिगदे का पुत्र था। अलूखान के दो विद्रोही सरदार महिमासाहि और मीर गाभरू को हम्मीर ने शरण दी। महाजनों ने इस नीति का विरोध करते हुए कहा, "इनको शरण देना अनर्थ का मूल है, इनको रखना विपत्ति को मोल लेना है।" किन्तु हम्मीर ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अलूखान ने, बिना किसी को खबर दिये, हम्मीर पर चढ़ाई कर दी किन्तु संयोग से 'जाजउ देवड़ा' उधर से आ निकला। उसने हम्मीर को खबर कर दी जिससे वह मुठभेड के लिए तैयार हो गया और अलूखान को रण-भूमि छोड़ कर भाग जाना पड़ा।

अलाउद्दीन को जब यह सूचना मिली तो उसने रणथंभोर
दिया और मोल्हु भाट को हम्मीर के पास समझाने के लिए भेजा। भाट ने कहा-'हे राजन् ! एक ओर कीर्ति है, दूसरी ओर लक्ष्मी है, सच कहिए, आप दोनों में से किसका वरण करेंगे?'

"भाट कहइ राजा निसुणि, इकु कीरति अरु लाछि।
ते वरिवा आवी निसुणि, किसी वरिसि, कहि साच ।।" (१४६)

हम्मीर ने उत्तर दिया, "लक्ष्मी तू ले जा, मैंने तो कीर्ति का वरण कर लिया। मैं तो सुलतान को दर्भाग्र भी देने के लिए तैयार नहीं। यदि हार गया तो भगवान् की शरण हूँ, यदि जीत गया तो अपना दाँव है ही, मेरे तो दोनों हाथ लड्डू हैं—

"कीरति मोल्हा ! वरिजि मइं, लाछी तूं ले जाह।
डाभ अग्रि जे ऊपड़इ, ते न आपउं पतिसाह ।। (१५३)
जइ हारउं तउ हरि सरणि, जइ जीपउं तउ डाउ; ।
राउ कहइ बारहट ! निसुणि, बिहुं परि मोनइं लाह ।।(१५४)

हम्मीर ने कीर्ति का वरण किया। राजस्थानी कवि ने यथार्थ ही कहा था—

"इल ऊपर रहसी अमर कीरत रा कमठाण।"

अर्थात् कीर्ति के प्रासाद पृथ्वी पर अमर बने रहेंगे । जिस हम्मीर ने अपना मान नहीं छोड़ा, जो किसी के सामने झुका नहीं, उसका सूर्य-चन्द्र की भाँति, नाम अमर हो गया—

मान न मेल्यउ आपणउ, नमी न दीधउ केम;
नाम हुवउ अविचल मही, चंद-सूर दुय जेम ।। ३०८ ।।

१२ वर्ष तक अलाउद्दीन और हम्मीर का युद्ध चलता रहा । अन्त में सुलतान की ओर से सन्धि की बातचीत होने लगी । हम्मीर ने अपनी ओर से रायपाल और रणमल को विश्वासपात्र समझ कर सुलतान के पास भेजा किन्तु अधिक जागीर के लोभ में ये दोनों स्वामिद्रोही सरदार सुलतान से मिल गये । लौटने पर झूठ ही उन्होंने हम्मीर से कह दिया कि सुलतान सन्धि की शर्त के रूप में राजकुमारी देवल-देवी को माँगता है । धान्य-रक्षक से मिलकर इन विश्वास-घातियों ने धान्य भी इधर-उधर करवा दिया । फिर शाह से लड़ने का बहाना बना कर हम्मीर की सेना लेकर वे अलाउद्दीन से जा मिले । विधि की वक्रता से अचानक ही हम्मीर के सामने विकट स्थिति आ गई । इस समय की कुछ छवियाँ अंकित करने योग्य हैं । हम्मीर ने लोगों को बुला कर कहा—'मैं ठाकुर और आप मेरी प्रजा हैं । आप सबको कहाँ पहुँचवा दूँ ?"

"हूँ ठाकुर थे प्रजा थां, वउलावूं किणि ठाणि ?"(२४५)

उत्तर मिला, "इस विषम वेला में यदि हम पीठ दिखाकर चले जाएँ तो जननी ने हमें व्यर्थ ही जन्म दिया ।"

"इणि वेला जे पूठि द्यां, जणणी जाया फोक ।"

फिर जाजा की तरफ मुखातिब होकर हम्मीर ने कहा,

"तुम तो परदेशी पाहुने हो, अपने घर चले जाओ ।"

इस पर जाजा ने उत्तर दिया कि स्वामी को संकट में छोड़ कर वे ही लोग जाते हैं जो ऐसे-वैसों की सन्तान होते हैं—

जाजउ कहइ ते जाउ, जे जाया तिह जण तणा;
अरथ विडाणा खाइं, साईं मेल्हइ सांकड़इ ।" (२४८)

हम्मीर ने जिन दो सरदारों को शरण दी थी, उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया—

"म्हां दीधाँ जइ ऊगरइ, तउ तूं गढ ऊगारि ।" (२५२)

हम दोनों को लौटा देने से यदि गढ़ की रक्षा हो सकती है तो हे हम्मीर ! तू दुर्ग की रक्षा कर ।

किन्तु ऐसा करना हम्मीर के लिए कब सम्भव था ? क्या वह अलाउद्दीन के सामने झुक जाय ? नहीं ऐसा कदापि नहीं हो सकता । हम्मीर हठाले के एक कवित्त में हम्मीर से ओजस्वी शैली में कहलवाया गया है—

"अरक गयण नह उगै, साह जो सीस नवाऊं ।
हरिहर बंब बीसरै सुकर जो डंड सहाऊं ।
दियण धीह जब दरवूं, तबह जाय जीह तड़क्के ।

... .

न मिलूं आय पतिसाह नूं, मो मिलियां डूबै धरणि ।" (कवित्त ६ पृ. ४६)

यदि मैं बादशाह के सामने सिर झुकाऊँ तो आकाश में सूर्य उदित न होगा, यदि मैं कर देने लगूँ तो हरिहर, ब्रह्म और सुकृत सब दूर जा पड़ेंगे, पुत्री को देने की बात यदि मैं मुँह से निकालूँ तो जीभ के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे । यदि मैं बादशाह से मिला तो पृथ्वी डूब जायगी ।

ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ हम्मीर के सामने अब जौहर करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया । दुर्ग में अब केवल बचे थे वीरमदे, हम्मीरदे, गाभरू, महिमासाहि, भाट और पाहुना जाजा । दोनों मीरों, वीरमदे और जाजा ने अच्छी मार मचाई । हम्मीर ने अपने ही हाथों अपना गला काट कर 'पवाड़ा' किया । सं० १३७१ ज्येष्ठ की अष्टमी श नवार के दिन हम्मीर काम आया ।

युद्ध के बाद अलाउद्दीन जब रणक्षेत्र में आया तो भाट ने उसके यश का बखान किया । शाह ने जब वरदान मांगने के लिए कहा तो भाट ने प्रार्थना की कि स्वामिद्रोहियों को प्राण-दण्ड दिया जाय । बादशाह ने रणमल, रायपाल और धान्यरक्षक की खाल निकलवाने का हुक्म दे दिया । राजा हम्मीर आदि की अन्त्येष्टि-क्रिया की गई । भाट को भी इच्छानुसार मृत्यु प्राप्त हुई ।

धन्य है हम्मीर जिसने दो मीरों को शरण दी, धन्य है वह जननी जिसने हम्मीरदे को जन्म दिया और धन्य है वह 'हठाला राणा' जिसकी विजय की कामना करते हुए बन्दी जन आशिष दिया करते थे कि नहाते हुए भी कभी उसका एक बाल भी न खिसे !

१. **धनु धनु जीवो राज हमीर, जिणि सरणाई राख्या बे मीर ।** (३२१)

२. **धन जननी हम्मीरदे ।** (३०२)

३. **बंदीजण आसीस द्यइ, जइति हुवउ चहुआण ।**
न्हातां बाल रखे खिसइ, तं हम्मीरदे राण ।। (१४०)

ऐसे महिमाशाली हम्मीर के काव्य को 'हम्मीरायण' नाम देकर कवि ने उसकी पवित्रता की ओर भी संकेत किया है। भांडउ की मान्यता है कि इस पुनीत पुराण के पढ़ने, गुनने और सुनने से गंगा-स्नान की तरह फल प्राप्त होगा।

दूहा, गाहा वस्तु, पद्धड़ी और चउपई छन्दों में इस काव्य की रचना हुई है। कुल ३२६ पद्यों में 'चउपई छन्दों' की अधिकता से इसे 'राय हम्मीरदे चउपई' भी कहा गया है। कथा-प्रवाह तथा कार्य की प्रधानता इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। मार्मिक स्थलों के समावेश द्वारा कवि ने हम्मीर के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डाला है। वर्णन में अतिविस्तार कहीं लक्षित नहीं होता—ऐसा नहीं लगता कि वर्णन का अतिरेक कार्य-व्यापार में बाधक हो रहा है। राजपूतों के ३६ कुलों के प्रसंग में कवि ने परिगणन-शैली का भी प्रयोग किया है। अलंकारों का प्रयोग परम्परागत है। हम्मीर पृथ्वी का इन्द्र (पुहवी इन्द्र) है, रणथम्भोर ऊंचाई में सुरगिरि की होड़ कर रहा है (ऊंचा सुरगिरि स्यूं लेइ वाद), नगरी अलकावती की उपमा धारण कर रही है आदि में रूपक, उत्प्रेक्षा तथा उपमा जैसे सादृश्यमूलक अलंकार काम में लाये गये हैं।

वर्णन की दृष्टि से भी हम्मीरायण के कवि को अच्छी सफलता मिली है। अलाउद्दीन के सैन्य-प्रयाण का यह दृश्य प्रस्तुत है—

आलमसाह हुवउ असवार, जाणे गढ़ लेसी करतार,
तियरा दल नवि लाभ पार, छायो सूर हुवउ घोरंधार; (६१)
ढीली थकउ चाल्यु सुरताण सेषनाग टलटलिया ताम; (६३)
डुंगर गुड़इ समुद्र झलहलइ, त्रिभुवन कोलाहल ऊछलइ; (६४)
इंद्रासणि जाइ लागी खेह इंद्र जोवइ तिहां न्यान धरेवि। (६५)

इसी प्रकार दोनों सेनाओं के युद्ध का यह प्रसंग आँखों देखा-सा चित्र अंकित कर देता है:—

बिहु दल वाजइ जांगी ढोल, नोसाणे पड़इ हीलोल;
बिहु दलि वाजइ रिणि काहली, कटक दउड़ि झालरि रसि भरी; (१८४)
अति मीठी बाजइ महरी तियरइ नादि वीर रसि चडी;
बिहु दल भाट करइ जयकार, सुभट भिड़इ न लाभइ पार; (१८५)

झबझब झबकइ तिह करवाल,
वाहइ सेल घणा अणियाल,
सींगणि तणा विछूड़इ तीर,
इम मेल्हइ भिड़इ तिम वीर, (१८६)

यंत्र-नालि वहइ ढींकुली,
सुभट राय मनि पूजइं रली,
मरइ मयंगल आवटइ अपार,
आहुति लइ जोगिणि तिणि वार (१८७)
गयवर पड़इ हिंवर हिणहिणइ,
सुभट घणा रिणांगणि पड़इ। (१८८)

जौहर के समय वीरांगनाओं के शृंगार की यह विराट् झाँकी है :—

करी सनान पहिरिया चीर, ऊगटणे लूहीया सरीर (२६३)
सिरि सिंदूर सिंध तेडिया, सवा कोड़ि का टीका किया;
नयणे काजल सारी रेह, मुख तंबोल समाण्या तेह (२६४)
काने कुंडल झलकइ तिया, सूरिज चंद री ऊपम जिया;

वांहइ बांध्या बहरखा भला
सोवन चूड़ी खलकइ निला, (२६५)
आँगुलियां सोहइ मूंदड़ी
सवा लाख री हीरे जड़ी,
कंठनि गोदर उरिवर हार,
पाई नेउरि झण झणकार, (२६६)
सोलह सिंगार संपूरण किया,
नाचइ गावइ गाढी तिया,
आपण पणा संभालइ प्रिया,
बेऊ पक्ष ऊजालइ त्रिया। (२६७)

इस प्रकार जौहर की दिव्य ज्वालाओं में अपने शरीर की आहुति देकर रणथंभोर की वीरप्रसविनी नारियाँ अपने मातृपक्ष और पितृपक्ष, दोनों को उज्ज्वल कर रही हैं।

इस प्रकार क्या वर्णन, क्या अलंकार, क्या शब्द-संचयन आदि सभी दृष्टियों से यह काव्य सुन्दर बन पड़ा है। इसकी भाषा माध्यमिक राजस्थानी है जिसके भाषावैज्ञानिक और सांस्कृतिक अध्ययन से अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा। अलाउद्दीन को उत्तर भेजते समय जब हम्मीर कहता है—

रे देवगिरि म म जाणि, जु रे जादव किं नरवइ
रे गुजरात म म जाणि, कर्ण चालुक न हुयउ
रे मंडोवर म म जाणि, जुतइं गाढम करि ग्रहियउ
रे जलालदीन म म जाणि, जु रे वेसासि जि ग्रहियउ

रे अलावदीन ! हम्मीर यहु, दिढ किमाड आडउ खरउ
रिणथंभि दुर्ग्ग लगंतड़ां, हिव जाणीयइ पटन्तरउ। (१५६)

अरे अलाउद्दीन ! तू इसे देवगिरि मत समझ। यह यादव राजा नहीं है। तू इसे गुजरात न समझ। यह कर्ण चालुक्य नहीं है। तू इसे मंडोवर न समझ। अरे शाह ! तेरा जिससे पाला पड़ा है, वह तो हम्मीर है जो यहाँ का खरा और रक्षक कपाट है। अब रणथम्भोर पर घेरा डालने में तुम्हारी ताकत का पता चल जायगा, तुम्हें लेने के देने पड़ जाएँगे।

शैली की ओजस्विता और प्रभविष्णुता हमारा ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहती।

'हम्मीरायण' जैसा काव्य सम्पूर्ण इतिहास नहीं हो सकता, ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ कवि ने उसमें अपनी ओर से भी मार्मिक उद्भावनाएं की हैं। हम्मीर ने मुहम्मदशाह (महिमसाह) को शरण दी, यह ऐतिहासिक तथ्य है। खाई को शाह के सैनिकों द्वारा बालू से पाटने का प्रसंग भी इतिहास-सम्मत है किन्तु देवमाया के द्वारा पानी प्रवाहित करने और बालू के बह जाने वाला संदर्भ अलौकिक तत्त्व के अंतर्गत समझना चाहिए। इतने समय तक किले को घेरे रहने से अलाउद्दीन ऊब गया था, इसका भी इतिहासकार समर्थन करते हैं। हम्मीर का भंडार अंत तक भरा हुआ था, इतिहास इसकी गवाही नहीं देता। 'हम्मीरायण' में जाजा को जो 'परदेशी पाहुना' कहा गया है, वह भी हमारी समझ में नहीं आता।

नाल्हू भाट का अलाउद्दीन से वरदान माँगना और हम्मीर के विश्वासघातियों को मृत्यु-दण्ड दिलवाना कवि की स्वतन्त्र उद्भावना है जिससे काव्य न्याय की रक्षा हो जाती है और पाठक भी संतोष की साँस लेते हैं।

'हम्मीरायण' से तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थिति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। अपने सामंतों के प्रति राजा का अच्छा व्यवहार था। राजा की ओर से उन्हें जागीर और नियत वेतन भी दिया जाता था। राजनीति में महाजन लोगों का भी दखल था। हम्मीर की शरणागत-नीति को महाजनों ने विष की बेल बताया था। राजा के भंडारों में अन्न का अच्छा संग्रह रहा करता था।

हम्मीरायण के अध्ययन से तत्कालीन युद्ध-पद्धति का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। लड़ने में जिन अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग होता था, उनकी भी तालिका 'हम्मीरायण' में उपलब्ध है। शत्रु द्वारा आक्रमण के समय किले का शृंगार किया जाता, मगरिबी नाम के यन्त्रों से नीचे की सेना पर गोले बरसाये जाते थे। ढेकलियों से भी पत्थर फेंके जाते। किले से राल मिले तेल, जलते हुए बाण और अन्य आग लगाने वाली वस्तुओं का भी प्रयोग होता था।

इस प्रकार 'हम्मीरायण' में काव्य-सौष्ठव के साथ-साथ तत्कालीन समाज और संस्कृति के अध्ययन के लिए भी विपुल सामग्री प्राप्य है। इस काव्य की रचना

सं० १५३८ कार्तिक शुक्ला सप्तमी सोमवार के दिन हुई—

"पनरह सइं अठतीसइ सही,
काती सुदि सातम सोम दिनि कही।"

आज यद्यपि हम्मीर नहीं है, किन्तु उसके यश:शरीर पर काल का भी कोई वश नहीं चलेगा। काल चला जाता है किन्तु सत्य-प्रतिज्ञ वीरों की गाथाएँ शेष रह जाती हैं। राज्य पलट जाता है, दिन पलट जाते हैं किन्तु बड़े मनुष्यों के वचन नहीं पलटते—

"रजह पलट्टै दिन वलै, दिनह पलट्टै जांहि,
वड्डा मिनखां बोलियां, वचन पलट्टै नांहि ।।"

छत्तीस राजकुली जिस हम्मीर की सेवा करते थे, सवा लाख जिसकी सेना में सैनिक थे, जो सात छत्र धारण किया करता था, जिसे देख कर त्रिभुवन कम्पित हो उठता था—वह हम्मीर भी आज नहीं रहा। इसलिए कवि कह उठा—

"खाज्यो पीज्यो विलसज्यो, ज्यां रह संपइ होइ।
मोह म करिज्यो लख्मी तणउ,
अजरामर नहि कोइ ।।"

सत्यवादियों और योद्धाओं को अमर कर देने वाले होते हैं कवीश्वर लोग जिनके चरण पूजने के लिए जोरदार शब्दों में कहा गया है—

'जग अमर नाम चाहो जिके
पूजो पाँव कवेसरां।'

माण्डउ ने हम्मीर को अमर कर दिया। जिस रणथंभोर के लिए हम्मीर के सैनिक मर मिटे, जहाँ वीर नारियों ने जौहर द्वारा अपने प्राणों को होम दिया, लोक-मानस में उस रणथंभोर की भी पवित्र छवि चिरांकित हो गई। राजस्थान में विवाह कार्य के आरम्भ में जब विनायक का आवाहन और पूजन किया जाता है तो लोक-गीतों में उसे रणतभंवर (रणथंभोर) से आने के लिए कहा गया है—

"गढ रणतभंवर सूं आवो विनायक
करो नी अणचींती विड़दड़ी।"

हम्मीर की शरणागत-रक्षा और उसके पुनीत बलिदान से रणथंभोर, शिव के कैलाश की तरह, विनायक का निवासस्थान बन गया।

धन्य है 'हम्मीरायण' और हम्मीरायण का कवि माण्डउ जिसकी काव्य-गंगा में स्नान कर पाठक आज भी भाव-विभोर हो उठते हैं।

वीर सतसई के प्रथम शतक में शैली के विविध रूप

१. मंगलाचरण—शली

वीर सतसई के प्रारम्भ में गणपति की वन्दना की गई है जिसमें वीररसावतार महाकवि सूर्यमल्ल ने वीर-प्रकाश की प्राप्ति-हेतु अपनी कामना प्रकट की है। शास्त्रों में विघ्नेश, विघ्नराज, विनायक, विघ्नहन, विघ्नकर्ता, गजबल, निरंजन, कपर्दी, दीर्घजीवक, शंकुकर्ण, वृषभध्वज, गणपति आदि गणेश के अनेक नामों का उल्लेख हुआ है। वीर सतसईकार द्वारा प्रयुक्त 'गणवें' अर्थात् गणपति शब्द साभिप्राय है। वाराह वपुराण में गणेश को इस प्रकार नमस्कार किया गया है–

नमस्ते गजबलाय नमस्ते गणनायक।
विनायक नमस्तेऽस्तु नमस्ते चंडविक्रम ।।

गणेश का गणनायक, विनायक तथा चंडविक्रम वाला रूप ही सतसईकार को भी अभीष्ट है। गणेश चंडविक्रम तथा विनायक हैं, अतः उनसे वीरता का प्रकाश प्राप्त करने की प्रार्थना सर्वथा उचित ही कही जायगी।

गणपति के चरणों में मर्यादापूर्वक सिर झुकाने में मंगलाचरण का नमस्क्रियात्मक रूप ही मानना चाहिए किन्तु इस नमस्कार में भी वीर प्रकाश प्राप्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति के कारण वैयक्तिकता का भी स्पर्श है जो इस मंगलाचरण का वैशिष्ट्य है।+

+लाऊं पै सिर लाज हूं, सदा कहाऊं दास।
गणवै गाऊं तूझ गुण, पाऊं वीर प्रकास ।।१।।

गणपति की वन्दना के बाद कवि ने वाणी का आह्वान किया है—

आणी उर जाणी अतुल, गाणी करण अगूढ ।
बाणी जगराणी वलं, मैं चींताणी मूढ ।।२।।

उक्त आह्वान के द्वारा कवि वाणी के साथ आत्मीयता स्थापित करता हुआ-सा प्रतीत होता है । उसकी मान्यता है कि वाणी को हृदय में धारण करने से ही काव्य का रूप स्पष्ट हो सकता है । काव्य-प्रारम्भ से पहले वाक् देवी का चिन्तन सर्वथा वांछनीय ही कहा जायगा । पहले गणपति-वन्दना तथा तत्पश्चात् वाणी का आह्वान यह सिद्ध करता है कि हृदय में वीर-प्रकाश प्राप्ति के बाद उसकी सटीक अभिव्यक्ति वाणी की कृपा से ही संभव है । गणेश यदि अनुभूति के प्रेरक होंगे तो सरस्वती सटीक अभिव्यक्ति में सहायक होगी ।

वाणी-वन्दना में णकार-बाहुल्य तथा आन्तरिक तुक-निर्वाह द्वारा नाद-सौन्दर्य की भी सृष्टि हुई है जो वीणाधारिणी की वन्दना के प्रसंग में सर्वथा औचित्यपूर्ण है । 'वाणी जगराणी' का प्रयोग आचार्य केशव-कृत वन्दना का स्मरण दिलाता है जहाँ उन्होंने कहा है 'बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय ऐसी मति कहो धौं उदार कौन की भई ।'

२. इतिवृत्त–शैली

उक्त शैली में इतिहास की भाँति घटनाओं का वर्णन किया जाता है ।
निम्नलिखित दोहे इतिवृत्त शैली के निदर्शक हैं :—

बीकम बरसां बीतियो, गण चौ चंद गुणीस ।
बिसहर तिथ गुर जेठ बदि, समय पलट्टी सीस ।।४।।
इकडंकी गिण एक रो, मूले कुल साभाव ।
सूरां आलस ऐस में, अकज गुमाई आव ।।५।।
इण वेला रजपूत वे, राजस गुण रंजाट ।
सुमिरण लग्गा बीर सब, बीरां रौ कुल बाट ।।६।।

विक्रम सं० १९१४ वाँ वर्ष व्यतीत होने पर ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी गुरुवार को समय ने सिर पर पल्टा खाया । इसके द्वारा कवि ने राजनैतिक परिस्थितियों की ओर संकेत किया है । तत्कालीन राजपूतों की विलासिता की ओर जब कवि की दृष्टि गई तो वह क्षुब्ध हो उठा । संवत् १९१४ में ठा० फूलसिहजी को जो पत्र उसने लिखा, उसमें भी इस क्षोभ की अभिव्यक्ति हुई है :—

"अर ये राजा लोग देशपती जमी का ठाकर छै जे सारा ही हिमालय का गल्या ही नीसर्या ।"

किन्तु सन् ५७ के गदर के कारण वीरों का ध्यान देश के अतीत गौरव की ओर गया और वे वीरों के परम्परागत कुल-मार्ग का स्मरण करने लगे।

उक्त तीनों दोहों में वर्णित तथ्यों का सूर्यमल्लजी द्वारा लिखे गए पत्रों में वर्णित तथ्यों से सांमजस्य स्थापित हो जाता है।

३. प्रशस्ति–शैली

निम्नलिखित दोहों में वीर सतसई का प्रशंसन किया गया है :—

सत्तसई दोहामयी, मीसण सूरजमाल।
जंपै भड़खाणी जठै, सुणै कायरां साल ।।७।।
नथी रजोगुण ज्यां नरां, वा पूरौ न उफाण।
वे भी सुणतां ऊफणै, पूरा वीर प्रमाण ।।८।।
जे दोही पख ऊजला, जूझण पूरा जोध।
सुणतां वे भड़ सौ गुणा, वीर प्रकासण बोध ।।९।।

वीर सतसई के दोहों की उक्त प्रशस्ति में अतिरंजना नहीं दिखाई देती। इन दोहों में वीर भावना जागृत करने की अद्भुत शक्ति पाई जाती है।

४. प्रश्नोत्तर–शैली

उक्त शैली का एक रूप वह है जिसमें एक ही दोहे में प्रश्न और उत्तर, दोनों का समावेश हो गया है। यथा,

नाग द्रमंकां की पड़ै, नागण धर मचकाय।
इण रा भोगणहार जे, आज भिड़ाणा आय ।।४७।।

उक्त दोहे में शेषनाग ने नागिन के प्रश्न का उत्तर दिया है कि आज पृथ्वी लचक रही है क्योंकि इसका उपभोग करने वाले एक दूसरे से आ भिड़े हैं।

कहीं-कहीं दोहे के पूर्वार्द्ध में प्रश्न है और उत्तरार्द्ध में उत्तर। जैसे,

की घर आवे थे कियौ, हरिणयाँ बलती हाय।
घण थारै घण नेहड़ै, लीधौ बेग बुलाय ।।८०।।
धण पूछै की जीवियाँ, धणी न लग्गा धार।
थारा सौगन थां बिना, सूनो मन संसार ।।८२।।

कहीं-कहीं पूरा दोहा प्रश्न के रूप में रखा गया है और उत्तर भी पूरे दोहे द्वारा ही दिलवाया गया है। उदाहरणार्थ—

(प्रश्न)

कंत घरे किम आविया, तेगां रौ घण त्रास।
लहँगे मूझ लुकीजियै, बैरी रौ न बिसास ।।७५।।

(उत्तर)

मैं तो विण सब हाँसिया, उण भड़ हेक महेस ।
काय दियै घण मेहणो, हूँ भड़ हूँत विसेस ।।७६।।

आगे के तीन दोहों (७७,७८,७९) में भी कायर पति के प्रति वीरांगना की उक्तियाँ हैं। यदि पति द्वारा दिए गए उत्तर के प्रत्युत्तर-स्वरूप उक्त तीन दोहे कहे गए हैं, तो हम इन्हें 'प्रत्युत्तर-शैली' के अंतर्गत रख सकते हैं।

प्रश्नोत्तर-शैली का एक वह रूप भी वीर सतसई में उपलब्ध है जिसमें वक्ता स्वयं ही प्रश्न करता है और स्वयं ही उत्तर देता है। यथा,

आज घरे सासू कहै, हरख अचाणक काय।
बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेबा जाय ।।५०।।

५. सूक्ति-शैली

उक्त शैली के निदर्शन-स्वरूप २९ वें दोहे के उत्तरार्द्ध की निम्नलिखित पंक्ति रखी जा सकती है—

सीहां केहा देसड़ा, जेथ रहै सो धाम ।

घर में कायर की तरह दुबक कर बैठ जाना और व्यर्थ ही जीवन को बरबाद कर देना वीर का काम नहीं। 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के आदर्श का अनुसरण कर वीर देश-देशान्तर की यात्रा करता है और अपने बाहुबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। बाँकीदास का निम्नलिखित दोहा भी इसी आशय का द्योतक है—

सिंघां देस विदेस सम, सिंघां किसा उतन्न ।
सिंह जिका बन संचरै, सो सिंघां रा बन्न ।।

६. संबोधन-शैली

संबोधन-शैली सतसईकार की सर्वाधिक प्रिय शैली है जिसके निम्नलिखित रूप सतसई के प्रथम शतक में उपलब्ध होते हैं :—

(क) कंत के प्रति संबोधन

संबोधन-शैली के दोहों में अनेक दोहे ऐसे हैं जो वीरांगना ने अपने पति के प्रति कहे हैं। इन दोहों में वीर का युद्धोल्लास (२२), शत्रु-रूप अतिथियों की अस्त्र-शस्त्रों द्वारा भेंट-पूजा (२३), पत्नी द्वारा शृंगारिक अथवा विलासी पति का युद्धार्थ सजग किया जाना (२४), पति के बल के रूप में पत्नी के चूड़े का चित्रण (२५), घोर युद्ध-रव होने पर पत्नी द्वारा स्वामी का जगाया जाना (५२), पति

अप्सरा का हाथ छोड़ने के लिए आग्रह (६४) तथा स्वामी से पहले स्वर्गारोहण की इच्छा (७४) आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

कुछ दोहे ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जिनमें वीर नारी की कायर पति के प्रति व्यंग्योक्तियाँ हैं। उदाहरणार्थ ७५ वें दोहे में वीर नारी अपने कायर पति को लहँगे में छिपने के लिए कहती है। इसी प्रकार मुँह में तिनका लेने वाले कायर पति की भर्त्सना (७७), युद्ध में जीवित बचने वाले कायर पति को देख कर वीरांगना के उत्साह का ठंडा पड़ जाना तथा लज्जा का अनुभव करना (७८), कायर पति से नारी-वेश और आभूषण धारण करने के लिए कहना (७६), कायर पति के युद्ध से लौट कर न आने की हालत में पत्नी द्वारा सती होने की संभावना का प्रकट किया जाना (८०), कायर पति के कारण चूड़ियों से वीरांगना की लज्जा (८१), धारा-तीर्थ में स्नान न करने से जीवन की व्यर्थता (८२) तथा वीर बाला के आत्म-गौरव की व्यंजना (६७) हुई है।

इस प्रकार कोष्ठकांकित ७ दोहों में तो कंत के प्रति वीरोक्तियाँ हैं तथा ८ दोहों में कायर कंत के प्रति व्यंग्योक्तियाँ हैं जिनसे मध्ययुगीन राजस्थानी नारी के हृद्गत भावों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

(ख) सखी के प्रति संबोधन

सखी के प्रति कही गई उक्तियों में चूड़ियों को लज्जित करने वाले पति और दूध को लज्जित करने वाले पुत्र की असह्यता(१४), पति द्वारा विजय प्राप्त करने पर आरती उतारने तथा उनकी मृत्यु पर सती होने की अभिलाषा (१५),युद्ध द्वारा कंत का मनोविनोद (२१) सती होने के समय सुहावना ढोल बजवाने की कामना (४४), नवजात शिशु द्वाराथाल बजते ही आँखें फुला-फुला कर देखना ५१ पति द्वारा युद्ध में तूफान मचा देने पर पत्नी द्वारा हर्षित होकर सखी को भव्य दृश्य दिखलाना (५३), युद्ध के नशे में अकेले पति द्वारा असंख्य शत्रुओं का सफाया कर देना (५४), अंग क्षत-विक्षत होने पर भी मूंछों की शान का बना रहना (६६), कबन्ध द्वारा शत्रु-सेना के संहार पर पत्नी का आश्चर्य और सन्देह (६६), पति के पैरों पर कंकाणी द्वारा चोंच चलाना तथा गिद्धनी द्वारा सिरचंपो (७१), पति का किवाड़ बन्द न करके सोना (६६), पति के हस्त-लाघव की व्यंजना (६८) तथा दोहा सख्या ६६ में नीम पर बलिहारी होने की भावना प्रकट हुई है।

(ग) भाभी के प्रति संबोधन

भाभी के प्रति संबोधनों में पति के धराशायी होने पर देवरानी की सती होने की अभिलाषा (४३), युद्ध का नगाड़ा सुनते ही बहते घावों में ही पति के चौंक उठने की आशंका (६२), देवर के शस्त्र-प्रहारों द्वारा उन पर किए जाने वाले व्यय

की सार्थकता (८८), देवरानी द्वारा द्वार-रक्षा का संकल्प तथा जेठानी से शत्रुओं से लोहा लेने का प्रस्ताव (६१) तथा घुड़सवारी जानने वाली भाभी से लगाम हाथ में लेने के लिए उद्‌बोधन है। (६२) इसी प्रकार दोहा संख्या ६३ में भावज से यह कहा गया है कि हमारे यहां यदि युद्ध करने के लिए पति घर पर न भी हों, तो भी उनकी वीर नारियाँ युद्धार्थ सदा प्रस्तुत रहती हैं। हमारे यहां के ढोली भी इस कुल-रीति से परिचित हैं, अतः वीर नारियों को प्रोत्साहित करने के लिए वे सिन्धु राग में गीत गाने लगते हैं।

ऊपर दिए गए कोष्ठकांकित सभी दोहों में देवरानी की जेठानी के प्रति उक्तियाँ हैं किन्तु एक दोहा (६३) ऐसा भी उपलब्ध होता है जिसमें जेठानी देवरानी को संबोधित करते हुए कहती है कि तुम्हारे जेठ कोसों से आई हुई ढोल की आवाज सुन कर निद्रा छोड़, युद्ध के लिए उठ खड़े हो जाते हैं।

(घ) दर्जिन और मनिहारिन के प्रति संबोधन—

पति की कायरता के कारण पत्नी दर्जिन से कहती है—हे दर्जिन ! भविष्य में अब तू मेरे लिए विधवोचित लंबी कंचुकी लाया करना। (८३)

मनिहारिन के प्रति संबोधन में युद्ध से लौटे हुए पति को मृतवत् मान कर कहा गया है—हे सखी मनिहारिन ! चली जा, फिर इस हवेली पर न आना। युद्ध से भग कर आए हुए पति मेरे लिए अब मृतक-तुल्य हैं, फिर मुझ जैसी विधवा के लिए शृंगार कैसा ? (८४)

इसके बाद रंगरेजिन आदि के प्रसंग में संबोधन का क्रम बदल जाता है जिसमें निकम्मे ठाकुर को संबोधित कर उसे आड़े हाथों लिया जाता है।

(ङ) ठाकुर तथा ठाकुरों के प्रति संबोधन—

रंगरेजिन झूरती हुई कहती है कि हाय रे निकम्मे सरदार ! यह तूने क्या किया ? तेरी स्त्री के लिए मैं तो सती होने के वस्त्र रँग रही थी और तूने युद्ध से पीठ दिखाकर मेरी आशा पर ही पानी फेर दिया ! (८५)

इसी प्रकार गंधिन चिल्ला उठी—अरे निकम्मे ! तू घर लौट आया। तेरी पत्नी ने सती होने के लिए जो बड़ा महँगा इत्र निकलवाया था, उसे अब कौन खरीदेगा ? (८६)

सोनारिन ने तो यहां तक कह दिया कि अपनी कुल की परिपाटी खोने वाले और मेरी मजदूरी गँवाने वाले हे ठाकुर ! तेरा सत्यानाश हो। (८७)

ठाकुरों के प्रति संबोधन से संबद्ध कतिपय अन्य दोहे भी हैं जिनमें कहा गया है कि धीरे ठाकुरो, धीरे, पृथ्वी कहीं भगी नहीं जाती। वीर पुरुषों की भूमि पर अधिकार जमाना आसान खेल नहीं है। (३२)

इसी प्रकार कायर ठाकुरों के प्रति सती की गर्वोक्ति है कि हे सरदारो ! आप लोग भूल कर भी आग पर पैर न रखें। आग को तो सती स्त्रियां ही उमंग से धारण करती हैं। (३३)

अन्यत्र युद्ध के लिए व्यर्थ हल्ला मचाने वाले ठाकुरों को कहा गया है—हे भोले सरदारो ! तुम्हारा उत्पात व्यर्थ है। इसके परिणामस्वरूप तुम्हारे घरों में केवल रोना-पीटना ही शेष रह जायगा ! (३४)

आगे वीर पत्नी कहती है कि हे सरदारो ! मेरा पति काला नाग है जिसे छेड़ने पर मौत के सिवा कुछ हाथ न लगेगा। (३६)

यह समझ कर कि मेरा पति सोया हुआ है, उसे छेड़ो मत, यहां से भग जाओ। तुम्हारे भग जाने से तुम्हारी स्त्रियों का सौभाग्य सुरक्षित रहेगा। (३७)

इसी प्रकार वीर पत्नी अपने आठ वर्ष के बालक को लक्ष्य में रख कर कहती है कि हे भोले लोगो ! इस आठ वर्ष के बालक को बालक मत समझो। इस कुल में तो सिंहनी जिसे जन्म देती है, वह शत्रुओं के लिए काल रूप ही होता है। (३८)

(च) कलालिन आदि के प्रति संबोधन—

कलालिन को संबोधित करके कहा गया है कि हे कलालिन ! तूने यह क्या छल किया कि रति-शय्या का मजा ही किरकिरा हो गया ! प्राणनाथ तो तेरी बहुत बढ़िया शराब से छक कर भी युद्ध का ही चौगुना स्मरण करते हैं। (१९)

सिकलीगरनी के प्रति संबोधन में वीर नारी सिकलीगर द्वारा दी हुई तेज धार की सराहना करती है जिसके कारण युद्ध में प्रहार करते समय पति को एक भी झटका नहीं लगता। (४१)

इसी प्रकार लोहारिन को मीठा उपालम्भ देते हुए कहा गया है कि हे लोहारिन ! अब मैं तेरे पति के हाथों की सराहना नहीं करूँगी क्योंकि मेरे पति जब युद्ध में हर्ष के कारण फूले नहीं समाए, तब उनके सिर में टोप की कड़ी घुस गई ! लोहार को इतना भी अन्दाज नहीं रहा कि रण-क्षेत्र में मेरे पति कितने प्रफुल्लित हो जाते हैं। (४२)

नाइन के प्रति संबोधन में पति के धारा-तीर्थ में स्नान करने पर महावर का घना रंग देने के लिए कहा गया है। (६१)

(छ) घोड़े के प्रति सम्बोधन—

जिस घोड़े ने स्वामी को युद्ध-भूमि में विजय दिलाई, वीर नारी ने उसकी आरती उतारी और हाथ से थपथपाकर कहने लगी हे कुमैत ! मैं तुझ पर बलिहारी हूँ ।(२६)

जो अश्व युद्ध के नगाड़ों की आवाज सुनते ही स्फूर्ति में भर कर तंग खिचते-खिचते ही नृत्य करने लग गया, उसे लक्ष्य करके वीर नारी कहती है कि हे तुरंग ! तुझे रंग है। (२७)

इसी प्रकार योद्धा की पत्नी अश्व की स्वामिभक्ति की प्रशंसा में कहती है कि शत्रुओं के झुण्ड को अपनी टापों से मार कर टुकड़े-टुकड़े हो तू पहले ही गिर

इसके बाद योद्धा की उक्ति है कि हे अश्व ! मैंने तुझे बड़े प्यार से ग्रास खिला-खिला कर पाला था, मुझे पहुंचा कर तो गिरता ! (७३)

(ज) कालिका के प्रति संबोधन—

कालिका के प्रति संबोधन में अद्भुत शौर्य की व्यंजना हुई है जहाँ कालिका भी भयभीत होती हुई दिखाई गई है । (३०)

एक दूसरे दोहे में अपने पति के अचूक शौर्य की सोल्लास व्यंजना करती हुई वीर नारी कहती है कि हे कालिके ! तूने भी यह खप्पर क्या हाथ में लिया है ? हाथी के कलेवर का-सा कड़ाह हाथ में ले कि जिसमें दलित गज-मस्तक डाल कर तुझे मेरे पति एक साथ ही तृप्त कर देंगे । (४६)

(झ) फुटकर सम्बोधन—

फुटकर सम्बोधनों में चील, पुत्र, ढोली, अप्सरा, जोगिन और माता के प्रति उक्तियाँ हैं । चील को संबोधित करते हुए कहा गया है कि हे चील्ह ! तू प्राणनाथ के नेत्रों की ओर न जा क्योंकि यदि वे नेत्र विहीन हो गए तो अपनी पत्नी का सती होने का प्रणपालन कैसे देखेंगे ? (१७)

पुत्र के प्रति संबोधन में वीर-माता अपने पुत्र को कुल क्रमागत रीति का स्मरण दिलाती है और कहती है कि मेरा स्तन-पान करने वाले के लिए अवसर पड़ने पर प्राणोत्सर्ग करना अनिवार्य है । (३९)

ढोली के प्रति संबोधन में ढोलिन उसे तैयार होने के लिए कह रही है ताकि वह वीरों को प्रोत्साहनार्थ बधावा दे सके । (४५)

अप्सरा के प्रति कहे गए दोहे में स्वर्गारोहण के बाद सती स्त्री उसे फटकार बताते हुए कहती है कि पगली अप्सरा ! सूने पति को अपना कर घमण्ड न कर । शूरवीर की पहचान तुम नहीं कर सकती, यह तो सती स्त्रियों का ही काम है जो अग्नि-स्नान कर स्वर्ग में पहुँचती हैं । (६५)

जोगिन के प्रति संबोधन में वीर नारी उसे कह रही है कि जल्दी-जल्दी मांस-भक्षण करके ही अपना पेट क्यों भर रही है, अभी तो मेरे पति तेरा खप्पर रुधिर से भर कर तुझे तृप्त कर देंगे। (६७)

माता के प्रति संबोधन में कहा गया है कि वीर को पत्नी का वृद्धत्व नहीं सुहाता। अतः पत्नी के वृद्ध होने से पहले ही योद्धा अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देगा। (७०)

अन्यत्र माता को संबोधित करते हुए कहा गया है कि हे माँ ! पाणिग्रहण के अवसर पर जब पतिदेव की हथेली के तलवार की मूठ के निशानों का मेरे हाथ से स्पर्श हुआ तो मैं जान गई कि चाहे वे युद्ध में अकेले ही क्यों न रहें, वे मेरे चूड़े को कभी न लजाएंगे, या तो युद्ध में विजयी होंगे अथवा स्वर्गारोहण करेंगे। (१६)

७. चित्र-शैली

चित्र-शैली के निदर्शनार्थ निम्नलिखित तीन दोहे उद्धृत किए जा रहे हैं जिनके आधार पर कोई भी चित्रकार सुन्दर चित्र बना सकता है :—

झंडा ओछाडै गयण, वसुधा पाडै वाह।
तो भी तोरण बींद तिम, धीरो धीरो नाह ॥४६॥
घोडां घर ढालां पटल, भालां थंभ बणाय।
जे ठाकुर भोगै जमीं, और किसौ अपणाय ॥६०॥
गीध कलेजो चील्ह उर, कंकाँ अंत बिलाय।
तौ भी सो धक कंत री, मूंछाँ भ्रूह मिलाय ॥६६॥

८. अलंकार शैली

उक्त शैली के अन्तर्गत वीर सतसई के प्रथम शतक में प्रयुक्त कुछ प्रमुख अर्थालंकारों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है:—

अपह्नुति

नहं डाकी अरि खावणौ, आयाँ केवल बार।
बधाबधी निज खावणौ, सो डाकी सरदार ॥११॥

दीपक

डाकी ठाकर रौ रिजक, ताखां रौ विष एक।
गहल मुवां ही ऊतरै, सुणिया सूर अनेक ॥१२॥
डाकी ठाकर सहण कर, डाकण दीठ चलाय।
मायड़ खाय दिखाय थण, धण पण वलय बताय ॥१३॥

नागन जाया चीटला, सीहण जाया साव।
राणी जाया नहं रुकै, सो कुल वाट सुभाव ॥४०॥

काव्यलिंग

विण दामां विलसै सदा, दामां दुर्लभ नाग।
न्याय भड़ां घर नारियां, चूडो पोत सुहाग ॥१८॥

चपलातिशयोक्ति

भड़ घोडा महंगा थिया, एकण झाट उडंत ॥२०॥

अन्योक्ति

निधड़क सूतो केहरी, तो भी विमुहा पाव।
गज गेंडा धीर न धरै, वज्र पड़ै बघबाव ॥४८॥
पग पाछा छाती धड़क, कालौ पीलौ दीह।
नैण मिचौ साम्हौ सुणै, वण हकालै सीह ॥५५॥
धुर सूनी मरियौ धवल, सकट हुचक्का खाय।
तिण रौ वालौ वाछड़ो, तंडै खंध लगाय ॥५६॥
तुंडां गज फेटां तुरी, डाढां भड ओझाड़।
हेकण कौलै धूंदिया, फौजां पाथर पाड़ ॥५७॥
बंबी अंदर पौढ़ियौ, कालौ दबकै काय।
पूंगी ऊपर पाधरौ, आवै भोग उठाय ॥५८॥

रूपक

अजकौ गहली रौ कलस, बलती रौ नालेर।
एकल पूगौ टेकलौ, आस किसूं धव केर ॥५६॥

रूपकातिशयोक्ति

सीहण जाई सीहणी, लीधी तेग उठाय ॥६०॥

स्वभावोक्ति-गर्भित गम्योत्प्रेक्षा

हूँ बलिहारी राणियां, भ्रूण सिखावण भाव।
नालौ बाढण री छुरी, झपटै जणियौ साव ॥६४॥
हूँ बलिहारी राणियां, सांचा गरभ सिखाय।
जाचां हूंदै तापणै, हरखै धी हग लाय ॥६५॥

उपमा

सूता नाहर सारखा, साल न छोडै सूर।
कंत विणट्ठा काच-सा, दो ही बिलखां दूर ॥३५॥

९. वार्ता–शैली

सूर्य अस्त हो गया, पक्षी अपने तपने घोंसलों में जा रहे हैं, इस प्रकार का यथातथ्य वर्णन 'वार्ता-शैली' के अंतर्गत आता है। वीर सतसई के निम्नलिखित दोहे उक्त शैली के अंतर्गत रखे जा सकते हैं—

दमंगल़ बिण अपचौ दियण, बीर धणी रौ धान ।।१०।।
हूँ बलिहारी राणियां, थाल़ बजाणै दीह ।।२८।।
काली करै बधावणो, सतियां आयो साथ।
हथलेवै जुड़ियो जिको, हमैं न छूटै हाथ ।।३१।।
हूँ पाछै आगै हुवे, आणी नाह घरेह।
जे बाल्ही धण जीव हूँ, आगै मूझ करेह ।।७४।।
बाप गयो ले माहिरौ, काको जात कडूंब ।।८६।।

१०. सिद्धान्त-कथन-शैली

निम्नलिखित दोहा उक्त शैली के अंतर्गत रखा जा सकता है—

बैण सगाई वालियां, पेखीजै रस पोस।
बीर हुतासण बोल़ में, दीसै हेक न दोस ।।३।।

इस प्रकार वीर सतसई के प्रथम शतक के दोहों का शैलीगत विभाजन निम्नलिखित है:—

१. मंगलाचरण — २
२. इतिवृत्त — ३
३. प्रशस्ति — ३
४. प्रश्नोत्तर — ३
५. सूक्ति — १
६. संबोधन — ६२
७. चित्र — ३
८. अलंकार — १७
९. वार्ता — ५
१०. सिद्धांत-कथन — १

१००

निष्कर्ष

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वीर सतसई के प्रथम शतक में वार्ता-शैली के केवल पांच दोहे हैं। वार्ता-शैली द्वारा रस की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। सतसईकार ने वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रकार की शैलियों का आश्रय लिया है जिनमें से प्रमुख शैली संबोधन शैली है। श्री सूर्यमल्लजी की यह प्रिय है; १०० में से ६२ दोहे संबोधन-शैली में लिखे गए हैं। इस शैली के द्वारा आत्मीयता स्थापित करने में बड़ी सहायता मिलती है। यदि सतसई की रचना केवल वर्णनात्मक शैली में की जाती और कवि ही अपनी ओर से सब कुछ कहता चलता तो इस प्रकार की शैली बड़ी नीरस हो जाती। प्रश्नोत्तर, कथोपकथन तथा संबोधन आदि के द्वारा सतसई की शैली में बड़ी सजीवता और नाटकीयता आ गई है। उक्त शतक में लगभग २० दोहे ऐसे हैं जिनमें अर्थालंकारों का सहज प्रयोग हुआ है।

कवि द्वारा प्रयुक्त विभिन्न शैलियों के माध्यम से वीर की जिस प्रतिमा का निर्माण हुआ है वह मुखर, सजीव और गतिशील प्रतीत होती है तथा पाठकों के हृदय पर भी प्रभाव डालती है। इन दोहों में वीर के जीते-जागते रूप की प्रतिष्ठा हुई है जिसमें उसके मानस का स्पन्दन है और उसके हृदय की धड़कनें श्रोताओं और पाठकों को भी सुनाई पड़ती हैं।

●

वीर सतसई के द्वितीय शतक में शैली के विविध रूप

●

महाकवि सूर्यमल्ल द्वारा रचित वीर सतसई के द्वितीय शतक में शैली के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं जिनका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

१. संबोधन–शैली

संबोधन-शैली सतसईकार की सर्वाधिक प्रिय शैली है जिसके निम्नलिखित उप-विभाग किए जा सकते हैं:—

(क) सखी के प्रति संबोधन

सखी के प्रति किए गए संबोधनों में पति की युद्ध-दक्षता पर पूर्ण विश्वास का होना (१५०), युद्ध का कोलाहल सुनते ही पति की मूंछों का भौंहों से जा मिलना तथा युद्ध में हाथ की खुजली मिटाना (१५२), पति के घावों से यह अनुमान लगा लेना कि वह कुछ ही दिनों का मेहमान है (१५६), पति की कलाई के जोर से शत्रु के नक्कारे का फूटा हुआ बजना तथा शत्रु-सेना के झण्डे के दण्ड का टूट पड़ना (१७०), पति द्वारा इस सफाई और वेग के साथ भाले के द्वारा वार किया जाना कि सामने वाले शत्रु का निर्जीव होकर ज्यों का त्यों रह जाना (१७२), युद्ध के भयंकर तमाशों को देखने में ही पति द्वारा रुचि का लिया जाना (१७३), अन्य किसी के भी द्वारा पति की भाँति शान का निर्वाह न किया जा सकना (१७८), घावों से छक कर योद्धाओं के धड़ों पर पति का सोना (१८६), वीरांगना को कायर पड़ौस का न सुहाना तथा उसका उस देश पर बलिहारी होना जहां सिर

मोल बिकते हैं (१६७), भोग-विलास के समय पति का आलसी होना किन्तु सिन्धु राग सुनने पर कवच में भी न समाना (१६८) तथा उक्त शतक के अंतिम दोहे (२००) में कवच की कड़ी बजने पर पति के शरीर का सौ गुना हो जाना वर्णित हुआ है।

(ख) देवरानी द्वारा जेठानी के प्रति संबोधन

देवरानी द्वारा जेठानी के प्रति किए गए संबोधनों में फौजों को अकेले ही ढाह देने वाले पति की वीरता पर देवरानी के पक्के विश्वास का होना (१०२), अप्सरा से एक मास कुसंग की आशंका (१०६), कुमैत घोड़े को धीरज बँधाते हुए धीमी चाल से चल कर, पति का, तोरण मारने के लिए जाते हुए दूल्हे की तरह शान के साथ आगे बढ़ना (१३४), वीरांगना के पति द्वारा निरंतर संहार किए जाने पर विधवाओं का प्रलाप और वीर पत्नी की समवेदना (१३५), एक बैर का बदला लेते-लेते दस-बीस बैर और चुका देना (१३७), हाथी के पास पहुँच कर दाँत उखाड़ने वाले अपने जेठ पर बलिहारी होना (१४०) तथा दोहे (१४३) में जेठ के जनेऊ-उतार प्रहार पर देवरानी का न्यौछावर होना अंकित हुआ है।

उक्त दोहों के अतिरिक्त एक दोहा (१६३) ऐसा भी है जिसमें जेठानी ने देवरानी से कहा है कि हाथी ढाहने वाले मेरे देवर धराशायी होकर हाथी के पैरों में सोए हुए हैं और उसके होदे में सोए हुए हैं तुम्हारे जेठ।

(ग) पति के प्रति संबोधन

पति के प्रति संबोधनों में नेत्रों से नींद हटा कर सजग होने का अनुरोध (१२१), सच्चे शूरवीर से युद्धार्थ जान हथेली पर रखना (१३६), केसरिया बाना धारण करने वालों के साथ युद्ध में मरण निश्चित समझ कर प्रस्थान करना (१६४), पति द्वारा कायरता-प्रदर्शन की संभावना पर पत्नी की पीहर जाने की इच्छा (१७५), प्रियतम के शौर्य पर मुग्ध होकर पत्नी का उसे और युद्ध करने से मना करना (१७७), बिना जीते या बिना प्राण-त्याग किए पति के लौट आने की संभावना पर वीरजा का चूड़ियों के टुकड़े-टुकड़े कर डालने का दृढ़ निश्चय (१७६) तथा दोहे (१८८) में वीरांगना की उस देश में चलने की इच्छा चित्रित हुई है जहाँ प्राणों का व्यापार होता है।

(घ) ठाकुरों और सरदारों के प्रति संबोधन

दोहे (१२६) में योद्धाओं से नमकहरामी न करने के लिए कहा गया है। अन्यत्र सुभटों को संबोधित कर वीर योद्धा ने कहा है कि अकेला होते हुए भी मैं तुम सबको परास्त कर दूँगा और तुमसे कुछ करते-धरते न बनेगा (१३१)। इसी

प्रकार कायर ठाकुरों से कहा गया है कि मर्दों से आँख मिला कर अब वर्णसंकर की भांति तुम किधर भगे जा रहे हो ? (१३२)

दोहे (१४१) में आलस्य-प्रमाद अथवा निद्रा में समय बरबाद करने वाले ठाकुरों के प्रति संबोधन से स्पष्ट है कि यह पृथ्वी तो कुमारिका है जिसका उपभोग विरले ही दूल्हों ने किया है। आगे चल कर ठाकुरों के प्रति संबोधन में वीर की उक्ति से स्पष्ट है कि उसे निमंत्रण देना काल को निमंत्रण देना है (१४५)। इसी प्रकार दोहे (१४७) में चुल्लू भर-भर कर अफीम का रस लेने की बात कही गई है तथा दोहे (१८२) में उन निश्चेष्ट ठाकुरों को धिक्कारा गया है जो दीन बने रह कर दिनों को धक्का देते रहते हैं।

(ङ) ढोलियों और भाटों के प्रति संबोधन

ढोलियों को संबोधित करते हुए कहा गया है कि भोजनोत्सवों पर तो तुम लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर आगे से आगे बढ़ते रहते हो, अब युद्ध के समय आगे आकर सिन्धु राग क्यों नहीं सुनाते ? (११३)

इसी प्रकार दोहे (११४) में भाटों को आड़े हाथों लेते हुए कहा गया है कि हे भाट लोगो ! इतने दिन तुम कहा करते थे कि पृथ्वीपति अपना कुल-मार्ग भूल गए किन्तु युद्ध में वीरों के पास रहने से ही हम जानेंगे कि तुम सच्चे विरुद बखानने वाले हो।

(च) माँ, सास और ननद के प्रति संबोधन

दोहे (११६) में वीर बालक का कथन है कि हे माता ! तू मुझे निरा बालक मत समझ। मैं अपने घर के वैर बिना चुकाए कभी न रहूँगा।

इसी प्रकार दोहे (१२०) में पुत्र-वधू अपनी सास से कहती है कि जगत का वैर उधार लेने के लिए तो आप अपने पुत्र को मना कर दीजिए।

आगे चल कर ननद को संबोधित करती हुई पत्नी कहती है कि आपके भाई बहुत से शत्रुओं को निर्दयतापूर्वक मौत के घाट उतार रहे हैं (१३६)।

इस उक्ति में वीरांगना की स्वजाति के प्रति समवेदना व्यंजित है।

(छ) पुत्र के प्रति संबोधन

कायर पुत्र को संबोधित करती हुई माता कहती है कि हे पुत्र ! आयु क्षीण कराने वाला स्तन-पान कराके जब मैंने महाकष्ट से तेरा पालन-पोषण किया था, तब मैंने यह नहीं समझा था कि तू अपनी जननी का दूध लजा कर इस प्रकार युद्ध से पराङ्मुख होकर आ खड़ा होगा (११५)।

और फिर हे भोले बालक ! किस डर से तू भग आया ? क्या मृत्यु घर पर नहीं आयेगी ? दूसरी बात यह है कि तेरे कारण तेरी पत्नी को शर्म से आँखें नीची करनी होंगी कि उसे ऐसा कायर पति मिला ! (११६)

(ज) डकैत के प्रति संबोधन

डकैत के प्रति संबोधन में वीर पत्नी की उक्ति है कि हे भाई! धन लूट कर अब देर न कर। यदि इस घर के स्वामी आ गये तो तुम्हारी खैर नहीं, यह सौदा बहुत महँगा पड़ेगा (१८०)।

आगे डकैत को भयभीत करने के लिए वीर नारी कहती है कि लूट करके और विवेक धारण करके अपने झोंपड़े को भग जा, वरना मेरे प्रियतम के आ जाने पर वे अपना एक-एक तृण अरबों में बेचेंगे। (१८१)

ध्वनि यह है कि वीर के घर डाका डालने में किसी भी डकैत की कुशल नहीं।

(झ) ठकुरानी तथा रानी के प्रति संबोधन

वीर पत्नियाँ कहती हैं कि हे ठकुरानी! हमारे घरों में चून भी नहीं पहुँचाती हो किन्तु जिस दिन सिर माँगोगी, उस दिन हम उनका भी लोभ नहीं करेंगी (१६५)।

सतियाँ फिर कहती हैं कि हे ठकुरानी ! आप सेर भर आटा देती हैं किन्तु जिस दिन पतिदेवों के सिरों की आवश्यकता होगी, उस दिन देर थोड़े ही होगी (१६६)।

आगे चल कर एक वीर पत्नी उसी बात को दोहराती हुई कहती है कि हे रानी ! साधारण आटे की भी कमी क्यों दिखलाती हो ? जब बदला चुकाना होगा तो सबसे पहले मेरे पतिदेव का सिर जायगा (१६९)।

(ञ) प्रकीर्ण संबोधन

वीरांगना चकवी को संबोधित करते हुए कहती है कि हे चकवी! इतनी क्यों चीखती-चिल्लाती है ? बहुत ही धैर्य दिलाये जाने पर स्वामी तनिक सोये हैं। मेरे पति कल इतना अद्भुत युद्ध करेंगे कि उसे देखने के लिए सूर्य भी दो पहर तक अपना रथ थाम लेंगे जिससे तुम्हें दो पहर और पति-संयोग का सुख प्राप्त हो जाएगा (१०९)।

एक कायर स्त्री ईश्वर को संबोधित करते हुए कहती है कि हे प्रभो! जिस देश में युद्ध के लिए सिर बिकते हों, वह देश मुझे कभी न दिखाना (१९०)।

इस भावना के विपरीत एक वीर नारी महादेव को संबोधित करते हुए कहती है कि यदि आप अपनी मुण्डमाला के लिए सिर तलाश करते-करते बहुत

थक कर ऊब गए हों तो मेरे पतिदेव का सिर उतरवा लीजिए और फिर देखिए कि उनका अकेला रुण्ड ही वैर लेकर गिरेगा। (१६४)

राजस्थानी साहित्य में कबन्ध द्वारा किए गए युद्ध का रोमांचक वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित अद्भुत दोहा उल्लेख्य है—

भड़ बिन माथे जीतियो, लीलो घर ल्यायोह।
सिर भूल्यो भोलो घणो, सासू रो जायोह।।

अर्थात् सिर के गिर जाने पर भी योद्धा का कबन्ध लड़ कर विजयी हुआ और नीला अश्व उसे घर ले आया। वीर पत्नी ने जब यह भव्य दृश्य देखा तो लगी कहने—सास का पुत्र मेरा पति कितना भोला है, यह युद्ध भूमि में अपना सिर ही भूल आया !!

पथिक के प्रति संबोधन से स्पष्ट है कि शूरवीर अपने घर का द्वार खुला रख करके भी निःशंक रहता है। ऐसे शूरवीर से युद्ध करने पर शत्रु की स्त्री का सौभाग्य कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता। (१३८)

२. प्रश्नोत्तर-शैली

प्रश्नोत्तर-शैली का एक रूप वह है जिसमें दोहे के पूर्वार्द्ध में प्रश्न किया जाता है और उत्तरार्द्ध में उसका उत्तर दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ—

पहल मिलें धण पूछियौ, किण कीधा किण हत्थ।
बीजड़ साहे बोलियौ, इण डाकण भू-अत्थ ।।१५३।।

अर्थात् प्रथम मिलन में नववधू ने जब पूछा कि प्राणनाथ आपके हाथ में ये कठोर चिह्न किससे हो गए हैं, तो पति तलवार उठा कर बोला—प्रिये! इस डाकिनी से और पृथ्वी के लिए।

उक्त शैली का दूसरा रूप वह है जिसमें एक दोहे में प्रश्न तथा दूसरे में उसका उत्तर सन्निहित रहता है। यथा,

कुसुम मौड़ केसर बसण, नेह न देह लसाय।
भाभी कंत सकैक तो, ल्होड़ी सोक बसाय ।।१०४।।

देवरानी जेठानी से कहती है कि हे भाभी ! मेरा प्रियतम बड़ी सजधज के साथ रणक्षेत्र में गया है। उसके सिर पर फूलों का सेहरा है, केसरिया वस्त्र उसने धारण कर रखे हैं, प्राणों पर मोह का कोई चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु कहीं वह छोटी सौत अर्थात् अप्सरा को वरण न करले !

यहाँ प्रश्न आशंका के रूप में प्रकट हुआ है। इस आशंका का उत्तर देती हुई जेठानी कहती है :—

देराणी कुल ऊपजी, दो ही पख बिण दाग ।
की मुख ल्होड़ी सौक रौ, थारो लियण सुहाग ।।१०९।।

हे देवरानी ! तुम उच्च कुल में उत्पन्न हुई हो, तुम्हारे दोनों पक्ष, ससुराल तथा पीहर निष्कलंक हैं । तो फिर क्या मुँह है अप्सरा का कि वह तुम्हारा सौभाग्य ले ।

कहीं-कहीं दो दोहों में प्रश्न किया गया है तथा एक दोहे में उसका उत्तर दे दिया गया है। जैसे,

[प्रश्न]

आघा चारण खावकां, बीड़ी मौज बटंत ।
दूरा केम दकालणां, हूँचकतां भड़ हंत ।।११०।।
रण हालीजै चारणां, चाहे अब लग चैन ।
करै सुहड़ जिसड़ी कहौ, बिध सो दूर बणैन ।।१११।।

अर्थात् आनन्दोत्सव के ताम्बूल और कलंगी वितरण होने के समय तो हे चारणो! तुम आगे रहते हो पर दुःख की बात है कि इस समय जबकि योद्धा हिचकिचा रहे हैं, हे प्रोत्साहको ! दूर कैसे हो रहे हो ?

हे चारणो ! अब तक चैन करते रहे, अब युद्ध में चलिए और जो सुभट जैसा युद्ध करें, उसका वर्णन करिए । यह कथन-विधि दूर रह कर कैसे सम्भव हो सकती है ?

यहाँ पर १११ वाँ दोहा यद्यपि प्रश्न का रूप प्रस्तुत नहीं करता, तथापि पूर्ववर्ती दोहे में उपस्थित किए गए प्रश्न का पूरक होने के कारण, इसकी गणना भी प्रश्न के रूप में ही कर ली गई है ।

इन दोनों दोहों को सुनकर चारण बोल उठे—

[उत्तर]

भोला की चहरो भड़ां, ईखौ चारण ऐण ।
के ही कढतां कायरां, बाढां चाबुक बैण ।।११२।।

अर्थात् हे भोले सरदारो ! हम पर क्या व्यंग्य कसते हो ? चारणों की गति-विधि तो देखो । कई भगते हुए कायरों को हम शब्दों के चाबुकों से ही काट डालते हैं ।

उक्त प्रसंग में वह शैली भी उल्लेखनीय है जिसमें उद्बोधन के साथ-साथ गर्भित प्रश्न तथा उत्तर-प्रत्युत्तर की छटा दर्शनीय है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

पंथ निहारै पाहुणा, गीध बिहारै गैण ।
अमल कचोलां ऊभलै, नींद बिछोड़ौ नैण ।।१२१।।
काँकड़ त्रंबक त्रहकिया, ऊठौ खुलियौ कोट ।
सुणतां नाहर आलसी, सूतौ बदल करौट ।।१२२।।
औराँ की फल जागियाँ, लड़णौ जाग लँकाल ।
गुड़ै धणी चा गाजणा, तो माथै त्रंबाल ।।१२३।।

हे प्रियतम ! शत्रु बाट देख रहे हैं, गगन में गिद्ध मंडराने लगे हैं, अफीम कटोरों में छलक रही है, अब नेत्रों से नींद दूर करिए ।

हे स्वामी ! अब तो उठिए, सीमा पर नगाड़े बज रहे हैं और किले का दरवाजा खुल गया है किन्तु वह सिंह यह सब सुन करके भी करवट बदल कर सो गया । करवट बदल कर सोते हुए जब उसने यह कहा कि लड़ने वाले और बहुत हैं तब उसके उत्तर में पत्नी कहने लगी कि औरों के जगने से क्या होना-जाना है ? हे नरकेसरी ! तू जागृत हो, युद्ध तुझे करना है । स्वामी के गर्जन करते हुए नगाड़े तेरे ही भुज-बल पर तो बज रहे हैं ।

३. सूक्ति-शैली

सूक्ति-शैली के निदर्शनार्थ निम्नलिखित दोहे प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

रणखेती रजपूत री, वीर न भूलै बाल ।
बारह बरसां बाप रौ, लहै बैर लंकाल ।।११८।।
अठै सुजस प्रभुता उठै, अवसर मरिआं आय ।
मरणौ घर रै मांझियां, जम नरकां ले जाय ।।१३०।।
खाटी कुल री खोवणां नेपै घर-घर नींद ।
रसा कँवारी रावतां, बरती को ही बींद ।।१४१।।
नराँ न ठीणौ नारियाँ, ईखौ संगत एह ।
सूरां घर सूरी महल, कायर कायर गेह ।।१६१।।

उक्त दोहों में ११८ वें दोहे का प्रथम चरण, 'रण खेती रजपूत री' तथा १४१ वें दोहे का उत्तरार्द्ध 'रसा कँवारी रावतां, बरती को ही बींद' सुन्दर सूक्तियाँ हैं । शेष दो दोहे (१३० तथा १६१) सम्पूर्ण रूप में सूक्तियों का रूप प्रस्तुत करते हैं ।

४. नाटकीय-शैली

नाटकीय शैली से सामान्यतः उस शैली का बोध होता है जिसमें असामान्यता अथवा आकस्मिकता के तत्त्व पाये जाते हैं किन्तु वस्तुतः नाटकीयता का प्राण कार्यव्यापार की गतिशीलता में सन्निहित रहता है । आकस्मिकता में भी नाटकीयता

के समावेश का कारण सम्भवतः यही है कि आकस्मिकता के कारण घटनाओं में तीव्र गतिशीलता और चमत्कृत कर देने की शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

कार्य-व्यापार की गतिशीलता के कारण ही निम्नलिखित दोहे नाटकीय शैली के सुन्दर निदर्शन हैं :—

भागौ कंत लुकाय धरण, ले खग आतां धाड़।
पहर धणी चा पूंगरण, जीती खोल किवाड़ ।।१०६।।
पूगौ नीठ पिछाणियौ, किसूं बुलायौ काल्।
कै पग मंडो ठाकुरां, कै छंडौ करवाल् ।।१४५।।

अर्थात् भगे हुए पति को छिपा कर वीरांगना ने हाथ में तलवार लेकर और पति के वस्त्र पहन कर आते हुए आक्रमणकारियों पर किवाड़ खोल कर विजय प्राप्त की।

इस दोहे में पति को छिपाना, अपने वस्त्र उतार कर पति के वस्त्र पहनना, हाथ में तलवार लेना तथा किवाड़ खोल कर शत्रुओं पर विजय पाना—इतने कार्य व्यापारों में वीरांगना की त्वरा दर्शनीय है। इस पद्य में कार्य-व्यापार की गतिशीलता के साथ-साथ अन्य नाटकीथ तत्व आकस्मिकता तथा असामान्यता का भी सहज ही समावेश हो गया है।

इसी प्रकार अगले दोहे में वीर की उक्ति है कि हे ठाकुरो ! बड़ी मुश्किल से पहुँच पाया हूँ। पहचान तो लिया न ? अपने काल को तुमने क्यों न्यौता दिया ? अब या तो दृढ़ता से मुकावले के लिए खड़े हो जाओ या तलवारें रख दो।

इस प्रकार के वीर के अचानक ही पहुँचने पर शत्रुओं को लगा होगा जैसे कोई तूफान उनके सामने आ गया हो। इस दोहे में आकस्मिकता के साथ-साथ प्रश्नों की यह झड़ी शत्रुओं को आतंकित कर देनै के लिए तीव्र बाणों का-सा काम करती है।

वीर सतसई का निम्नलिखित दोहा भी कार्य व्यापार की क्षिप्रता तथा गतिशीलता-जन्य नाटकीयता के कारण चिर-स्मरणीय रहेगा—

बंब सुणायौ बींद नूँ, पैसंतां घर आय।
चंचल् साम्है चालियौ, अंचल् बंध छुड़ाय ।।१३३।।

अर्थात् घर में पैर रखते-रखते दूल्हे को युद्ध का नक्कारा सुनाई दिया। फिर क्या था, दुलहिन के अंचल से अपने वस्त्र की गाँठ छुड़ा कर वह अपने अश्व की ओर बढ़ गया।

५. अभिधा शैली

अभिधा शैली से तात्पर्य उस शैली से है जहाँ शब्द, शब्द-समूह अथवा वाक्य साक्षात् सांकेतिक अर्थ को प्रकट करते हैं। उक्त शैली के उदाहरण-स्वरूप निम्न-लखित दोहे उद्धृत किए जा रहे हैं :—

सीस कलंगी सेहरौ, केसर बोल दुकूल।
कीजै मुझ चलावणौ, मरियौ नावै मूल ।।१०३।।
रुख-रुख तीरां-रूकड़ाँ मुख मुख बीरां मौल।
पूंचाला हेकण पखै, दल में प्रबल दरौल ।।१२७।।
आसां बासां याद कर, जीव निसासां जाय।
बिण एकण बानैत रै, मुख मुख फौज मुड़ाय ।।१२८।।
मिलियै मन खोबां अमल, पांते भोजन-पान।
भड़ घोड़ा अजका सदा, जिण रौ हुकम जहान ।।१६३।।
बिण माथै बाढै दलां, पोढै करज उतार।
तिण सूरा रौ नाम ले, भड़ बांधै तरवार ।।१६५।।
रण पाखै दुमनौ रहै, लाज न नैण समाय।
पग लंगर पाछा दियण, सो बानैत कहाय ।।१६८।।
फजरां चोपा घेरिया, धूली अम्बर धूंद।
कै धण माट बिलोवसी, कै घट जासी धूंद ।।१६२।।

अभिधा-शैली से यह न समझा जाय कि उक्त शैली के निदर्शनार्थ उद्धृत दोहों में काव्यत्व नहीं है क्योंकि ऊपर के अनेक दोहों में बिम्ब ग्रहण कराने की अच्छी शक्ति पाई जाती है।

६. लक्षणा शैली

लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से निम्नलिखित पद्य या पद्यांश उद्धरणीय हैं—

रुण्ड हुआ जीवै जिके, सदा न हेरै साथ।
सीहां रै गल साँकले, वे भड़ घालै हाथ ।।१०१।।
मूझ भरोसौ नाह रौ, **फौजां ढाहणहार** ।।१०२।।
पैला काँकड़ पीव घर, बीच **बुहारै खेत** ।।१०७।।
के ही कढता कायरां, **बाढां चाबुक बैण** ।।११२।।
या घर-**खेती ऊजली**, रजपूताँ कुल राह ।।१२४।।
नाह ! **इसा घर नूंतणा**, आप **घरां जल देर** ।।१३६।।
सुत धारां **रज रज थियौ**, बहू बलेवा जाय
लखियां **डूंगर लाज रां**, सासू उर न समाय ।।१४०।।

एकरण लाखां आंगमे, **मेटी कर-कंडूय** ॥१५२॥
पावस आयां **जक पड़ै**, पैलां दहल अपार ।
भाजड़ री घर-घर भर्णै, **हुआं लोह अभिसार** ॥१५७॥
औरां रा कर और ठै, पड़ियां **पाड़ै बांग** ॥१७२॥
सेजां में घर घर सखी, **आणै धजर** अजाण ।
धारां में **राखै धजर**, सो कुण कंत समाण ॥१७८॥
चूड़ो जिण दिन **चाहसी**, उण दिन केथ अबेर ॥१६६॥
राजा आणै पार री, जंग कुबंगां जीत ।
राजा **पग बांधै रसा**, राजां कुल् री रीत ॥१५८॥

उक्त पद्यों के रेखांकित अंशों में लाक्षणिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

७. व्यंजना शैली

व्यंजना–शैली के निदर्शनार्थ निम्नलिखित दोहे उल्लेख्य हैं:—

(क) वस्तु से वस्तु की ध्वनि

धीरपियां सूतौ धणी, कुरलै चकवी काय ।
देखीजै मुख दीहरै, सुख दो जाम सिवाय ॥१०६॥
भाभी कुल् खेती बिचा, भय न हुवै धव भंग ।
चीत खटक्कै मास चो, कुलटा सौक कुसंग ॥१०८॥

रखे पधारो रावतां, नमक धणी रो नांख ।
जम री पड़सी पास जद, ऊघड़सी तद आंख ॥१२६॥
कह पंथी जिण गाम धण, फाटक घर न जुड़ाय ।
अब तो चूड़ौ ऊबरै, सूर धणी समुझाय ॥१३८॥

उक्त दोहों में क्रमशः ध्वनि यह है—मेरे पतिदेव ऐसा युद्ध करेंगे कि उसे देखने के लिए सूर्य भी दो पहर तक अपना रथ थाम लेंगे । (१०६) पत्नी आठ महीनों की गर्भवती है, अतः पुत्र-प्रसव तक वह सती नहीं हो सकेगी । (१०८) नमकहरामी के परिणामस्वरूप घोर यम-यातना भोगनी पड़ती है । (१२६) शूरवीर अपने घर का द्वार खुला रख कर भी निःशंक सोता है । (१३८)

(ख) वस्तु से अलंकार की ध्वनि

टोटै सरकां भीतड़ा, घाते ऊपर घास ।
वारीजै भड़ झूंपड़ाँ, अधपतियाँ आवास ॥१८७॥

अर्थात् दरिद्रता के कारण सरकण्डों की बनी हुई दीवारों पर घास-फूस डाल कर बनाए हुए वीरों के झोंपड़ों पर राजाओं के महल न्यौछावर कर देने चाहिए ।

यहाँ पर व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि है ।

(ग) रस से रस की ध्वनि

निम्नलिखित दोहों में अद्भुत रस से वीर रस ध्वनित हो रहा है:—

बंब सुणायौ बींद नूँ, पैसंतां घर आय ।
चंचल साम्है चालियौ, अंचल बंध छुड़ाय ।।१३३।।
साम्है भालै फूटतौ, पूग उपाड़ै दंत ।
हूँ बलिहारी जेठ री, हाथी हाथ करंत ।।१४२।।

अर्थात् दूल्हे के घर में प्रवेश करते ही उसे युद्ध का नक्कारा सुनाई दिया । फिर क्या था, दुलहिन के अंचल से अपने वस्त्र की गाँठ छुड़ा कर वह अपने अश्व की ओर बढ़ गया । (१३३)

देवरानी अपने उन जेठजी पर बलिहारी होती है जो सामने भाले के वारों से बिंधते हुए भी हाथी के पास पहुंच कर उसके दाँत उखाड़ लेते हैं और उसको हथिया लेते हैं । (१४२)

८. अलंकार–शैली

वीर सतसई के द्वितीय शतक में प्रयुक्त प्रमुख अर्थालंकारों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है ।

उपमा

बाभी तोरण बींद तिम, जोवौ देवर जाय ।। १३४ ।।
मद लेताँ भाखै मती, भोली चाबुक भाँत ।
छकियौ लाखाँ छाँगसी, खाती डाहल खाँत ।। १६२ ।।

उत्प्रेक्षा

दीधा दिस दिस लूंबिया, ऊठे कंत भजाय ।
कुंभकरण रा भाड़िया, जाणै बंदर जाय ।। १८६ ।।
पूगां रा धड़ ऊपरा, पेखे सूतौ पीव ।
छकियौ घावाँ हे सखी, जाणै धण ही जीव ।। १८६ ।।

रूपकातिशयोक्ति

बिण नूंतै घरण पाहुणा, हेली ठलिया आय ।
जाणै पीव परूसणौ, भूखौ हेक न जाय ।। १५० ।।

अन्योक्ति

पूरा आकुल पाठड़ा, भालां पड़तां भार ।
हेकण कवला बाहरी, भाड़ां भाड़ां डार ।। १२५ ।।
सुहड़ा और सिकारसी, मन में या न समाय ।
भाला ऊ गिड़ भांजसी, डाढां प्रलय दिखाय ।। १२६ ।।

परिकराकुर

रुख रुख तीरां-रूकड़ां, मुख-मुख बीरां मौल ।
पूंचाला हेकरण पखै, दल में प्रबल दरौल ।। १२७ ।।

व्यतिरेक

निरदय दीठा आन भड़, कूकावै पर सैन ।
बाहै कंत दयाल व्है, अरियाँ हाय सुणै न ।। १८४ ।।
और चढ़ै गढ़ ऊपरा, नीसरणी बल नीठ ।
अजकौ धव पूगौ उठै, माँकड़ मेल्हे पीठ ।। १८५ ।।

अत्युक्ति

ईस घणा जे आखता, तो लीजै सिर तोड़ ।
धड़ एकण धण रौ धणी, पड़सी बैर बहोड़ ।। १६४ ।।
सुण हेली ढीलै सहज, लेणौ पड़वै लोच ।
कंत सजतां सौ गुणौ, कड़ी वजंतां कोच ।। २०० ।।

अनुमान

ढोल सुणंतां मंगली, मूंछां भूंह चढन्त ।
चँवरी ही पहचाणियौ, कँवरी मरणौ कन्त । १५४ ।।
ग्रीव न मोड़े देखणौ, करणौ सत्रु सिराह ।
परणंतां धण पेखियौ, ओछी ऊमर नाह ।। १५५ ।।
पीहर पूंछै खोलणी, पेई भूखण केर ।
हेड़वियाँ बाभी हँसो, नणँद कनै नालेर ।। १८३ ।।

अधिक

आलस जाणै ऐस में, बपु ढीलै बिकसंत ।
सींधू सुणियाँ सौ गुणी, कवच न मावै कन्त ।। १६८ ।।

बाल-स्वभावोक्ति

सतियां भड़ पूगा सुरग एको रहियौ आय ।
बीजा सौ कुल बाल नूं, भोलौ देर भुलाय ।। १४४ ।।
वरस पाँच बोलाविया, जाण छठै नहँ जेज ।
धण माता, मामैं पिता, भोलावियौ भाणेज ।। १४६ ।।

वीर-स्वभावोक्ति

मिलतां ऊतरिया मरद, साकुर बाँधा सेल ।
मिजमानां जिम मंडिया, खोबांबाजी खेल ।। १४८ ।।
संपेखे बाल्हा सगा, मिल गलबाथां मार ।

पहली बाहण पाहुणां, मंडीजै मनुहार ॥ १४६ ॥
जिम जिम कायर थरहरै, तिम तिम फैलै नूर ।
जिम जिम बगतर ऊबड़ै, तिम तिम फूलै सूर ॥ १५१ ॥
पहली असिवर पाछटै, अरियां लोह बिछोड़ ।
पाछै अजका भूप रा, दल भड़ पूगै दौड़ ॥ १५६ ॥
ऊगै जिम दूणा अमल, लीजै आज अठेल ।
मरजाणी रा खेल में, घरजाणी रा खेल ॥१६०॥
नानाणौ घर जाणतां, छावै ऊ छक छाय ।
आप बसाया झूंपड़ा, बैर खलां चींताय ॥१६६॥
रण पाखै दुमनौ रहै, लाज न नैण समाय ।
पग लंगर पाछा दियण, सो बानैत कहाय ॥१६८॥

९. ध्वन्यर्थ व्यंजन-शैली

ध्वन्यर्थव्यंजन-शैली से तात्पर्य उस शैली से है जिसमें शब्द-ध्वनि से ही अर्थ की प्रतीति होने लगती है । यथा,

बल खांधै जण जण बहै, कस बाँधै करवाल ।
परख भड़ां अर कायरां, त्रहत्रहियां त्रंबाल ॥१६९॥
नाह न छोड़ै बीच ही, दड़ियां जिम दोटाय ।
घर घाते रण हूंसियां, आसी अरर जुड़ाय ॥१७१॥

१०. चित्र-शैली

चित्र-शैली से तात्पर्य यहां उस शैली से है जिसमें किसी दोहे के भाव के आधार पर चित्रकार अच्छा चित्र प्रस्तुत कर सकता है । सतसई में ऐसे अनेक दोहे मिलते हैं किन्तु यहाँ उदाहरणार्थ केवल एक ही दोहा प्रस्तुत किया जा रहा है—

भड़ सो ही पहलां पड़ै, चील्ह बिलग्गा चैंक ।
नैण बचावै नाह रा, आप कलेजो फैंक ॥१६७॥

अर्थात् योद्धा वही है जो युद्ध में अपने स्वामी से पहले घायल होकर गिर पड़ता है और जिस समय स्वामी की आँखों का भक्षण करने के लिए चील्ह उस तरफ झपट रही हो, उस समय अचानक होश में आते ही चौंक कर अपने कलेजे के टुकड़े-टुकड़े काट कर उनकी तरफ फेंक कर अपने स्वामी के नेत्रों की रक्षा करता है ।

११. रंग-शैली

राजस्थानी भाषा में प्रचलित रंग-दूहों के आधार पर उक्त शैली का

नामकरण कर लिया गया है। द्वितीय शतक का एक रंग-दूहा रंग-शैली के निदर्शनार्थ उद्धृत किया जा रहा है—

> रंग अचाही जोगियां, राउत बीरां रंग ।
> इम खोवां ले ले अमल, जीतण पूगा जंग ।।१६१।।

निष्कर्ष

वीर सतसई के द्वितीय शतक में प्रयुक्त शैलियों के उक्त वर्गीकरण द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सतसईकार को संबोधन-पद्धति सबसे अधिक रुचती है। संबोधन-शैली में रचित दोहों की संख्या लगभग ५० है जबकि शेष ५० दोहों में अन्य सब शैलियों का समाहार किया गया है।

द्वितीय शतक में लक्षणा और व्यंजना का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है, उनके प्रयोग में सर्वत्र स्वाभाविकता से काम लिया गया है, कहीं भी कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती। इस वर्गीकरण में मैंने वैणसगाई तथा अन्य शब्दालंकारों को जान-बूझ कर ही छोड़ दिया है।

सतसईकार को वीर-स्वभाव के चित्रण के लिए बहुविध शैलियों का आश्रय लेना पड़ा है और ऐसा करने में उसे प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई है।

वीर सताई (तृतीय शतक) के ८८ दोहों में शैली के विविध रूप

वीर सतसई (तृतीय शतक) के ८८ दोहों में शैली के विविध रूप

वीर सतसई के तृतीय शतक में शैलियों के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं जिनका विश्लेपण और निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

१. संबोधन-शैली

उक्त शैली के द्वारा जब किसी से बातचीत की जाती है तो परस्पर आत्मीयता की वृद्धि में सहायता मिलती है तथा कथ्य भी प्रभावक बन जाता है। संभवत: इसीलिए सबोधन-शैली के दोहे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। तृतीय शतक में उपलब्ध संबोधनात्मक दोहों के निम्नलिखित उप-विभाग किए जा सकते हैं।

(क) सखी का सखी के प्रति संबोधन

सखी के प्रति संबोघनों में वीर के यहाँ आक्रमण करने में मौत की निश्चितता (२०३), पति की रण-तत्परता के कारण पत्नी का केवल एक ही दिन सुहाग-सुख का अनुभव करना (२०८), असंख्य शत्रुओं को मार कर योद्धा का महाशय्या पर सो जाना (२१०), मृत्यु के बाद भी पति की मूंछ की मरोड़ का ज्यों का त्यों बना रहना (२१५), पति की कलाई के अद्वितीय बल की प्रशंसा (२१६), योद्धा द्वारा अनायास ही क्षत्रियों के ३५ कुलों पर विजय प्राप्त कर लेना (२२३), वीर स्वामी द्वारा एक बाण से ही शत्रुओं के झण्डों को उतार फेंकना (२२६), युद्ध के समय पति की अनिवार्य उपस्थिति पर पूर्ण विश्वास (२३२), आडे माले से ही शत्रु-सेना को सीमा से निकाल देना (२३७), युद्ध-व्यापार की त्वरा के कारण पति का आँख में भी न समा पाना (२४१), कन्त

के सामने धनुर्धारियों के हाथों का काँप जाना और स्तब्धता के कारण उनसे बाणों का न छूटना (२५०), सुभटों की गजमोतियों द्वारा पूजार्हता (२५१), पति में ही हाथियों पर प्रहार करने की क्षमता (२५४), गज-मुक्ताओं और हाथी-दाँतों के बाहुल्य के कारण घर की गरीबी पर भी पत्नी का बलिहारी होना (२६२), सुहाग का अल्पकालीन होना (२६५), पति के उड़ने के कौशल पर आश्चर्य (२७१), दिन में कन्त की युद्ध-तत्परता और रात्रि में घावों के कारण प्रलाप करते रहने से पत्नी का एक घड़ी भी सुख से न सो सकना (२७२), भुजाओं में समा जाने वाले स्वामी का युद्ध के समय कवच में भी न समा पाना (२७३), युद्ध के ढोल बजते ही योद्धा द्वारा तकिया बनी हुई अपनी भुजा को खींच लेना और पत्नी का निःश्वास छोड़ कर जग पड़ना (२७४) तथा (२७६) में पुत्र के अब तक जीवित रहने पर माता का आश्चर्यान्वित होना—आदि भावों की अभिव्यक्ति हुई है एक दोहा (२६६) ऐसा भी है जिसके पूर्वार्ध में वैद्य के प्रति संबोधन है और उत्तरार्द्ध में सखी के प्रति—

> वैद रहीजै राजवर, पावै केथ गरीब ।
> हेली दूध धपाड़ियौ, म्हारे नीम तबीब ।।२६६।।

हे वैद्य ! तुम तो राज-घराने में ही रहो, बेचारा गरीब तुम्हें कैसे प्राप्त कर सकता है ? हे सखी ? अपने लिए तो दूध से सींच कर तृप्त किया हुआ नीम का वृक्ष ही वैद्यराज है ।

(ख) भाभी के प्रति संबोधन

देवरानी जेठानी को संबोधित करते हुए कहती है कि हे भावज ! जहाँ शत्रु-सेना के हाथी पर का झण्डा लटक रहा है, वहाँ आपके देवर का ही पराक्रम समझना चाहिए (२०५) ।

इसी प्रकार अन्य संबोधनों में हाथियों के दाँत उखाड़ने वाले देवर का पराक्रम (२१२), हाथियों के सिरों पर हस्त-प्रहार करने वाले देवर पर किए जाने वाले खर्च की सार्थकता (२१६) तथा बाणों की बौछारों के सिन्धु में पवन-वेग से पहुँचने वाले देवर की दर्शनीयता अभिव्यक्त हुई है । (२४९)

(ग) डाकुओं के प्रति संबोधन

वीरांगना डाकुओं को संबोधित करते हुए कहती है कि हे डाकुओ ! मेरे पति बड़े उद्धत हैं । इनके हाथ की खुजली तुम पर प्रहार करने से जरा मिट जाय तो कदाचित् ये मेरे साथ आलिंगन तो कर सकें । (२२६)

इसी प्रकार डाकू के प्रति संबोधन में वीरांगना की उक्ति है कि हे भाई डाकू ! सुन, तू कोई और ही घर देख । यहां तो यदि तू चोर बन कर भी आया

और मेरे पति ने तुझे देख लिया तो तेरी घर वाली कोने में ही बैठ कर रोएगी । (२२७)

अन्य संबोधनों में भी कहा गया है कि वीर के झोंपड़े पर डाका डालने से मौत के सिवाय कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा (२४०), यहाँ मारे उमंग के लूटने के लिए चले आना मौत को निमंत्रण देना है, अतः अपने घर चले जाओ और जन्म भर अपनी प्रियतमा के साथ सुख भोगते हुए प्राणों की खैर मनाओ (२४३) तथा इस घर पर आक्रमण करना तो यमराज को चिढ़ाना है । (२४४)

(घ) कंत के प्रति संबोधन

एक वृद्ध और कायर पति को संबोधित करते हुए कहा गया है कि हे कंत ! तेरे पोतों के भी बेटे हो गए और तेरे प्राणों पर भी काल लुभा रहा है, अतः युद्ध-क्षेत्र से पीठ दिखाने की आदत अब तो छोड़ दे । (२०४)

वीर पत्नी के जीवन में ऐसा अवसर ही नहीं आया जब वह शयनागार में पति की प्रतीक्षा करती । एक युद्ध के बाद ज्यों ही घाव भरने का समय आता, त्यों ही दूसरा युद्ध शुरू हो जाता । इस पर वीर नायिका की मार्मिक उक्ति है—

किण दिन देखूं बाटड़ी, आताँ पड़वै तूझ ।
घाव भरंतां आवगौ, बीत्यौ जोबन मूझ ।।२०७।।

अपने बालम पर न्यौछावर होती हुई पत्नी की निम्नलिखित उक्ति भी उद्धरणीय है :—

उरतल बैरी आहणौ, बिरचै बयण निबाह ।
हौदां ऊपर हंस गो, वारी बालम वाह ।।२२०।।

हे प्रियतम ! आप पर बलिहारी हूँ । हाथी के हौदे पर ही पहुँच कर अपनी छाती के नीचे ले शत्रु का संहार कर आपने प्राणोत्सर्ग किया । धन्य है आपकी वीरता को !

कंत के प्रति अन्य संबोधनों में मदोन्मत्त प्रियतम को कंठालिंगन छोड़ देने के लिए कहना (२३०), मावज के मिस पति को युद्धार्थ प्रेरित करना (२५६), युद्ध की हानियाँ दिखलाते हुए वृद्ध पति को कवच धारण करने की निरर्थकता बतलाना (२८४) तथा (२८७) में वृद्धावस्था तक विजय-लाभ करने वाले तथा युद्ध में प्राण देने वाले वीर पति पर सती का न्यौछावर होना वर्णित है ।

(ङ) माता के प्रति संबोधन

माता के प्रति संबोधन से संबन्धित निम्नलिखित दो दोहे उपलब्ध होते हैं—

कुळ थारौ रण पोढणौ, मोनूं कहती माय ।
प्राणां गाहक पेखियौ, कसियौ बरजै काय ।।२१३।।

अरियाँ जे त्रण आपणा, मुख मुख लीधा माय।
जाण न धव दीधा जिके, लीधा फेर पड़ाय ।।२५६।।

वीर बालक की उक्ति है कि हे माँ ! तू मुझे यह कहा करती थी कि तेरा कुल रण में सोने वाला है; फिर जब प्राणों के ग्राहक शत्रु को मैंने देख लिया है और मैं युद्ध के लिए कटिबद्ध हूँ तो तू मुझे रोकती क्यों है ? (२१३)

हे माता ! अपने शत्रुओं ने मुखों में जो तृण ले लिए थे, पति ने उनको भी ले जाने नहीं दिया, उन तृणों को भी उन्होंने वहीं गिरवा लिया। (२५६)

२५६ वें दोहे में 'माय' संबोधन सखी के प्रति भी हो सकता है। दोहा (२६८) भी माता को संबोधित करके कहा गया है। इसे 'कायर स्वभावोक्ति' के अन्तर्गत रखा गया है।

(च) भोले (सरदार) तथा भोले (सरदारों) के प्रति संबोधन

भोले व्यक्ति तथा भोले व्यक्तियों को संबोधित कर निम्नलिखित दो दोहे कहे गए हैं—

जात पिछाणै जात री, औरां पीड़ न एस।
रे भोला धण रोवसी, सो दुख मूझ विसेस ।।२४७।।
जम री मूंछां ताणवौ, अंग लगावौ आग।
एक न भोला ऊबरौ, जे खीजाणो जाग ।।२४८।।

अर्थात् कोई सजातीय ही सजातीय व्यक्ति की वेदना का अनुभव कर सकता है, औरों को ऐसी पीड़ा नहीं होती। हे भोले ! यदि तू मारा जायगा तो तेरी स्त्री रोएगी, इसी का मुझे विशेष दुःख है। (२४७)

यदि क्रुद्ध होने वाला मेरा पति जग गया तो हे भोले लोगो! तुम एक भी न बचोगे क्योंकि उसको ललकारना तो यमराज की मूंछ खींचना है अथवा अपने आप शरीर में आग लगा लेना है। (२४८)

फुटकर संबोधन

फुटकर संबोधनों से सम्बन्धित निम्नलिखित दोहे उद्धृत किए जा रहे हैं—

नकीब के प्रति

पहर चउत्थै पौढियौ, गिणतौ फौज गरीब।
दोय घड़ी जक जीभ नूं, बैरी आण नकीब ।।२०२।।

चील्ह के प्रति

काय उताली कंकणी, जे मद पीवण जेज।
कंत समप्पै हेकलौ, कटकां ढाहि कलेज ।।२३८।।

रानी के प्रति

पर दल पाड़ै घूमता, नाह जुहारै आय।
राणी इसड़ा रावताँ, हाथाँ नीम बटाय ॥२५२॥

पुत्र-वधू के प्रति

सुण मरियौ सुत एकलौ, सासू प्रभणै धार।
मो जणियौ कायर थियौ, बेटी बलण निवार ॥२७५॥

ठाकुरों के प्रति

किण दिन दीठा ठाकुराँ, काला दरड़ करंत ॥२८२॥

तोप के गोलों के प्रति

गोलाँ किम मांडौ गजर, होताँ फजर हगाम।
नीठ हियाँ आया नजर, जाणौ धजर दुजाम ॥२२८॥

२२८ वें दोहे में तोप के गोलों को संबोधित करके कहा गया है कि हे तोप के गोलो ! क्या तहलका मचा रहे हो ? तुम भी मुश्किल से छाती आगे नज़र आए हो किन्तु अपनी यह शान दो ही पहर की समझना।

निर्जीव गोलों के प्रति संबोधन में जिस मानवीकरण पद्धति का प्रयोग हुआ है, उसके कारण उक्ति में एक प्रकार का वैशिष्ट्य आ गया है। निर्जीव वस्तुओं को संबोधित करने की यह पद्धति हमारे साहित्य की चिराचरित पद्धति है। वाल्मीकि रामायण के लक्ष्मण ने भी ऐन्द्रास्त्र को संबोधित करते हुए निम्नलिखित 'सत्य क्रिया' का आश्रय लिया था—

धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम् ॥ (युद्ध काण्ड, ९०/६९)

ऐन्द्रास्त्र युद्ध के अवसरों पर कभी असफल नहीं हुआ था। वीर सुमित्राकुमार लक्ष्मण ने अपने उत्तम धनुष पर उस श्रेष्ठ बाण को रख कर उसे खींचते हुए अपने अभिप्राय को सिद्ध करने वाली उक्त बात कही थी—"यदि दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ हैं तथा पुरुषार्थ में उनकी समानता करने वाला दूसरा कोई वीर नहीं है तो हे अस्त्र ! तुम इस रावणपुत्र का वध कर डालो।"

२. अलंकार-शैली

अलंकार-शैली से सम्बन्धित निम्नलिखित दोहे यहाँ उल्लेख्य हैं:—

पर्यायोक्त

किण विध पाऊँ आणियौ, बोलंतां जल लाव।
बांट्यौ सास बलोबली, भालां हंदा घाव ॥२०६॥

भालों के घावों के कारण योद्धा का प्राणान्त हो गया, इसी बात को यहाँ दोहे के उत्तरार्ध में घुमा-फिरा कर कहा गया है 'भालों के घावों ने श्वास को चारों ओर से बाँट लिया।' अतः यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है।

व्याज स्तुति

सूरां खोटौ सूरपण, चूड़ा अजब उतार।
हूं बलिहारी कायरां, सदा सुहागण नार।।२१७।।

भ्रान्तिमान्

पूगे हौदै पोढियौ, ओडे घाव अथाह।
कुच भौलै गज कुंभ नूं, नाहर भीड़ै नाह।।२१८।।

चपलातिशयोक्ति

या कुमणैती कंत री, और न पूगै ओज।
चमठी खाली होवतां, नमठी चाली फोज।।२२५।।
पड़ै डहोला छातियां, नजर पड़ंतां नाह।
आवै आवै ऊचरे, ओडौ हेर सिपाह।।२५३।।

व्यतिरेक

और मुवा सुण ओहड़ै, बरसां पाँच बिचाल।
घर में मायड़ घातियौ, बटकै पूंचाँ बाल।।२३३।।
और जहर मुख आवियां, झट भेजै परधाम।
अतरौ अंतर मूझ पै, मारै पड़ियाँ काम।।२७८।।

उदाहरण

तेग बखाणौ कंत री, आडै वाज अछंट।
बेखीजै जिम बाप रै, बेटां दो घर बंट।।२३६।।

काकुवक्रोक्ति

पग पग थटिया पाहुणा, खागां सहणी खांत।
पीव परूसै पांत में, भूलै केम दुभांत।।२४६।।
सुण हाकौ रण आंगणौ, क्यूं न मरै धण ईठ।
मोह भरोसौ दूध रौ, जहर भजाड़े पीठ।।२७७।।

अन्योक्ति

धवल पयंपै रे धणी, की दुमनौ घण भार।
ओडे घर रौ आवगौ, करूं पहाड़ां पार।।२६७।।
मूंछ न तोड़ौ कोट में, कढियां छोडै काल।
कालां घर चेजो करै, मूसा पण मूंछाल।।२८०।।

जिण बन भूल न जावता, गैंद, गवय, गिड़राज।
तिण बन जंबुक ताखड़ा, ऊधम मंडै आज ॥२८५॥
डोहै गिड़ बन बाड़ियां, द्रह ऊंडा गज दीह।
सीहण नेह सकैक तौ, सहल भुलाणौ सीह ॥२८८॥

लोकोक्ति

कायर घर ऊढा कहै, की धव जोड़े काम।
कण कण संचै कीड़ियाँ, जोवै तीतर जाम ॥२८३॥ [1]

वीर स्वभावोक्ति

बाप बसाया बैर जे, लेवै निडर निराट।
बेटा सिर रा गाहकी, बलिया जोवै बाट ॥२१४॥
कहै भतीजौ कूकतौ, सूना लोग हँसाय।
आवौ काका आज दिन, बंट बरोबर थाय ॥२३५॥
भाजड़ भागाँ लूटियाँ, करता कवण सिराह।
ईं घर आयाँ राउताँ, ईं रजपूती वाह ॥२५८॥
मरतां सब खेती मिटै, जीवन्ता जय लाह।
बरसां सोलह बैरियां, नथो बिणासै नाह ॥२८६॥
कंत मचाड़ै नहँ कधी, काचां रै घर कूक।
मुड़ै विरोलै माझियाँ, रोलै सोणित रूक ॥२६०॥

कायर स्वभावोक्ति

भोरा मिलीजै किम जठै, नरां नारियां नास।
यौ ही मायड़ डायजौ, दीजै सूबस बास ॥२६८॥

यहाँ मैंने जानबूझ कर ही वयण सगाई, अनुप्रास तथा यमक आदि अलंकारों पर विचार नहीं किया है। तृतीय शतक में प्रयुक्त अलंकारों में कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखाई पड़ती। संभवतः इसी कारणविरोधमूलक अलंकारों की अपेक्षा साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही यहाँ अधिक हुआ है। जहाँ-जहाँ अलंकारों का प्रयोग हुआ है, वहाँ-वहाँ वे भावोत्कर्ष में सहायक हुए हैं।

---

1. 'कीड़ी संचै तीतर खाय, पापी को धन परलै जाय' एक कहावत है जिसके संबन्ध में निम्नलिखित कथा कही जाती है—

'एक मक्खीचूस था जिसने अपने जीवन काल में कुछ गिन्नियाँ इकट्ठी कर ली थीं। मृत्यु से कुछ दिनों पहले उसने उन गिन्नियों को सुनार से गलवा लया और उसे हलवे में मिला कर खा गया। परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो

३. ध्वन्यर्थ व्यंजन-शैली

ध्वन्यर्थ व्यंजन-शैली का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ शब्द-ध्वनि से ही अर्थ की प्रतीति होने लगती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दो दोहे लीजिए—

तोपां धर दरजां फड़ै, झड़ै गिरां सिर झाट ।
जाणै सागर खीर रै, मंदर रो अरराट ॥२३१॥
आधा आधा ऊचरै, राउत तेथ हरौल ।
पग खरड़ै हलव्रल पड़ै, वोलै गलबल बोल ॥२५७॥

४. सूक्ति-शैली

सूक्ति-शैली से संबद्ध निम्नलिखित दोहे यहाँ उल्लेख्य हैं—

इला न देणी आपणी, हालरियै हुलराय ।
पूत सिखावै पालणै, मरण बड़ाई माय ॥२३४॥
पैलां रै वहकावियां, पड़ै सयाणा डूल ।
डाकण रै घर डावड़ा, भेजै जिकण म भूल ॥२४५॥
काली चूड़ौ की तजै, मँगल् बेल़ा रोय।
राउत जाई डीकरी, सदा सुहागण होय ॥२७०॥

गई। मक्खीचूस के एक भतीजा था जिसे गिन्नियों की जानकारी थी। उसने सारा घर छान मारा किन्तु उसे कानी कोड़ी तक न मिली।

कंजूस के दाह-संस्कार के दूसरे दिन चाण्डाल को राख इधर-उधर करते हुए सोना दिखाई दिया। वह बड़ा खुश हुआ और अमीर बनने के मंसूबे बाँधने लगा। रात को कंजूस के भूत ने उसे आकर धर-दबोचा। चाण्डाल ने दूसरे दिन सारा सोना भतीजे को सौंप दिया। किन्तु रात हुई और भतीजे का भी वही हाल हुआ। कंजूस के भूत ने भतीजे को भी धर दबोचा। भतीजे ने वह सोन गाँव के मुखिया को सौंप दिया लेकिन मुखिया पर भी वही बीती जो चांडाल और भतीजे पर बीती थी। अन्त में निश्चय हुआ कि कंजूस के धन से सारे गाँव को खीर खिलाई जाय। मनों दूध खरीदा गया और खीर तैयार हुई किन्तु ज्योंही कढ़ाई से खीर थालियों में परोसी जाने वाली थी, ऊपर से उड़ती हुई एक चील ने एक मरा हुआ काला साँप कढ़ाई के बीचों-बीच ला गिराया। कंजूस के भूत ने ही चील का रूप धारण कर लिया था। सब लोग बिना खीर खाये ही रहे और जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। किन्तु मक्खीचूस का भूत बड़े जोर से हँसा। आज वह बड़ा प्रसन्न था।' (द्रष्टव्य जीवन साहित्य, मई १९६२, पृ० १८८)

सामान्यतः कहावत का रूप बदला नहीं करता किन्तु 'कण कण संचै कीड़ियाँ, जोवै तीतर जाम' में 'खावै तीतर जाम' के स्थान पर बैण सगाई के निर्वाहार्थ 'जोवै तीतर जाम' कर दिया गया है।

तन दुरंग अर जीव तन, कढणौ मरणौ हेक।
जीव बिणट्ठां जे कढौ, नाम रहीजै नेक ।।२८१।।

५. कार्यव्यापार-शैली

कार्यव्यापार-शैली से तात्पर्य उस शैली से है जहाँ किसी की क्रियाशीलता अथवा कार्यकलापों का वर्णन किया जाता है । यथा,

खागां अंग बखेरियौ, रण रौ भूखौ रूठ ।
बेखे सालौ बींद नूं, पछतावै परपूठ ।।२०१।।
दिन दिन भोलौ दीसतौ, सदा गरीबी सूत ।
काकी कुंजर काटताँ, जाणवियौ जेठूत ।।२११।।
उरसां ढालां ऊघड़ी, खड़ी अचाणक आय ।
कड़ी लियंतां कंत री, बड़ी बड़ी बिकसाय ।।२२१।।
पग पग हैंवर पाड़िया, गैंवर माता गांज ।
रण सेजां धव पौढियौ, भड़ां गरूरी भांज ।।२६१।।

६. वार्ता-शैली

वार्ता-शैली से तात्पर्य उस शैली से है जहाँ वस्तुओं का यथातथ वर्णन किया किया जाता है । उदाहरणार्थ,

महलाँ लूटण धाड़वी, झूंपड़ियाँ न सुहाय ।
झूँपड़ियाँ री लूट में, जीव सीलणौ जाय ।।२४२।।
बीजा गामां बाहरू, नींदाणौ घर नाह ।
ढोलणियां धण तेड़वे, गान मंडाड़ै गाह ।।२६३।।
रण सूता सब गेह रा, बच्चियौ देवर आय ।
बाभी सुणतां बाहरू, लीधा लोह लुकाय ।।२६४।।

७. लाक्षणिक शैली

मुख्यार्थ में जहाँ बाधा उपस्थित होती है, सामान्यतः वहाँ लक्षण से अर्थ बोधगम्य होता है । जैसे,

ओपै बाड़ी अमल री, बैरी रंग बिरंग ।
एको रंग उतारणौ, जेठ न दीठौ जंग ।।२२२।।

यहाँ 'रंग उतारणौ' से तात्पर्य 'शत्रुओं को हतप्रभ कर देने वाले' से है ।

इसी प्रकार 'धारां अजको मो धणी, भलां लगाड़ै देह' (२६९) में तलवार की धाराओं से देह का लगाना अभिधेय अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । अभिधेय अर्थ से योग होते हुए भी यहाँ तात्पर्य मृत्यु के वरण करने से है ।

८. ध्वनि-शैली

तृतीय शतक में प्रयुक्त ध्वनि-शैली के निम्नलिखित तीन भेद किए जा सकते हैं: —

(क) वस्तु से वस्तु की ध्वनि

पैला सुणिया पांच सै, घर में तीर हजार ।
आधा किण सिर ओरसी, ले खिजसी जोधार ॥२२४॥

५०० बाणों से ५०० शत्रु मारे जाएँगे, इससे प्रत्येक बाण की अचूकता ध्वनित होती है ।

आक पलासां झूंपड़ौ, देवै कीध न हंत ।
हियै न तो भी ऊतरै, कीस लुभावै कंत ॥२५५॥

उक्त दोहे में वीर पत्नी का पति के शौर्य पर रीझना व्यंजित है ।

सासू आखै तेड़वी, की मणिहारी आज ।
मूझ भरोसौ दूध रौ, चूड़ां रौ जमराज ॥२७६॥

ध्वनि यह है कि पुत्र युद्ध में विजयी होगा जिसके कारण पुत्र-वधू को न सती होना पड़ेगा, न मनिहारिन को ही बुलाने की आवश्यकता होगी ।

(ख) वस्तु से अलंकार की ध्वनि

करड़ौ कुच नूँ भाखता, पड़वा हँदी चोल ।
अब फूलाँ जिम आंगमै सेलाँ री घमरोल ॥२०६॥

उक्त दोहे में विषम अलंकार की ध्वनि है । तात्पर्य यह है कि कहाँ तो प्राणनाथ इतने कोमल बनते थे कि वे स्तनों को भी कठोर बतलाते थे और कहाँ अब वे शरीर में भालों के प्रहारों को भी पुष्प-वर्षा की तरह बर्दाश्त कर रहे हैं !

उर बूडी अटकावताँ, बाहै काल वसीठ ।
रीझे इसड़ा रावताँ, नाह उवारै नीठ ॥२३६॥

ऐसे शूरवीरों से भी स्वामी की मुठभेड़ होती है जो भाले के बांस का अन्त्य भाग छाती में रोप दिये जाने पर भी शत्रु पर अपने भाले का प्रहार करते हैं। स्वामी भी ऐसे अद्भुत वीरों की वीरता पर मुग्ध हो जाते हैं किन्तु प्राणनाथ से मुठभेड़ होने पर ऐसे शूरवीर भी बच नहीं पाते ।

इस दोहे में व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि है । तात्पर्य यह है कि ऐसे अद्भुत शूरवीरों की अपेक्षा भी प्राणनाथ कहीं अधिक शूरवीर हैं जिनकी शूरवीरता के सामने वे टिक नहीं पाते ।

(ग) रस से रस की ध्वनि

की हेली अचरज कहूँ, कंत धणी रै काज ।
मंच अधूरै मावतौ, आँख न मावै आज ॥२४१॥

उक्त दोहे में अद्भुत रस के द्वारा वीर रस ध्वनित हो रहा है।

निष्कर्ष

तृतीय शतक के ८८ दोहों का शैलीवार विभाजन निम्नलिखित है :—

१.	संबोधन-शैली	——	४७ दोहे
२.	अलंकार-शैली	——	२० दोहे
३.	ध्वन्यर्थ व्यंजन शैली	——	२ दोहे
४.	सूक्ति-शैली	——	४ दोहे
५.	कार्य व्यापार-शैली	——	४ दोहे
६.	वार्ता-शैली	——	३ दोहे
७.	लाक्षणिक शैली	——	२ दोहे
८.	ध्वनि-शैली	——	६ दोहे
			कुल ८८ दोहे

शैलीगत यह विभाजन आत्यंतिक नहीं है। संबोधन-शैली के ही बहुत से दोहे ऐसे हैं जिनमें सुन्दर अलंकारों का प्रयोग हुआ है तथा इसी शैली के कुछ दोहे ऐसे भी हैं जिन्हें वार्ता-शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अन्य शैलियों में भी परस्पर अन्तर्वर्तित्व के दर्शन हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में एक मिश्र शैली को भी मान कर चलना होगा जिसके उदाहरण अनायास ढूँढ़े जा सकते हैं।

यद्यपि उक्त शैलीगत विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं है तथापि इसकी उपयोगिता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। सतसई के समस्त दोहों का एक क्रम तो वह है जो महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है, एक दूसरा क्रम वह हो सकता है जहाँ उपरिनिर्दिष्ट पद्धति द्वारा शैली को लेकर दोहों का विन्यास किया जाय। यदि कोई चाहे तो तीनों शतकों के २८८ दोहे शैलीवार विन्यस्त किए जा सकते हैं। उस हालत में इस बात का भी अनायास पता चल सकेगा कि महाकवि द्वारा कहीं भावों की भी पुनरावृत्ति हुई है अथवा नहीं।

यह कहना आवश्यक है कि रस अभिधेय नहीं होता, व्यंजना के माध्यम से ही वह सहृदयों के लिए आस्वाद्य बनता है। काव्य के द्वारा जो कवि वीर के स्वरूप की प्रतिष्ठा करना चाहता है, वह वीर के विशेषणों के उल्लेख-मात्र से अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल नहीं हो सकता। महाकवि सूर्यमल्ल ने संभवतः इसीलिए वीर रस की प्रतिष्ठा के लिए वर्णनात्मक शैली का आश्रय न लेकर अधिकांश में कथोपकथन, संबोधन आदि नाटकीय साधनों का अवलम्बन किया है जिससे उनकी

अभिव्यक्ति में रमणीयता आ गई है। अपभ्रंश के दोहा–साहित्य में उक्त शैली का प्रयोग स्पष्टतः देखा जा सकता है। उत्तराधिकार में प्राप्त इस शैली से कवि को अबोधपूर्व प्रेरणा मिली हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। डिंगल साहित्य अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य से अनेक रूपों में प्रभावित हुआ है।

ऊपर जो वीरसतसई के २८८ दोहों में प्राप्त शैली के विविध रूपों का अध्ययन किया गया है, वह शैली के बहिरंग के अन्तर्गत ही आएगा। शैली का एक अंतरंग-पक्ष भी होता है, जो उसकी आत्मा कहा जा सकता है। अंतरंग-पक्ष के अध्ययन में उन सभी तत्त्वों का अध्ययन अपेक्षित है जिनके द्वारा कृतिकार के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। अनेक बार किसी कवि द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्द किसी प्रदेश की सांस्कृतिक झलक भी दे जाते हैं जिनका अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त किसी कवि की शैली द्वारा उसकी मान्यताएँ, उसके विश्वास और उसके सांस्कृतिक आदर्श भी उभर कर सामने आ जाते हैं।

इस आंतरिक पक्ष के साथ शैली का एक इतर बाह्य पक्ष और होता है, जिसमें शब्द-चयन, वाक्यों का आयाम, छन्द, अलंकरण आदि का भी विवेचन होता है। वीर सतसई की शैली के समग्र अध्ययन के लिए किसी दूसरे लेख की आवश्यकता होगी। प्रस्तुत लेख तो प्रायः विरासत में प्राप्त शैली के परम्परागत रूपों की ओर ध्यानाकर्षण-हेतु लेखक का एक सामान्य प्रयास-मात्र है।

वीर सतसई में 'कवि-समय' के विविध रूप

'कवि-समय' एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है कवियों का आचार या सिद्धान्त अथवा कवियों की प्रचलित परम्परा। कोयल यद्यपि ग्रीष्म में भी बोलती है तथापि 'कवि-समय' के अनुसार केवल वसन्त में ही उसके कूजन का वर्णन किया जाता है। 'कवि-समय' की परिभाषा देते हुए राजशेखर कहते हैं:—

"अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।" (काव्य मीमांसा, अध्याय १४)

अर्थात् शास्त्र और लोक-व्यवहार से बहिर्भूत केवल परम्परा-प्रचलित जिस अर्थ का कवि-जन उल्लेख करते हैं, वह 'कवि-समय' कहलाता है।

राजशेखर से पहले वामन ने 'काव्य-समय' शब्द का प्रयोग किया था (काव्यालंकारसूत्र : ५/१), किन्तु वामन द्वारा प्रयुक्त 'काव्य-समय' राजशेखर के 'कवि-समय' से भिन्न है। वामन ने उसका प्रयोग व्याकरण, छन्द एवं लिंग के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित कवि-परिपाटी के अर्थ में किया था।

'कवि-समय' शब्द का सबसे पहले प्रयोग राजशेखर ने ही किया था और उन्होंने ही इसे व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप दिया। राजशेखर के ही शब्दों में—

सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धि विबोधितः॥

(काव्य मीमांसा, अ० १६)

अर्थात् यह कवि-समय काव्य में सुप्त की भाँति स्थित था, उसे हमने यथाबुद्धि पुनः जागृत कर दिया है।[1]

---

1. Poetic convention as a technical subject was in its infancy in Bhamaha's time, though its idea had not then crystallised nor was it technically called by that name. Rudrata is very near Rajashekhar when he prescribes approval of an otherwise देशादिदुष्ट poem, if it is upheld by the traditions of master poets. (R.K.L. VIII. 8)

—भूमिका : कवि कल्पलता विवेक, पृ० ५७.

राजशेखर के परवर्ती आचार्यों ने कवि-समयों का जो वर्णन किया है, वह प्रायः राजशेखर के आधार पर। कवि-समय के संबन्ध में राजशेखर के परवर्ती आचार्यों में से निम्नलिखित के नाम उल्लेखनीय हैं:—

हेमचन्द्र (काव्यानुशासनः अध्याय १)
वाग्भट (काव्यानुशासनः अध्याय १)
अरिसिंह और अमरचन्द्र (काव्य कल्पलता वृत्तिः प्रतान २)
केशवमिश्र (अलंकार शेखरः मरीचि १५)
केशवदास (कवि प्रियाः चौथा प्रभाव)
जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' (काव्य प्रभाकरः मयूख ११)
अजितसेन (अलंकार चिन्तामणिः १ ६८-८०)
देवेश्वर (कवि कल्पलता)

शास्त्र और लोक, दोनों से बाह्य होने पर भी कवि-समय की गणना दोष में नहीं की जाती जैसा कि राज शेखर ने लिखा है:—

"प्राचीन विद्वान् सहस्रों शाखाओं वाले वेदों का अंगों सहित अध्ययन करके, शास्त्रों का तत्व ज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरों और द्वीपान्तरों का भ्रमण करके, जिन वस्तुओं को देख-सुन और समझ कर निश्चित कर गए हैं, उन्हें हम दोष नहीं कह सकते।" (काव्य मीमांसा, अ० १४) तात्पर्य यह है कि कविसमयानुमोदित प्रयोग लोक तथा शास्त्र-विरुद्ध होने पर भी सदोष नहीं होते।

राजशेखर ने कवि-समय के निम्नलिखित तीन प्रकार माने हैं:—

१. भौम २. स्वर्ग्य और ३. पातालीय

इन सबमें भौम कवि-समय प्रधान है क्योंकि उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भूमि-विषयक पदार्थों से सम्बन्धित कवि-समय को भौम कवि-समय कहते हैं जो जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया रूप से चार प्रकार का होता है। इनमें से क्रिया रूप भौम कवि-समय का निम्नलिखित उदाहरण महाकवि सूर्यमल्ल रचित वीर सतसई में प्राप्य है :—

धीरपियां सूतौ धणी, कुरलै चकवी काय।
देखीजै मुख दीह रै, सुख दो जाम सिवाय ।।१०६।।

उक्त दोहे में रात्रि के समय चकवे के वियोग में चकवी के चीखने की बात कही गई है। प्रसिद्ध है कि रात्रि के समय चकवा और चकवी वियुक्त हो जाते हैं। "चकवा और चकवी दिन में अपने जोड़े के साथ बैठकर या खड़े रहकर आराम करते हैं। दिन में ये बहुत कम ही विचरण करते हैं। अगर कहीं चले भी तो साथ ही साथ चलते हैं। किन्तु रात में अलग होकर आहार चयन करते हैं। रामायण में

इनके सहचारी होकर विचरण करने का उल्लेख है। रात को शायद आहार-चयनार्थ इनका वियुक्त होना ही इस कवि-प्रसिद्धि का मूल है।"[1]

भारतीय साहित्य में प्राप्त कबन्ध-युद्ध-वर्णन भी क्रिया रूप भौम कवि-समय के ही अन्तर्गत आएगा। महाकवि कालिदास के कुमारसंभव से कबन्ध-युद्ध-वर्णन संबंधी निम्नलिखित श्लोक को लीजिए—

मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा।
खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम्॥(१६।४६)

अर्थात् अर्द्धचन्द्र बाणों से एक दूसरे का सिर काटकर दो रथी स्वर्ग में जा पहुँचे जहाँ से वे अपने उन धड़ों का खेल देखते रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिए युद्ध-भूमि में नृत्य कर रहे थे।

जिस क्रिया रूप भौम कवि-समय के निदर्शनार्थ उक्त श्लोक उद्धृत किया गया है, उसके निम्नलिखित तीन प्रकार राजशेखर ने माने हैं:–(१) असत् क्रिया रूप, यथा चक्रवाक-मिथुन का रात में अलग रहना, चकोरों का चन्द्रिका-पान आदि, (२) सत् क्रिया रूप, यथा दिन में नीलोत्पलों के अविकास तथा शेफालिका के पुष्पों के झड़ने का वर्णन करना और (३) क्रिया नियम, यथा कोयल के कूकने का केवल वसन्त में ही वर्णन, वर्षा में ही मयूरों के कूजन एवं नृत्य का वर्णन आदि।

यद्यपि कबन्ध-युद्ध-वर्णन का कवि-समयों में परिगणन नहीं किया गया है, तथापि मैं यह समझता हूँ, कुमारसंभव से उद्धृत उक्त पद को क्रियागत भौम कवि-समय के उप विभाग 'असत् क्रिया के निबन्धन' का उदाहरण मानना चाहिए जिसका तात्पर्य यह है कि काव्य में कुछ ऐसी क्रियाओं का वर्णन किया जाता है जिनकी सत्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता जैसे वीर सतसई के पूर्वोद्धृत दोहे में चक्रवाक-मिथुन के रात्रि-वियोग का उल्लेख हुआ है।

वीर सतसई के निम्नलिखित दोहों में वर्णित कबन्ध-युद्ध भी भौम कवि-समय के क्रियागत उपभेद 'असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनम्' के ही अन्तर्गत समझना चाहिए:—

रुंड हुवा जीवै जिके, सदा न हेरै साथ।
सीहां रै गल् सांकलै, वै भड़ घालै हाथ॥१०१॥
बिण माथै बाढै दलां, पौढ़ै करज उतार।
तिण सूरां-रो नांव ले, भड़ बाँधै तरवार॥१६५॥

अर्थात् जो कबन्ध-रूप में जीवित रहते हैं और कभी किसी साथी की आशा या उपेक्षा नहीं रखते, वे ही वीर सिंहों के गले में हाथ डालते हैं॥१०१॥

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ. २५२

जो सिर कट जाने के बाद भी सेनाओं को काट डालते हैं और स्वामी के ऋण को चुका कर धराशायी होते हैं, उन शूरवीरों का नाम लेकर वीर लोग तलवार बाँधा करते हैं ।।१६५।।

स्वर्ग्य कवि-समय

स्वर्ग्य कवि-समय से तात्पर्य उन कवि-प्रसिद्धियों से है जिनका संबन्ध स्वर्ग से है। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार स्वर्ग की अप्सराएँ वीर का वरण करने के लिए आतुर रहती हैं। वीर सतसई के निम्नलिखित अप्सरा-विषयक दोहे 'स्वर्ग्य कवि-समय' के निदर्शनार्थ उद्धृत किए जा सकते हैं:—

कुसुम मौड़ केसर बसरा, नेह न देह लसाय ।
भाभो कंत सकैक तो, ल्होड़ी सोक बसाय ।।१०४।।
देराणी कुल ऊपजी, दो ही पख बिरा दाग ।
की भुख ल्होड़ी सौक रौ, थारो लियरा सुहाग ।।१०५।।
कंत कहंता सहगमरा, कीधां रहवौ साथ ।
छोड़ौ अच्छर छेहड़ो, सो धरा झालै हाथ ।।६४।।
काली अच्छर छुक म कर, सूना धव अपराय ।
सूर किसौ परखै सती, वोली सुरग बसाय ।।६५।।

वीर की मृत्यु के बाद वीरांगना शीघ्र ही सती होकर स्वर्ग पहुँचना चाहती है। उसे यह आशंका बनी रहती है कि कहीं कोई अप्सरा स्वर्ग में सूने पति को अपना न ले। राजस्थानी साहित्य में तो 'अपछरा रो आसिक' वीर का एक विशेषण ही बन गया है। यद्यपि 'कवि-समय' के विवेचक आचार्यों ने अप्सरा-विषयक कवि-प्रसिद्धि को 'स्वर्ग्य कवि समय' में परिगणित नहीं किया है तथापि मैं समझता हूँ, ऐसा करने में किसी प्रकार का अनौचित्य संभवतः नहीं होगा। जो वीरतापूर्वक युद्ध कर प्राणों की बाजी लगा देते हैं, वे स्वर्ग में जाकर अप्सराओं के साथ विलास करते हैं, इस लोक--विश्वास की ध्वनि उक्त दोहों में है। राजस्थानी साहित्य में उक्त विश्वास ने एक प्रकार से कवि-प्रसिद्धि अथवा कवि-समय का ही रूप धारण कर लिया है।

पातालीय कवि-समय

पातालीय कवि-समय का सम्बन्ध पाताल में स्थित वस्तुओं से माना गया है। पाताल में रहने वाले नाग और सर्प दोनों भिन्न जाति के हैं, नागराज शेष तथा सर्पराज वासुकि हैं। किन्तु कवि-समय के अनुरोध से कविगण, दोनों का एक ही रूप में वर्णन करते आये हैं।

पातालीय कवि-समय के निदर्शनार्थ निम्नलिखित प्रसंग उल्लेख्य हैं—

नाग द्रमंकां की पड़ै, नागण धर मचकाय ।
इण रा भोगणहार जे, आज भिड़ाणा आय ।।४७।।

उक्त दोहे में शेषनाग के लिए 'नाग' शब्द का प्रयोग हुआ है किंतु वंशभास्कर के निम्नलिखित छन्द में 'व्याल' शब्द काम में लिया गया है—

धमचक्क रचक्कन लग्गि लचक्कन कोल मचक्कन तोल कढ्यो ।
पखुरालन भार खुभी खुरतालन, व्याल कपालन साल वढयो ।।

संकीर्ण कवि-समय

कवि-समय के उक्त तीनों प्रकारों के अतिरिक्त एक प्रकार संकीर्ण कवि समय का है जिसके निम्नलिखित उदाहरण उल्लेख्य हैं—

(क) जिसकी चारपाई पर मृत्यु होती है, वह नरक में जाता है तथा युद्ध में धराशायी होने वाला वीर स्वर्ग प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ—

अठै सुजस प्रभुता उठै, अवसर मरियां आय ।
मरणौ घर रै मांझियां, जम नरकां ले जाय ।।१३०।।

(ख) युद्ध-भूमि में रक्त-पान के लिए कालिका खप्पर हाथ में लिए रहती है—

काली फील कडाह लै, की खप्पर तो हत्थ ।
हेके साथ धपाडही, मो वे दल गज मत्थ ।।४६।।

(ग) कवि-समय के अनुसार माना जाता है कि नरमांस-भक्षिणी योगिनियाँ युद्ध-भूमि में आकर बड़े चाव से खप्पर भर-भर कर रुधिर पान करती हैं। योगिनी-विषयक निम्नलिखित दोहा यहाँ उल्लेख्य है—

जोगण! पहली खाय पल, करे उतावल काय ।
भर खप्पर वाल्है रुधिर, देसी कन्त धपाय ।।

(घ) युद्ध-भूमि में आकर महादेव अपनी मुण्डमाला के लिए शूरवीरों के मुण्डों की तलाश में फिरते रहते हैं।। उदाहरणार्थ—

ईस घणा जे आखता, तो लीजै सिर तोड़ ।
धड़ एकण धण रौ धणी, पड़सी बैर बहोड़ ।।१६४।।

(ङ) ब और व का भेद न मानना। यथा,

वै दिन जो कायर बणौ, पीहर भेजौ पीव ।।१७५।।

(च) ड और ड़ को अभेद मान लेना। यथा,

पैलां रैं बहकावियां, पड़ै सयाणा डूल ।।२४५।।

(ङ) और (च) में दिये गये उदाहरण वैण सगाई को दृष्टि में रख कर दिये गये हैं। वैण सगाई के भेदोपभेदों को लक्ष्य में रख कर यदि विचार किया जाय तो बहुविध उदाहरण सामने आयेंगे।

प्रस्तुत लेख में वीर सतसई में प्राप्त कवि-समय के विविध रूपों पर विचार किया गया है तथा कुछ ऐसे कवि-समयों की भी चर्चा की गई है जिन पर लक्षण-ग्रन्थों में विवेचन उपलब्ध नहीं होता। सम्भवत: इसमें दो मत न होंगे कि परम्परा प्राप्त कवि-समयों के प्रयोग से काव्य में रमणीयता की वृद्धि होती है तथा शास्त्र-बाह्य एवं लोक-बाह्य होते हुए भी कवि-समय सदोष नहीं रह जाते; सरस काव्य की अग्नि में उनकी तथाकथित सदोषता भस्म हो जाती है।

राजस्थानी साहित्य में शौर्य-वृत्ति और उसका मनोवैज्ञानिक आधार

(वीर सतसई के विशेष संदर्भ में)

फ्रायड ने दो महत्त्वपूर्ण वृत्तियाँ मानी हैं जिनमें से एक है जीवन-वृत्ति (Eros) तथा दूसरी है मरण-वृत्ति (Thanatos)। जीवन-वृत्ति का लक्ष्य है जीवन तथा जाति का संरक्षण। यह वृत्ति अहं और कामेच्छा, दोनों के कार्यों का समन्वय है। मरण-वृत्ति एक ध्वंसात्मक वृत्ति है जो अपने को अथवा दूसरों को मिटाने का कार्य करती है। खिलौनों का तोड़ना-फोड़ना, क्रोध में हाथ पैर पटकना, इस वत्ति के लक्षण हैं। नव फ्रायडवाद इस वृत्ति को सहजात अथवा प्राकृतिक नहीं मानता। व्यक्ति ध्वंसात्मक आदत संस्कृति से सीखता है।

जिजीविषा और मुमूर्षा नामक उक्त दो वृत्तियों के प्रसंग में तनाव-सिद्धान्त को भी समझ लेना आवश्यक है। कुर्ट लेविन ने तनाव की धारणा का अन्वेषण किया जिसके अनुसार ध्येय की प्राप्ति पर ही तनाव दूर होता है। मनुष्य का जीवन ही एक प्रकार से तनावों की समष्टि है। जिजीविषा का काम यह है कि वह मनुष्य के तनावों को दूर कर उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करती है किन्तु यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि मुमूर्षा के होते हुए जिजीविषा किस प्रकार अपना काम पूरा करती है। फ्रायड ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए बताया कि मुमूर्षा स्वयं को न मिटा कर जब दूसरों पर आक्रमण करने का रूप धारण करती है तो उसे अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग मिल जाता है। यदि व्यक्ति दूसरों पर आक्रमण न करता तो संभवतः मुमूर्षा की वृत्ति उसे आत्म-हत्या की ओर ले जाती। इसके अतिरिक्त मनुष्य जब पर्वतारोहण अथवा चन्द्रलोक-गमन जैसे साहसिक कार्यों में प्रवृत्त होता है तो भी मुमूर्षा-वृत्ति को निकास का एक मार्ग मिल जाता है जो दूसरों के लिए ध्वंसात्मक न होने के कारण उतना भयावह नहीं होता।

आक्रामक वृत्ति को केवल फ्रायड ने ही मान्यता दी हो, ऐसी बात नहीं है। अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस वृत्ति को स्वीकार किया है। मनुष्य में पाई जाने वाली शौर्य-भावना इसी आक्रामक वृत्ति का समाजानुमोदित रूप है। पर्वतारोहण,

खेल कूद-प्रतियोगिताओं में भाग लेना, चन्द्र लोक में जाना आदि इसी शौर्य-भावना के रूपान्तर हैं और इसमें संभवतः दो मत न होंगे कि शौर्य-भावना की उग्रतम अभिव्यक्ति का रूप है युद्ध। यदि आक्रामक वृत्ति का तीव्रतम रूप युद्ध है तो युद्ध का तीव्रतम रूप वह है जहाँ सिर कट जाने पर भी कबन्ध युद्ध में अपना जौहर दिखाते हैं। राजस्थानी साहित्य से एक उदाहरण लीजिए:—

भड़ विण माथे जीतियो, लीलो घर ल्यायोह।
सिर भूल्यो भोलो घणो, सासू रो जायोह॥

अर्थात् युद्ध करते-करते एक योद्धा का मुण्ड धराशायी हो गया किन्तु फिर भी वह कबन्ध के रूप में लड़ता रहा और उसने सेना का सफाया कर दिया। उसका घोड़ा जब उसे गृह-द्वार पर ले गया तो इस भव्य दृश्य को देख कर उसकी पत्नी के मुँह से निकल पड़ा—मेरी सास का पुत्र भी कितना भोला है, रणांगण में अपना सिर ही भूल आया!

कबन्ध-युद्ध का वर्णन केवल राजस्थानी साहित्य में ही नहीं मिलता, अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के वर्णन प्राप्य हैं। कालिदास के कुमारसंभव से कुछ उदाहरण लीजिए—

खड्गनिर्लूनमूर्धानौ व्यापतन्तोऽपि वाजिनः।
प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन्॥ (१६।२६)
मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा।
खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम्॥ (१६।४६)
रणांगणे शोणितपंकपिच्छिले कथं कथंचिन्ननृतुर्धृतायुधाः।
नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः॥ (१६।५०)

अर्थात् बहुत से ऐसे वीर भी थे कि शत्रु की तलवार से सिर कट जाने पर जब वे अपने घोड़ों से नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपनी तलवार से शत्रु का सिर काट लिया करते थे। (१६।२६)

अर्द्धचन्द्र बाणों से एक दूसरे का सिर काट कर दो रथी स्वर्ग में जा पहुँचे और वहाँ से वे अपने उन धड़ों का खेल देखते रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लये युद्ध-भूमि में नृत्य कर रहे थे। (१६।४६)

उस युद्ध-क्षेत्र में जहाँ-तहाँ नगाड़े बज रहे थे और भूत-प्रेतों की स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। वहाँ रणभूमि में लहू के कीचड़ से इतनी फिसलन हो गई थी कि बाण लिए हुए वीरों के धड़ बड़ी कठिनाई से नाच पा रहे थे। (१६।५०)

वीररसावतार महाकवि सूर्यमल्लमिश्रण की दृष्टि में इस प्रकार के योद्धाओं के पावन नाम का स्मरण भी अन्य योद्धाओं के लिए बड़ा प्रेरणाप्रद है—

बिरण माथै वाढ़ै दलां, पोढ़ै करज उतार।
तिण सूरां रो नांव ले, भड़ बाँधै तरवार ॥१६५॥
(वीर सतसई)

अर्थात् सिर कट जाने के बाद भी जो कबन्ध रूप में युद्ध कर सेनाओं को काट डालते हैं और स्वामी के ऋण को चुका कर धराशायी हो जाते हैं, उन वीरों का नाम लेकर वीर लोग तलवार बाँधा करते हैं। कालिदास द्वारा किए गए कबन्ध-युद्ध-वर्णन से प्रतीत होता है कि कबन्ध-युद्ध एक प्रकार की काव्य-रूढ़ि है जिसका भारतीय कवियों ने सामान्यतः प्रयोग किया है। राजस्थानी साहित्य में अवश्य उक्त काव्य-रूढ़ि के रोमांचक तथा अद्भुत वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

ऊपर जिस शौर्य का उल्लेख हुआ है, उसका शृंगार रस से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वर्ग की अप्सराएं भी शूरवीर का वरण करने के लिए आतुर तथा उत्सुक रहती हैं। प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार जो शूरवीर अद्भुत पराक्रम दिखला कर धराशायी होता है, वह स्वर्ग में जाकर अप्सराओं के साथ विलास करता है।[1] राजस्थानी साहित्य में तो 'अप्सरा रो आसिक' वीर का एक विशेषण ही बन गया है। जहाँ वीर 'अप्सरा रो आसिक' है, वहाँ अप्सरा भी उसका वरण करने के लिए बाट देखती रहती है—

"वरण कज अपछरा बाट जोवै खड़ी।" (हालाँ झालां रा कुण्डलिया १६)

स्वर्ग में एक अप्सरा के लिए झगड़ते हुए दो योद्धाओं का उल्लेख कालिदास ने भी किया है—

अन्योन्यं रथिनौ कौचिद् गतप्राणौ दिवं गतौ।
एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥
(कुमारसंभव १६।४८)

अर्थात् दो रथ-सवार और श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक दूसरे को मार कर जब स्वर्ग में पहुँचे, तब वे दोनों वहाँ एक अप्सरा के लिए आपस में लड़ाई करने लगे।

इससे स्पष्ट है कि कबन्ध-युद्ध की भाँति वीर का स्वर्गगमन तथा अप्सरा-प्रेम भी सामान्यतः भारतीय साहित्य में तथा विशेषतः राजस्थान के वीर साहित्य में काव्य-रूढ़ि और लोक-विश्वास के रूप में चित्रित हुआ है।

ऊपर जिस आक्रामक वृत्ति की चर्चा हुई है, वह केवल वास्तविक युद्ध के रूप में ही प्रकट नहीं होती; वास्तविक युद्ध के अभाव में भी वह अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। किसी बुरे काम की निन्दा करना भी आक्रामक प्रवृत्ति का ही एक रूप माना जा सकता है। उदाहरण के लिए वीर सतसई के निम्नलिखित दोहे लीजिए जिनमें कवि ने कायर की भर्त्सना की है :—

---

१. बारंगां बरैगो चैन लोहड़ां बजाड़। (महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण)

केथ पधारो ठाकुरां, मरदां नैण मिलाय।
फरती-रा लीधा फिरै, धरती-रा धन खाय ।।१०२।।
भोला! की डर भागियो, अंत न पहुड़ै अैण।
बीजो दीठां कुल बहू नीचा करसी नैण ।।११६।।
पूत महा दुख पालियो, वय खोवण थण पाय।
एम न जाणी, आवसी जामण-दूध लजाय ।।११५।।
कंत ! घरे किम आविया, तेगां रो घण त्रास ?
लहँगै मूझ लुकीजियै, वैरी रो न विसास ।।९५।।

उक्त दोहों में कहीं तो कवि ने स्वयं कायर की भर्त्सना की है और कहीं माता तथा पत्नी के द्वारा कायर की भर्त्सना करवाई गई है। यथार्थ जगत में कवि जब किसी पर तलवार तथा भालों आदि के द्वारा आक्रमण नहीं कर सकता, तब वह वाग्बाणों द्वारा युद्ध-पराङ्मुख कायरों की निन्दा करके अपनी आक्रामक वृत्ति को किसी रूप में सन्तुष्ट कर लेता है।

वंशभास्कर के सुप्रसिद्ध रचयिता महाकवि सूर्यमल्ल ने अपने किसी जागीरदार मत्र को लिखे पत्र में निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये थे—

"राजपूतों में जब कभी वीरत्व की भावना देखी या सुनी जाती है, तब मन में आनन्द आ जाने का व्यसन है।...लोभ अनेक तरह के होते हैं, उनमें से राजपूत की रजपूती देखने का भी यह एक लोभ है।"

कोई योद्धा जब रजवट दिखाकर देश अथवा धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है तो समाज उसे सम्मान की दृष्टि से देखता है तथा इतिहास में भी उसका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो जाता है। इस प्रकार का आत्मोत्सर्ग आक्रामक वृत्ति को उच्छृंखलता से हटाकर सांस्कृतिक उन्नयन की ओर लगा देता है।

श्री सूर्यमल्ल जैसा कवि जब स्वयं इस प्रकार का आत्मोत्सर्ग नहीं कर सकता तो वह ओजस्वी वाणी में ऐसे आत्मोत्सर्ग का चित्र अंकित कर देता है जिससे उसकी आक्रामक वृत्ति को निकास का एक ऐसा मार्ग मिल जाता है जो वृत्तियों के उदात्तीकरण का मार्ग है। युद्ध और बलिदान न सही, युद्ध और बलिदानों के भव्य वर्णनों द्वारा भी कवि आत्मोत्सर्ग और शौर्य-भावना की किसी रूप में तुष्टि कर लेता है।

इसीलिए महाकवि सूर्यमल्ल ने जहाँ कायरों की निन्दा की है, वहाँ योद्धाओं के ऐसे भव्य चित्र भी अंकित किए हैं जिनसे कवि की शौर्य-भावना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कुछ दोहे लीजिए—

नहँ पड़ोस कायर नरां, हेलो ! बास सुहाय।
बलिहारी जिण देसड़ै, माथा मोल बिकाय ।।१६७।।
तोरण जातां वाहरू, सुणियो अजकै बींद।
लाखां हण लीधी सखी ! मौटै पड़वै नींद ।।२१०।।

ऊपर जिस मुमूर्षा (Thanatos) का उल्लेख किया गया है, वह फ्रायड के अनुसार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वृत्ति है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य मरने-मारने पर उतारू हो जाता है। यह 'इरोस' अथवा सर्जनावृत्ति के विपरीत है जिसका ध्वंसात्मक प्रभाव मानव के व्यवहार और व्यक्तित्व में लक्षित होता रहता है।

इसी प्रकार तनाव-सिद्धान्त के अनुसार जब तक तनाव दूर नहीं होता, तब तक चैन नहीं मिलता। वीर सतसईकार ने एक ऐसे योद्धा का वर्णन किया है जो तनाव-सिद्धान्त तथा मुमूर्षा, दोनों का युगपत् निदर्शन प्रस्तुत करता है—

खागां अंग बखेरियो, रण रो भूखो रूठ।
वेखे सालो बींद-नूं, पछतावै परपूठ ।।२०१।।

वर विवाहार्थ ससुराल पहुँचा। इधर युद्ध छिड़ गया। वर भी युद्ध का भूखा था किन्तु साले ने उसे युद्ध में जाने से मना कर दिया जिससे वर रूठ गया और पीछे से उसने तलवार के प्रहारों से अपने अंगों को काट कर बिखेर दिया। साला जब युद्ध से लौट कर आया तो पीछे बहुत पछताया कि मैंने उसे युद्ध-भूमि में जाने से क्यों रोका !

इसी प्रकार आक्रामक वृत्ति के निदर्शनार्थ एक दूसरा विलक्षण उदाहरण लीजिए जिसमें रावल पूंजाजी ने काळी तीज के दिन बिजली पर ही कटारी का वार कर दिया था। राजस्थानी कवि के रोमांचक शब्दों में—

"काजळी रमंतां ऊजळी कटारी
बीजळी ऊपरा तुहिज बाहै ।।
लाय धर अंबर री दोय जाणौं लड़ी
खडहडी दोय जाणौ अड़ी खीज।
कहर सरकूंज रावळ जड़ी कटारी
बीज ऊपर पड़ी दूसरी बीज।
बादळै धसी घायल हुई बीज ।।"

बिजली पर जब कटारी चलाई गई तो ऐसा जान पड़ा मानो दो अग्नियाँ लड़ पड़ी हों। बिजली यदि आसमान की आग है तो रावल पूंजाजी की कटारी धरती की आग है। बिजली जब गिरती है तो तुरंत ही आकाश की ओर उठती दिखलाई पड़ती है। यहाँ कवि ने हेतूत्प्रेक्षा की है कि मानो पूंजाजी की कटारी से

घायल होकर बिजली बादल में धँस गई। श्री सूर्यमल्लजी मिश्रण ने वीर सतसई में जो वीर के चित्र खींचे हैं, उनमें कहा गया है कि शूरवीर युद्ध के बिना अन्यमनस्क-सा रहता है, वीर स्वामी का अन्न बिना युद्ध किए वह पचा नहीं पाता तथा उसे युद्ध का तमाशा देखना ही अच्छा लगता है—

१. दमँगल् बिण दुमनौ रहै। (२१)
२. दमँगल् बिण अपचौ दियण, वीर धणी रौ धान। (१०)
३. और तमासां कायरां, वेखै नहँ धव बाण।
घाव हबक्कै भड़ वकै, जिको तमासौ जाण। १७३॥

यह तो हम नहीं कहते कि फ्रायड द्वारा निरूपित मरण-वृत्ति अथवा थेनेटास का अस्तित्व ही नहीं है, तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है कि मुमूर्षा सभी व्यक्तियों में नहीं पाई जाती और न यह कोई जन्मजात मूलभूत वृत्ति ही है। हाँ, जिजीविषा अवश्य ऐसी मूलभूत वृत्ति है जो जन्मजात है और जिसके महत्त्व से किसी भी प्रकार इन्कार नहीं किया जा सकता। जिजीविषा इतनी प्रबल वृत्ति है कि मनुष्य मृत्यु के बाद भी जीवित रहना चाहता है। अपनी मृत्यु के बाद भी कोई शाहजहाँ ताजमहल बना कर अमर हो जाता है और कोई प्रसाद कामायनी जैसा कालजयी महाकाव्य लिख जाता है जिस पर काल का भी वश नहीं चलता।

ताजमहल देख कर किसी यूरोपीय महिला से जब यह पूछा गया कि ताजमहल उसे कैसा लगा तो उसने तुरन्त यही उत्तर दिया था कि यदि कोई मेरी मृत्यु पर ऐसा ही मकबरा बनवा दे तो मैं आज ही मरने के लिए तैयार हूँ। वीर कल्ला के लिए यह प्रसिद्ध है कि उसने अपनी मृत्यु से पहले ही मृत्यु का गीत सुन कर उसी प्रकार का भव्य युद्ध किया था जिस प्रकार के युद्ध का चित्रण गीत में हुआ था।

देश और धर्म की रक्षा के लिए शूरवीर सदा से अपने प्राणों की बाजी लगाते आए हैं किन्तु किसी आदर्श अथवा ध्येय-प्राप्ति हेतु आत्मोत्सर्ग करना उस मरण-वृत्ति के अन्तर्गत नहीं आएगा जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकार का प्राणोत्सर्ग तो यश रूप से अमर रहने अथवा जिजीविषा के ही अन्तर्गत आ सकता है। जो शूरवीर तुच्छ मृत्यु का लोहा नहीं मानता, वही तो जीवित रहने का अधिकारी है। राजस्थान के योद्धाओं ने देश और धर्म की रक्षा के लिए जो अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी, उसके पीछे अवश्य ही कोई प्रेरणामयी प्रबल भाव-धारा रही होगी।

मर्दानगी दिखलाना तथा मृत्यु का आलिंगन करके भी अपने देश को पराधीनता के पाश से मुक्त करना प्रत्येक पुरुष कहे जाने वाले व्यक्ति का परम धर्म है। ऐसा पुरुषार्थ दिखला कर ही कोई व्यक्ति अपने पुरुष नाम को सार्थक कर सकता है।

अंत में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि तलवार, भालों तथा धनुष-बाणों की लड़ाई द्वारा ही शौर्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। युग-परिवर्तन के साथ साथ शौर्य के प्रकारों में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। गांधी-युग में यद्यपि लड़ाई का प्रकार बदल गया था तथापि अहिंसक शूरवीरों द्वारा जो शौर्य दिखलाया गया, उसकी पावन गाथा भारतीय इतिहास के पृष्ठों में अंकित है।

किसी भी बुराई से लड़ कर उस पर विजय प्राप्त करने से मनुष्य के आत्म-सम्मान और गौरव में वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि शौर्य और आत्म-गरिमा तथा आत्म-सम्मान परस्पर संबद्ध हैं। किन्तु इससे भी बढ़ कर यदि यह कहा जाय कि शौर्य और मानवीयता में चोली-दामन का संबन्ध होना चाहिए तो भी कुछ अनुचित न होगा। संत-साहित्य में भी शौर्य का स्तवन हुआ है जिससे इसकी महिमा और भी बढ़ जाती है। शौर्य जहाँ मानवीयता में बाधक हो, वहाँ वह प्रश्नचिह्न के रूप में ही हमारे सामने आएगा। राजस्थानी साहित्य में शौर्य के साथ-साथ प्रतिशोध लेने का भी जो चित्रण किया गया है, वह वांछनीय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए—

"दोयणां हूँत माटीपणो दाखज्यो
उधारो मती राखज्यो आँटो।"

इतना ही नहीं, राजस्थानी साहित्य में कुल-क्रमागत बदला लेने की भावना का भी जिन शब्दों में उल्लेख हुआ है, वह मध्ययुग में जैसी भी रही हो, आज तो उसे त्याज्य ही ठहराना चाहिए। आज के राजनीतिक नेता यदि व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर देश-हित को ठुकराने लगें तो यह सर्वथा अनुचित होगा।

इसलिए युगानुरूप राजस्थानी शौर्य-भावना में भी वांछनीय परिवर्तन होना चाहिए। शौर्य-भावना वस्तुतः बड़ी उदात्त भावना है, वह मानवता और मानवीयता के दिव्य भावों से संपृक्त है तथा मनुष्य को संकीर्णता से ऊपर उठा कर उस दिव्य भव्य लोक में पहुँचा देती है जहाँ किसी उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए मृत्यु को भी 'मरण त्यौहार' के रूप में मनाया जाता है। ऐसे भव्य चित्र राजस्थानी साहित्य में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं और उनसे प्रत्येक युग प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा।

'वीर सतसई' में वीर के विशेषण

डिंगल के गीत और दोहा-साहित्य में वीर के असंख्य विशेषणों का प्रयोग हुआ है जिससे वीर-स्वभाव, वीरता के स्वरूप और मध्ययुगीन राजस्थानी संस्कृति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजस्थानी साहित्य में चित्रित योद्धा मृत्यु का मुकुट सिर पर रख कर [1] काल से बाथ (भुज-पाश) भरता था,[2] गिरते हुए आसमान के वह कन्धा लगा देता था, अपना अंगदी चरण रोपकर प्रभु को भी ललकार कर वह कहता था कि मुझे युद्ध से भगाना तो ईश्वर के भी हाथ नहीं है, वह युद्ध के बाजार में प्राणों का सौदा किया करता था, वह विजय का चलता-फिरता स्तम्भ था, वह गौ-ब्राह्मण का रक्षक तथा दया और लाज का शकट था,[3] वह धारा-तीर्थ में स्नान कर रवि-मण्डल को भेदता हुआ पंचमी गति को प्राप्त करता था और युद्ध में कटा हुआ जिसका मस्तक जगज्जननी पार्वती की भुजा से वेष्टित महादेव के नीले कंठ में सुशोभित होता था।[4]

वीर के उक्त विशेषण मैंने यों ही यदृच्छया चुन लिए हैं जिससे डिंगल साहित्य में वीर के विशेषणों की परम्परा का कुछ दिग्दर्शन कराया जा सके। प्रस्तुत लेख में महाकवि सूर्यमल्ल की वीर सतसई में प्रयुक्त वीर के विशेषणों का आकलन किया जा रहा है—

१. दमँगल बिण दुमनौ रहै। (२१) तथा (१६८) (जो युद्ध के बिना उदास रहता है।)

---

१. मरण रा बाँविया सीस मोड़।

२. भड़ खगां काल् सूं बाथ भरियौ।

३. गऊ विप्र भीड़ी, दया लाज गाडा। (सूर्यमल्ल)

४. नहीं गया माँचै मुआ, रवि-मंडल री राह।
   जूझ मुआ रण में जिका, गति पंचमी गयाह।।

अर्थात् चारपाई पर पड़े हुए घर में ही प्राण देने वाले सूर्य-मण्डल को भेद कर स्वर्ग में नहीं गए हैं किन्तु जो तलवारों से टुकड़े-टुकड़े होकर युद्ध में जूझ गए हैं, वे ही पंचमी गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सके हैं।

२. बींद जमी रा । (२८)

धरती वीरों की वधू होती है जिन्हें वह पति के रूप में वरण किया करती है ।

३. धरती रा धणी । (३०)

'बींद जमी रा' तथा 'धरती रा धणी' उक्त दोनों विशेषण समान आशय को प्रकट करते हैं ।

४. कालो जाण करांड । (३६)

वीर पिटारे में बन्द काले साँप के समान है किन्तु फिर भी यदि उसे कोई छेड़ता है तो वह अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है ।

५—अजको । (५४) तथा (५६)

'अजको' से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसे जक अर्थात् चैन न पड़ता हो ।

६—अनड़ । (५३)

वीर के विशेषण के रूप में 'अनड़' अनम्र का बिगड़ा हुआ रूप जान पड़ता है ।

७—गहली रौ कलस । (५६)

पगली सिर पर घड़ा रख कर चलती है तो कभी भी उसके सिर पर से घड़ा गिर सकता है । ठीक इसी प्रकार वीर का जीवन भी अनिश्चित रहता है ।

८—वलती रौ नालेर । (५६)

चितारोहण करती हुई सती के नारियल का भस्मीभूत होना जैसे सुनिश्चित है, वैसे ही एक योद्धा जब असंख्य वीरों से लोहा लेता है तो उसका भी स्वर्गारोहण अवश्यम्भावी है ।

६—टेकलौ । (५६) और (६६)

यह विशेषण डिंगल साहित्य में बहुधा प्रयुक्त है और इसका तात्पर्य है टेक वाला, आन-बान की रक्षा करने वाला ।

१०—रुण्ड हुवा जीवै जिके । (१०१)

जो सिर कटने पर भी जीते रहते हैं, धड़ ही जिनके युद्ध-क्षेत्र में लड़ा करते हैं ।

११—जोड़ी हंदा घोर जम । (१७७)

अपनी जोड़ी अथवा प्रतिपक्षी के लिए वीर घोर यमराज के समान होता है अथवा शत्रु का वध करके वह पति-पत्नी की जोड़ी को खंडित कर देता ह ।

१२—रोड़ी हंदा राव । (१७७)

शत्रु-सेना को रोके रखने में वीर सिरमौर होता है अथवा युद्ध का बाजा बजने पर उसका उत्साह बहुत बढ़ जाता है ।

१३—धारां में राखै धजर । (१७८)

वीर तलवार की धाराओं में अपनी शान निभाता है ।

१४—बिण माथै बाढै दलां । (१६५)

जो बिना सिर ही सेनाओं को काट डालता है।

१५—पौढै करज उतार ।

स्वामी का जो नमक खाया है, उसके बदले सिर देकर वह कर्ज चुकाता है अथवा अपने बाप-दादों के वैर का प्रतिशोध लेकर वह उऋण होता है ।

१६—लाज न नैण समाय । (१६८)

जिसके नेत्रों में लज्जा नहीं समाती ।

१७—पग लंगर पाछा दियण । (१६८)

युद्ध-क्षेत्र में पीछे न हटने के दृढ़ निश्चय से जो पाँवों में लंगर डालता है अर्थात् कुल-गौरव के लिहाज से वह पीछे नहीं हटता

१८—डूंगर लाज रा । (१४०)

पुत्र और पुत्र-वधू को 'लाज रा डूंगर' कहा गया है । दोनों को 'कुल की लाज रखने वाले पर्वत' कहना बहुत ही उपयुक्त है ।

१९—सींधू सुणियाँ सौ गुणौ कवच न मावै कंत । (१९८)

नायिका का जो पति सिन्धु राग सुनते ही सौ गुना फूल कर कवच में भी नहीं समाता ।

२०—बाप बसाया बैर जे, लेवै निडर निराट । (२१४)

पिता ने जो वैर मोल लिये थे, पुत्र नितान्त निर्भयता से उनका बदला ले रहा है ।

२१—बलतां लीधौ गोद में, तो भी मूंछ मुड़ै न । (२१५)

जिसकी मूँछ की मरोड़ मृत्यु के बाद भी वैसी ही बनी रहती है ।

२२—सखी नथी धव जीवतां, अरियाँ पायौ चैन । (२१५)

जिसके जीवित रहते शत्रुओं को कभी चैन नहीं मिलता ।

२३—रण सेजां धव पौढ़ियौ, भड़ां गरूरी भांज ।

जो शत्रुओं के गर्व को खर्व करके रणशय्या पर सदा के लिए सो जाता है ।

२४—चूड़ां रौ जमराज । (२७९)

वह शत्रुओं की स्त्रियों के चूड़ों के लिए यमराज के समान है ।

निष्कर्ष

ऊपर वीर सतसई से वीर के दो दर्जन विशेषणों का उल्लेख हुआ है जिनमें से कुछ विशेषण तो पदात्मक हैं और कुछ वाक्य अथवा उपवाक्यात्मक । 'गहली रौ कलस,' 'चूड़ां रौ जमराज' आदि पदात्मक विशेषणों के उदाहरण हैं तथा 'बाप बसाया बैर जे, लेवै निडर निराट' वाक्यात्मक विशेषण एवं 'रुण्ड हुवा जीवै जिके' आदि

उपवाक्यात्मक विशेषण के निदर्शन हैं। इन विशेषणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वीर-सतसई में वर्णित वीर युद्धप्रिय, चपल और भयंकर है। वह आन-बान पर मर मिटने वाला तथा अद्वितीय योद्धा है। उसके जीवन का कोई ठिकाना नहीं, वह सदा अपने प्राण हथेली पर लिए रहता है। शत्रु-सेना को रोके रखने में उसका कोई सानी नहीं, वह युद्ध से कभी पैर पीछे नहीं हटाता, शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाता। जब वह तलवारों के धारा-तीर्थ में स्नान करता है तो उसकी शोभा देखते ही बनती है। प्राणान्त होने पर भी उसकी मूँछ की मरोड़ वैसी ही बनी रहती है। प्रतिपक्षी योद्धाओं के गर्व को खर्व करने में वह अप्रतिम है। उसके जीवित रहते, शत्रु कभी चैन की वंशी नहीं बजा सकते। वरा-वधू उसे अपने पति के रूप में वरण कर यह सिद्ध कर देती है कि वसुन्धरा वीरभोग्या होती है। वीर अपने कुल की मर्यादा को कभी नहीं छोड़ता। वह आत्मोत्सर्ग द्वारा स्वामी के नमक का बदला चुकाता है। अपने बाप-दादों के बैर का बदला लेना वह कभी नहीं भूलता। किसी के सामने वह नहीं झुकता, किसी से वह नहीं दबता। रणभूमि में मुण्ड गिर जाने पर भी उसका धड़ युद्ध करता रहता है। सिन्धु-राग सुनते ही वह इतना उल्लसित हो जाता है कि कवच में भी नहीं समाता।

वीर सतसई में जिस शूरवीर का चित्रण हुआ है, उसके स्मरण-मात्र से ही स्फूर्ति और प्रेरणा का संचार होता है। [1]

---

१. वीर-रसावतार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की जयन्ती के अवसर पर जोधपुर विश्वविद्यालय की परिषद् द्वारा आयोजित एक सभा में दिए गए भाषण का कुछ अंश। —लेखक

वीर सतसई में राष्ट्रीयता

हमारे देश के इतिहास में सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संग्राम एक अद्वितीय घटना है। "भारतीय इतिहास में ऐसी कोई अन्य घटना नहीं मिलेगी जिसमें दिल्ली के कुछ पश्चिम से लेकर बिहार तक के इलाके के स्थानीय शासक और हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, ठाकुर, मुगल, पठान, मराठे, आदिवासी, औरतें आदि विभिन्न समूहों के लोग स्वेच्छा से एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध एक होकर लड़े हों। इसमें ही हिन्दुस्तानियों ने हिन्दुस्तानियों के रूप में शासन की चुनौती का सामना करना चाहा था।"

उक्त संग्राम के संबन्ध में दो प्रकार के मत सुनाई पड़ते हैं। पहले मत के अनुसार सन् १८५७ का विप्लव गदर, बगावत अथवा सैनिक विद्रोह मात्र था, उसका कोई राष्ट्रीय आधार न होने से राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। 'डिस्कवरी आफ इन्डिया' नामक अपने ग्रन्थ में पंडित नेहरू ने सन् ५७ ई० के उक्त विप्लव का उल्लेख करते हुए लिखा था :

"यह स्पष्ट है कि उस समय उस राष्ट्रीय भावना का अभाव था जिसने देश को एकता के सूत्र में ग्रथित किया है। आधुनिक ढंग के राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव होना अभी बाकी था। भारत को अभी एक बड़े संकट और विषाद में से गुजरना था जिससे वह सच्ची स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मंत्र को सीख सके। एक खोये हुए उद्देश्य–सामन्तवाद के लिए स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती थी।" +

किन्तु इतना होते हुए भी नेहरूजी ने इसे सैनिक विद्रोह मात्र नहीं माना। उन्हीं के शब्दों में

"It was much more than a military mutiny and it spread rapidly and assumed the character of a popular rebellion and a war of Indian Independence." Discovery of India P. 301.

+ Discovery of India, P. 302.

जो भी हो इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि भारत के इतिहास में प्रथम बार स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अंग्रेजी शासन को चुनौती दी गई। विदेशी शासन को दूर करने के सम्बन्ध में एक चेतना जागृत हुई जिसके महत्त्व का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। सतसईकार के शब्दों में

इकडंकी गिरण एक री, भूले कुल़ साभाव।
सूरां आल़स ऐस में, अकज गमायी आव।।
इण बेला रजपूत वै, राजस गुण रंजाट।
सुमरण लग्गा वीर सब, वीरां रो कुल़ वाट।।

अंग्रेजों का एकच्छत्र आधिपत्य देखकर भारत के शूरवीर अपने कुल के स्वभाव को भूल गए थे, अंग्रेजों की दासता उन्होंने स्वीकार कर ली थी। उन्होंने आलस्य और भोग विलास में जीवन को व्यर्थ ही गंवा दिया था।

किन्तु सन् १८५७ में वे सब वीरता के गुण से रंजित हो गए और वे वीरों के कुल-मार्ग का स्मरण करने लगे। तात्पर्य यह है कि वे पराधीनता के बन्धन को तोड़ने के लिए तैयार हो गए।

कवि द्वारा रचित वीर सतसई के दोहों ने भी इस स्वातंत्र्य-चेतना की जागृति-हेतु उद्दीपन का कार्य किया

नथी रजोगुण ज्याँ नरां, ना पूरो ऊफाण।
वै भी सुणताँ ऊफणौ, पूरा वीर प्रमाण।।

अर्थात् जिन मनुष्यों में वीरत्व का गुण नहीं है और न पूरा जोश है, वे भी सतसई को सुनने पर पूरे वीरों के समान जोश से भर जाएंगे।

और उनका तो कहना ही क्या

जै दोही पख ऊजल़ा, जूझण पूरा जोध।
सुणताँ वै भड़ सौगुणा, वीर प्रकासण बोध।।

जिनके मातृपक्ष और पितृ-पक्ष दोनों उज्ज्वल है तथा जो युद्ध करने में पूरे योद्धा हैं, वे तो इसे सुन कर सौगुना वीरता-प्रकाशन का बोध प्राप्त करेंगे।

वीर सतसई में स्थान-स्थान पर वीर के कुल-मार्ग की महिमा का स्तवन तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति-हेतु मृत्यु का जय-जयकार हुआ है।

आ घर खेती ऊजल़ी, रजपूताँ कुल़ राह
चढणौ धव लाराँ चिता, वढणौ धारां वाह।
अठै सुजस प्रभुता उठै, अवसर मरियाँ आय।
मरणों घर माँझियाँ, जम नरकां ले जाय।।

नारी का पति के पीछे चितारोहण तथा पति का तलवार की धारा से कट जाना, यह राजपूतों के कुल का मार्ग है, यह उनके घर की उजली खेती है।

उचित अवसर पर आत्म-बलिदान से इस लोक में सुयश और परलोक में प्रभुता की प्राप्ति होती है। घर में मरना यम के नरकों में जाना है।

हमारी भूमि पर दूसरे का अधिकार न हो, इस भाव के अनेक दोहे सतसई में उपलब्ध हैं। शिरोमणि दोहा है :

इला न देणी आपणी, हालरिये हुलराय ।
पूत सिखावै पालणै, मरण बड़ाई माय ।।

धरती की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान का पाठ वीर माता अपने पुत्र को पलने में ही सिखला देती है।

पुत्र के उत्सर्ग-हेतु गमन और बहू के सती होने से जो प्रसन्नता होती है, उसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित दोहे में हुई है :

आज घरे सासू कहै, हरख अचानक काय ।
बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय ।।

'वीर सतसई' में राष्ट्रीय भावना कई रूपों में प्रकट हुई है। राष्ट्र की रक्षा अथवा स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जो युद्ध किया जाता है, उसमें पति यदि युद्ध से भाग कर आ जाय अथवा पुत्र कायरता दिखलाए तो वीरप्रसविनी नारी को यह किसी भी तरह सह्य नहीं—

सहणी सबरी हूँ सखी, दो उर उलटी दाह ।
दूध लजाणौ पूत सम, वलय लजाणौ नाह ।।१४।।

दूध को लजाने वाले पुत्र और चूड़े को लज्जित करने वाले प्राणनाथ को वह सहन नहीं कर सकती।

शूरवीरों के नाम का स्मरण और उनके प्रति श्रद्धा भी राष्ट्रीय भावना का ही एक रूप है—

विण माथै बाढै दलां, पौढ़ करज उतार ।
तिण सूरां रौ नाम लै, भड़ बांधै तरवार ।।१६५।।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए स्थान-स्थान पर परोक्ष रूप से वीरों के प्रोत्साहनार्थ संकेत भी उपलब्ध हैं—

सूता घर घर आलसी, वृथा गुमावै बैस ।
खग धारां घोड़ाँ खुराँ, दाबै अजका दैस ।।१७४।।

अर्थात् आलसी लोग घरों में सोये हुए अपनी आयु को व्यर्थ गंवा रहे हैं। उत्साही वीर ही तलवारों की प्रखर धारा के बल से और घोड़ों के खुरों से बहुत से प्रदेश दबाया करते हैं।

वी सतसई में स्थान-स्थान पर कायर की भर्त्सना की गई है। वीर नारी उस देश पर बलिहारी होती है जहाँ सिर मोल बिकते हैं

नहँ पड़ौस कायर नरां, हेली बास सुहाय।
बलिहारी जिण देसडै, माथा मोल बिकाय ।।१६७।।

देश की रक्षा का यदि प्रश्न हो तो तोरण-वन्दनार्थ जाता हुआ दूल्हा भी युद्ध-स्थल पर पहुँच कर अपना प्राणोत्सर्ग कर देता था।

तोरण जाताँ बाहरू, सुणियाँ अजकै बींद।
लाखाँ हण लीधी सखी, मोटै पड़वै नींद ।।२६०।।

देश-रक्षार्थ प्राण दे देने वाला योद्धा मर कर भी अमर हो जाता है।

तन दुरंग अर जीव तन, कढणौ मरणौ हेक।
जीव बिणट्ठां जे कढौ, नाम रहीजै नेक ।।२८१।।

शत्रुओं के सामने किले को छोड़ कर भग जाना तो जीवित मरण के तुल्य है किन्तु इसके विपरीत शत्रुओं से लोहा लेते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देना अमर हो जाना है। उक्त दोहे में तत्कालीन राजपूतों की स्थिति पर भी व्यंग्य है।

सन् १८५७ का संग्राम सफल नहीं हुआ। अतः परोक्ष रूप से कवि को कहना पड़ा—

जिण वन भूल न जावता, गैंद गवय गिड़राज।
तिण वन जंबुक ताखड़ा, ऊधम मंडै आज ।।२८५।।

जिस वन में भूलकर भी गजेन्द्र, गैंडे तथा शूकरराज नहीं आते थे, उसी वन में आज शृगाल भी ऊधम मचा रहे हैं। किसी देश के वीरों की दुर्दशा होने पर यही दयनीय स्थिति हो जाती है।

स्वातंत्र्य-संग्राम की विफलता से कवि की प्रेरणा का स्रोत सूख गया। उसे दुखी हृदय से कहना पड़ा :

डोहै गिड़ बन बाड़ियां, द्रह ऊंडा गज दीह।
सीहण नेह सकैक तो, सहल भुलाणौ सीह ।।२८८।।

शूकर वन और बाड़ियों का विध्वंस कर रहे हैं और गहरे जलाशयों को गजराज गंदला कर रहे हैं। इससे लगता है कि सिंहनी के स्नेह में पड़ कर सिंह शायद सैर-सपाटे करना भी भूल गया।

देश पर फिर पराधीनता के बादल छा गये और संभव है कि प्रेरणा-स्रोत के सूख जाने के कारण वीर सतसई भी अधूरी ही रह गई।

स्टालिन के अनुसार "राष्ट्रीयता से तात्पर्य ऐतिहासिक दृष्टि से निर्मित उस सुदृढ़ जन समुदाय से है जिसका विकास भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन और मानसिक दृष्टिकोण के आधार पर होता है। आर्थिक जीवन और मानसिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति-देश विशेष की संस्कृति में होती है।"

रूस में राष्ट्रीयता की धारणा में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। किन्तु आधुनिक विचार-धारा के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता वह विचार है, वह भावावेश है जो एक विस्तृत जन-समूह को (समस्त मानव जाति को नहीं) एक विशेष राज्य-सूत्र में बाँधती है, एक विशेष संस्कृति तथा एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति की ओर उन्मुख करती है। आधुनिक राजनैतिक सिद्धांतों के व्याख्याताओं के मतानुसार राष्ट्रीयता कौटुम्बिक संबन्ध या जातीयता से ऊपर की वस्तु है।

राष्ट्रीयता की आधुनिक विचारधारा की कसौटी पर वीर सतसई की राष्ट्रीयता भले ही पूर्ण रीति से खरी न उतर तथापि सतसई में, जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, राष्ट्रीय भावना के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं :–

१. शूरवीरों की अकर्मण्यता और विलासिता पर कवि की खिन्नता
२. स्वाधीनता-संग्राम के समय वीरों की कर्त्तव्य-भावना पर उल्लास
३. वीरों के कुल-मार्ग का स्तवन
४. देश-हेतु मृत्यु का जय जयकार अथवा मरण-महोत्सव
५. भूमि-प्रेम
६. सती के गौरव की व्यंजना
७. शूरवीरों का नाम-स्मरण
८. कायर की भर्त्सना
९. स्वातंत्र्य-संग्राम की असफलता पर क्षोभ और सतसई का अधूरा रह जाना।

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम के संबन्ध में यह अवश्य कहा जायगा कि उसमें राजा और नवाबों आदि का तो सहयोग था किन्तु एक बड़े पैमाने पर भारतीय जनता ने उसमें योग दिया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी हिन्दू मुसलमान सभी ने उसमें भाग लिया, इसलिए आधुनिक राष्ट्रीयता की झलक भी उसमें थी ही। किंतु वीर सतसईकार के किसी दोहे में ऐसा प्रत्यक्ष चित्रण नहीं है जिसमें हिन्दू-मुसलमान सभी ने मिलकर एक विदेशी शक्ति के विरुद्ध लोहा लिया हो, परोक्ष संकेत अवश्य ढूँढ़े जा सकते हैं। हाँ, कवि द्वारा लिखे गए पत्रों की बात अलग है।

इला न देणी आपणी: मानव की मूल प्रेरणा

राबर्ट आरड्रे (Robert Ardrey) ने Territorial Imperative नामक अपनी नूतन पुस्तक में यह स्थापना की है कि मनुष्य का मूलभूत रागात्मक सम्बन्ध अन्य किसी भी वस्तु से उतना नहीं है जितना भूमि से है। क्षुधा, काम तथा आत्म-रक्षा, मनुष्य की आधारभूत प्रेरणाएं नहीं हैं। जो प्रेरणा संपूर्ण प्राणिजगत् और मनुष्य पर शासन करती है, वह प्रेरणा है भूमि का स्वामित्व और उसकी रक्षा। मनुष्य वस्तुतः एक भूमि-प्रेमी प्राणी है। जब उसकी भूमि पर कोई अधिकार करना चाहता है तो वह जरा-सी भूमि के लिए अपने प्राणों का भी बलिदान कर देता है।[1]

सन् १८५९ में जब से डार्विन की सुप्रसिद्ध पुस्तक Origin of Species का प्रकाशन हुआ था, तब से हमें यही सिखाया गया कि मनुष्य की प्रेरणा का केन्द्र 'स्व' है, आत्म-रक्षा से महत्तर कोई विशिष्ट लक्ष्य उसके सामने नहीं रहता। किन्तु यह सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि कोई व्यक्ति मात्र आत्म-रक्षा के लिए ही प्रवृत्त रहता तो संसार के असंख्य व्यक्ति देश-रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति क्यों दे देते ? राजस्थान के एक दोहे में तो स्पष्ट ही कहा गया है—

> पुत्ते जाय कवण गुण, अवगुण कवण मुएण।
> जे बप्पी की भूंहड़ी, चांपीजै अवरेण ।।

अर्थात् यदि बाप-दादों की भूमि पर दूसरों का अधिकार हो गया तो पुत्र उत्पन्न होने से लाभ ही क्या हुआ ? और वह मर ही गया तो क्या हानि हो गई ? इस प्रकार की उक्तियों में देश-रक्षा में ही पुत्र-जन्म की सार्थकता मानी गई है।

---

1. Why do we behave as we do ? What most compels us to act-Hunger? Sex? Survival ? Not these, says Robert Ardrey, author of African Genesis. The basic drive is one that governs the animal world—and man as well: the need to possess territory and defend it.

देश की बलिवेदी पर जब पुत्र अपने प्राणों को न्यौछावर कर देता था, तब वीर-प्रसविनी माता को पुत्र-जन्म से भी अधिक हर्ष का अनुभव होता था।

सुत मरियो हित देस रै, हरख्यो बन्धु-समाज।
माँ नहँ हरखी जनम दे, जतरी हरखी आज।।

श्री सूर्यमल्लजी की वीर सतसई में प्रयुक्त 'इळा न देणी आपणी' का आदर्श कहावत की भाँति प्रख्यात हो गया। अपनी भूमि किसी को नहीं देनी चाहिए यह निदेशात्मक अथवा आदेशात्मक वाक्य के रूप में रखा गया है किन्तु राबर्ट आरड्रे के मतानुसार भूमि-स्वामित्व तथा भूमि रक्षा की वृत्ति मनुष्य की सहजवृत्ति है, और मनुष्य की ही क्यों, मनुष्येतर प्राणिजगत् में भी इसके निदर्शन मिलते हैं जिनका आरड्रे ने सविस्तर विवरण उपस्थित किया है।

मनुष्य भूमि-प्रेमी प्राणी है, इस सिद्धान्त के साथ दो अन्य परस्पर विरोधी मानवी प्रेरणाएँ भी सम्पृक्त हैं—१. मनुष्य पड़ौसी की भूमि दबाना भी चाहता है तथा दबाने से बचता भी है। वह भूमि पर अधिकार तब करना चाहता है जब पड़ौसी कमजोर हो। यदि पड़ौसी प्रबल हुआ और आक्रमण करने में खतरा हुआ तो परस्पर सौहार्द और सन्धि की बात होने लगती है। राबर्ट आरड्रे ने इसे निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया है—

A (Amity) = E (enmity) + h (hazard)
अर्थात् सौहार्द = शत्रुता + खतरा।

यह धरती तो नये-नये वर धारण करती है और कभी भी बिना पति के नहीं रहती किन्तु जो वीरों में अग्रणी होता है, वही इसे वरण करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रसंग में 'राव इन्द्रसिंह री झमाल' के निम्नलिखित छन्द उल्लेख्य हैं—

सुर नर दांणव नाग सह, धर वर के धरियाह।
तरवर केरा पात ज्यूं, पाकां पर परियाह।। २२।।
धरा नवल्ला वर धरै, करै नहीं थिर कोय।
सैणप मन धारै सरब, हुतब हवै सो होय।। २३।।
चालागारी नार किणी संग नह चलै।
अकनकंवारी अजे कितां लागी पलै।। २४।।

शत्रुता से तात्पर्य अपनी ही जाति के लोगों में व्याप्त विरोध-भाव से है तथा खतरे का अभिप्राय बाह्य खतरे से है।

'वीरभोग्या वसुन्धरा' की कहावती उक्ति के अनुसार वीर ही पृथ्वी का उपभोग कर सकता है। यदि कायर के पास जमीन हुई तो वीर उसे दबाए बिना नहीं रहेगा। वीर सतसई से कुछ उदाहरण लीजिए—

खाटी कुल़री खोवणा, नेचै घर घर नींद।
रसा कँवारी रावतां, बरती को ही बींद ।। १४१ ।।

यह पृथ्वी तो कुमारिका है जिसका उपभोग विरले ही दूल्हे करते हैं। सच्चे अर्थ में वीर ही भूमिपति अथवा भूमि को वरण करने वाला वर है। राजस्थान की एक प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार भूमि कलह की जननी, कायरों की लड़की तथा वीर भटों की दुलहिन होती है।[1]

एक अन्य दोहे में उन रानियों पर कवि न्यौछावर होता है जो ऐसे पुत्रों को जन्म देती हैं जो पृथ्वी के पति बन जाते हैं—

हूँ बलिहारी राणियां, थाल़ बजाणै दीह।
बींद जमी रा जे जणै, सांकल़ हीटा सीह ।। २८ ।।

धरती के लिए हलचल तथा हो-हल्ला हुए बिना रहता ही नहीं—

धरती रा जेथी धणी, हूंकल़ तेथी होय ।। ३० ।।

वीर राजाओं की तो यह परिपाटी ही है कि वे युद्ध में शत्रुओं को जीत कर पराई पृथ्वी लावें और अपने पैर से बाँध दें अर्थात् दृढ़तापूर्वक उस पर अपना अधिकार जमाए रखें—

राजा आणै पार री, जंग कुबंगां जीत।
राजा पग बाँधै रसा, राजां कुल़ री रीत ।। १५८ ।।

जो वीर होते हैं, वे तलवारों की तीक्ष्ण धारा के बल से और घोड़ों के खुरों से शत्रुओं के देश को दबाए बिना नहीं रहते—

सूता घर-घर आल़सी, वृथा गुमावै बेस।
खग-धारां घोड़ां-खुरां, दाबै अजका देस ।। १७४ ।।

वीर पुरुष की पृथ्वी पर अधिकार करना किसी के वश की बात नहीं —

धणियां पग लूंवी धरा, अबखी ही घर आय ।। ३२ ।।

जो वीर सरदार ढालों की छत और भालों के खम्भों से घोड़ों पर ही घर बना कर पृथ्वी का उपभोग करते हैं, उनसे उस भूमि को छीन कर कौन उस पर अधिकार कर सकता है ?

घोड़ां घर ढालां पटल, भालां थंभ बणाय।
जे ठाकुर भोगै जमीं, और किसौ अपणाय ।। ६० ।।

योद्धा तो दूसरों के घरों पर स्वत्व जमाते ही आए हैं—

---

१. अखन कंवारी नवनवी, नित्त सुहागण नाम।
कलह अमा धी कायरां, वीर भड़ां सुख बाम ।।

भागीज तज भींतड़ा, ओडे जिम तिम अंत ।
किण दिन दीठा ठाकुराँ, काला दरड़ करन्त ।।२८२।।

धरती-प्रेम और युद्ध का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस पर भी दो शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा ।

युद्ध एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य की तीन मूलभूत भावनाओं (तादात्म्य, उत्तेजन तथा सुरक्षा) की तृप्ति होती है । पहली है तादात्म्य । मनुष्य की यह भावना बड़ी प्रबल है । यह भूमि मेरी है और मैं इस भूमि का हूँ, इस प्रकार की तादात्म्य भावना के दर्शन निम्नलिखित पंक्तियों में किये जा सकते हैं—

सुण सुण बोरा धाड़वी, आलय देखौ और ।
घर री खूणै भूरसी, चख मग आताँ चौर ।।२२७।

इस घर पर आक्रमण करने पर हे भाई धाड़वी ! तुम्हारी खैर नहीं ।

निम्नलिखित दोहे में कहा गया है कि इस तिनके के झोंपड़े पर डाका डाला तो मौत के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगेगा—

नहँ बीरा त्रण झूंपड़ै, धाड़ो एथ खटाय ।
थावै दादुर थाप री, काला रै फण काय ।।२४०।।

'झूंपड़ियाँ री लूट में, जीव सीलणौ जाय (२४२)' में भी यही तादात्म्य-भाव दृष्टिगोचर होता है ।
झोंपड़ा ही हुआ तो क्या हुआ, वीर योद्धा ने उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर रखा है । उससे कोई उसे छीन नहीं सकता—

'I am of this place and I partake of its identity, and it is something that you cannot take away from me despite all afflictions which I may suffer, no matter where I go or where I die.'

युद्ध के द्वारा जिस दूसरी मूलभूत भावना की पूर्ति होती है, वह है उत्तेजन । वीर को जितना उत्तेजन युद्ध के द्वारा मिलता है, उतना किसी अन्य वस्तु के द्वारा नहीं ।'रण पाखै दुमनौ रहै' (१६८) दमँगल बिण दुमनौ रहै (२१) आदि अनेक दोहों में उक्त भावना स्पष्ट है ।

वीर को युद्ध का तमाशा ही सर्वाधिक प्रिय लगता है—

और तमासा कायरां, वेखै नहँ धव बाण ।
घाव हबक्कै, भड़ बकै, जिके तमासौ जाण ।।१७३।।

तीसरी मूलभूत भावना है सुरक्षा । जो अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध करता है, वह सुरक्षा की भावना को ही पुष्ट करना चाहता है तथा जिन कारणों से

उस सुरक्षा पर आँच आती हो, उन्हें दूर करना चाहता है। वीर सतसई के निम्नलिखित दोहे उदाहरण के लिए पर्याप्त होंगे—

इकडंकी गिरण एक री, भूले कुल-साभाव।
सूरां आलस ऐस में, अकज गुमाई आव ॥५॥
इण वेळा रजपूत वे, राजस गुण रंजाट।
सुमिरण लग्गा वीर सब, वीरां रौ कुल वाट ॥६॥

'राजपूत' का जो भी अर्थ हो, डिंगल के अनेक कवियों ने 'रजपूत' उसे माना जो रज का रक्षक पावन शूरवीर हो—रजपूत वास्तव में वह है जो रज-रज होकर भी शत्रु को रज जितनी धरती भी नहीं देता—

"रज जेती धर नहँ दिये, रज-रज ह्वै रजपूत।"

राजस गुण वह है जिससे प्रेरित होकर रजपूत रज जितनी भूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। यही 'रजवट' है, यही वीरों का कुल-मार्ग है। रज की रक्षा करते हुए, प्राणों का बलिदान कर देने वाले योद्धा ही अपने देश को स्वतन्त्र रख सकते हैं।

अपने देश की धरती के रज-कण जब शत्रुओं से पादाक्रान्त हों और उस समय भी रजपूत चुपचाप बैठा रहे तो वह अपने नाम को ही कलंकित करता है।

धरती-प्रेम से सम्बन्धित अनेक प्रसंग वीर सतसई में उपलब्ध होते हैं जिन्हें पढ़ कर विश्वास होने लगता है कि मनुष्य वस्तुतः भूमि-प्रेमी प्राणी है।

राबर्ट आरड्रे ने मनुष्य को भूमि-प्रेमी प्राणी कह कर परंपरागत मनुष्य की परिभाषाओं को जो चुनौती दी है, वह जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा नृतत्त्व विज्ञान के क्षेत्र में एक नूतन और मौलिक विचार के रूप में गृहीत हुआ है। किन्तु भारतवर्ष में भूमि-प्रेम-संबन्धी भाव-धारा का परिपोषण पुरा काल से होता आया है। अथर्ववेद में तो ६३ ऋचाओं से सम्पन्न एक बृहद् 'भूमि सूक्त' ही है जिसमें राबर्ट आरड्रे से मिलते-जुलते विचार प्रकट किए गए हैं। आरड्रे के मतानुसार जब किसी देश के निवासी यह देखते हैं कि बाह्य शत्रु का आक्रमण होने वाला है तो वे पारस्परिक वैर-भाव को भूल कर सौहार्दपूर्वक रहने लगते हैं और परस्पर ऐक्य के बन्धन में बँध कर शत्रु से लोहा लेने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। पिछले चीन के आक्रमण के समय हमारे देश में भी उक्त ऐक्य-भाव के दर्शन हुए थे। 'भूमि-सूक्त' में भी स्पष्ट कहा गया है—

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या औषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ (१२-१-२)

अर्थात् हमारी जिस मातृभूमि में (समं) समता और (असंबाधं) ऐक्य या मैत्री भाव है, वह भूमि यश की वृद्धि करे।

इस ऐक्य-भाव के साथ-साथ अतीत से मिलने वाली प्रेरणा का भी स्मरण कराया गया है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ (१२-१-५)

अर्थात् जिस भारत-भूमि में पुराने समय के आर्य लोग अच्छी तरह विक्रम दिखलाते रहे हैं, जिसमें विद्वान् और वीर मनुष्य राक्षसी स्वभाव वाले शत्रुओं को जीतते रहे हैं, वह हमारी माभूमितृ हमें ऐश्वर्य और तेज दे।

भूमि-सूक्त में आगे कहा गया है कि शूरवीर ही चौकसी के साथ भूमि की रक्षा कर सकता है, इसलिए हे मातृभूमि ! तू हमें भी तेजस्वी बना और ऐसा कर कि हममें से कोई भी परस्पर द्वेष न करे।

महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संहारी मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ (१२-१-१८,

'मा नो द्विक्षत कश्चन' अर्थात् हममें परस्पर द्वेष-भाव न हो, इस भाव-धारा की बहुशः आवृत्ति उक्त सूक्त में हुई है।

जिस भूमि पर मनुष्य गाते हैं, नाचते हैं, विशेष प्रेरित वीर लोग अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध करते हैं, जिसमें घोड़ों के हिनहिनाने का शब्द होता है, नगाड़ा बजता है, वह हमारी मातृभूमि शत्रुओं को दूर से भगादे और हमें शत्रु-रहित करदे।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुंदुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ (१२-१-४१)

भूमि-रक्षा के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने और संकट झेलने की जो बात आरङ्डे तथा सतसईकार सूर्यमल्ल ने कही है, वही निम्नलिखित ऋचा में भी अभिव्यक्त हुई है—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् अभीषाडस्मि।
विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ (१२-१-५४)

इतना ही नहीं, हे मातृभूमि ! हम सर्वत्र तेरा जयजयकार करें—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ (१२-१-५६)

अन्त में एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। भूमि-स्वामित्व और भूमि-रक्षा की भावना ही क्या मानव की मूलभूत प्रेरणा है ? जब एल० हैरिमन मैथ्यूज से प्रश्न किया गया कि क्या आप मनुष्य को भूमि-प्रेमी (Territorial) प्राणी

मानते हैं, तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—हाँ, निःसन्देह मैं यही मानता हूँ। आप उन संकेतपट्टों अथवा उन साइनबोर्डों पर दृष्टि डालें जिन पर साफ़ लिखा रहता है, "सीमा का अतिक्रमण करने वालों पर अभियोग लगाया जायगा।"

किन्तु मनुष्य के प्रादेशिक अथवा भूमि-प्रेमी प्राणी (Territorial animal) होने के मत का डार्विन द्वारा समर्थन नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार तो यदि बहुत-से व्यक्ति संगठित होकर परस्पर मैत्री-भाव से रहने लगते हैं तो इसका भी रहस्य यही है कि वे अपेक्षया अधिक शक्तिशाली लोगों से लोहा लेने के लिए ही ऐसा करते हैं।

किन्तु यदि 'योग्यतम के अवशेष' का सिद्धान्त ही सत्य होता तो मनुष्य में दया, सहानुभूति, सेवा, विश्वास आदि मानवोचित गुणों का विकास कैसे संभव हुआ? डार्विन के समर्थकों ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि विकास-सिद्धान्त से मानव-मन किसी प्रकार मुक्ति पा गया है अथवा किसी दैवी अथवा सांस्कृतिक हस्तक्षेप के कारण मानव और मानवेतर प्राणियों में बहुत विभेद उत्पन्न हो गया है। किन्तु इस प्रकार के समाधानों से हमारी तुष्टि नहीं होती। इस संबन्ध में सर आर्थर कीथ की मान्यता है कि प्रकृति में ही सर्वत्र नैतिक नियम लागू है तथा मानवी नैतिकता मनुष्येतर प्राणि जगत् में प्राप्त नैतिकता का उच्चस्तरीय विस्तार-मात्र है।

जो भी हो, राबर्ट आरड्रे की यह उक्ति कि मनुष्य एक भूमि-प्रेमी प्राणी है, विचारोत्तेजन की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती है जिसका समर्थन अथर्ववेद के भूमि-सूक्त और सूर्यमल्ल की वीरसतसई से भी होता है। फिर भी इस विषय में आग्रह की कट्टरता वांछनीय नहीं; विद्वानों द्वारा खुले दिल और उन्मुक्त मस्तिष्क से उक्त प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए।

सूर्यमल्ल मिश्रण और सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संग्राम

सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम से पहले भी भारत में अंग्रेजी शासन की लोक-प्रियता घट रही थी। भारतेन्दु से भी पूर्व कवि राजा बाँकीदास ने अपने 'गीत चेतावणी रो' में हिन्दू और मुसलमान दोनों को लक्ष्य कर उद्बोधन के स्वर में कहा था—

"आयो इंगरेज मुलक रै ऊपर, आहंस लीधा खैंच उरा।
धणियां मरे न दीधी धरती, धणियां ऊभां गयी धरा।।

× × × ×

महि जाता चींचातां महिलां, अै दुय मरण तणां अवसांण।
राखो रे कींहिक रजपूती, मरदां हिन्दू की मूसलमांन।।"

अर्थात् अंग्रेज मुल्क पर चढ़ आया है। प्राणों का बलिदान करके भी वीर धरती की रक्षा करते आये हैं। यहाँ तो भूमिपतियों के रहते भूमि चली गयी! जब धरती जा रही हो और महिलाएं करुण क्रन्दन कर रही हों, तब भी क्या चुप बैठा रहा जा सकता है? ये दोनों अवसर तो मृत्यु से लोहा लेने के अवसर हैं। हे मर्दों! हिन्दू और मुसलमान के भेद-भाव को भुला कर अब कुछ तो रजपूती की लाज रखो।

गदर से लगभग १० वर्ष पूर्व बठोठ के निवासी डूंगजी जवाहरजी ने नसीराबाद की छावनी को दिन दहाड़े लूट लिया था जिसकी साक्षी में निम्नलिखित पंक्तियाँ आज भी सुनने में आती हैं—

हाथ जोड़ कहै अंग्रेज री कामणी।
छावणी लूट मत भंवर लाडा।।

डूंगजी जवारजी विषयक पूरा लोक-गीत प्रकाश में आ चुका है और उसने पवाड़े के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली है।

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि सूर्यमल्लजी द्वारा वीर सतसई के लिखी जाने से पूर्व ही स्वतन्त्रता-संग्राम की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी।

सूर्यमल्लजी ने बड़े उपयुक्त समय पर जागृति का मन्त्र फूँकने के लिए प्रशंसनीय प्रयत्न किया। उन्होंने वीर सतसई के निम्नलिखित दोहे द्वारा युग-परिवर्तन की घोषणा की—

बीकम बरसां बीतियो, गण चौ चंद गुणीस।
बिसहर तिथ गुरु जेठ बदि, समय पलट्टी सीस ।।४।।

अर्थात् विक्रम संवत् का १९१४ वाँ वर्ष बीत जाने पर ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी गुरुवार को समय ने सिर पर पलटा खाया। "समय पलट्टी सीस" द्वारा यहाँ स्पष्ट ही गदरकालीन परिस्थितियों की ओर संकेत है।

दूसरी बात यह है कि पंचमी के लिए 'बिसहरतिथ' का प्रयोग न केवल वैण-सगाई तथा 'अंकानां वामतो गतिः' के निर्वाहार्थ हुआ है, यह प्रयोग साभिप्राय भी माना जा सकता है। उस हालत में ध्वनित यह होगा कि समय रूपी सर्प ने ब्रिटिश शासन रूपी देह को डस कर अपने फन को उलटा कर लिया। साँपिन के लिए यह प्रसिद्ध है कि वह काट कर उलट जाती है। इस लोकविश्वास की अभिव्यक्ति सूरदास की निम्नलिखित पंक्तियों में भी हुई है—

पिया बिनु साँपिनि कारो राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति ।।

'बिसहर' को नाग के अर्थ में मान लेने पर 'बिसहर समय सीस पलट्टी' का उक्त अर्थ सार्थक लगने लगता है। हो सकता है कि इस ध्वन्यर्थ की ओर कवि की दृष्टि न भी रही हो।

इससे आगे वाले दोहे में महाकवि ने राजाओं को संबोधित करते हुए कहा—

तुमने अंग्रेजों के एकच्छत्र आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और तुम अपने कुलक्रमागत स्वभाव को भूल गये। हे शूरवीरो! तुमने व्यर्थ ही आलस्य और भोगविलास में अपने जीवन को गँवा दिया!

इकडंकी गिण एक री, भूले कुल साभाव।
सूरां आलस ऐस में, अकज गुमाई आव ।।५।।

इस समय सभी राजपुत वीरता के गुण से रंजित होकर वीरों के कुल-मार्ग का स्मरण करने लगे—

इण वेला रजपूत वे, राजस गुण रंजाट।
सुमिरण लग्गा बीर सब, बीरां रौ कुल बाट ।।

ऐसे समय में महाकवि ने वीर सतसई का निर्माण प्रारम्भ कर दिया जिसकी महिमा निम्नलिखित दोहों में अंकित है—

सत्तसई दोहामयी, मीसण सूरजमाल।
जंपै भड़खाणी जठै, सुणै कायरां साल।।
नथी रजो गुण ज्यां नरां, वा पूरो न उफांण।
वे भी सुणतां ऊफणै, पूरा वीर प्रमाण।।
जे दो ही पख ऊजला, जूझण पूरा जोध।
सुणतां वे भड़ सौ गुणा, वीर प्रकासण बोध।।

श्री सूर्यमल्लजी की सतसई वीर-भावना की पुष्टि के लिए उद्दीपन का कार्य करती है। 'इला न देणी आपणी', 'रण खेती रजपूत री' आदि सतसई की कई पंक्तियां तो कहावत की भाँति उद्धृत की जाती हैं। मरण-महिमा सिखलाने, सती के गौरव की व्यंजना करने, कायरों की भर्त्सना करने, तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण करने तथा सुदृढ़ आधार पर वीरत्व की प्रतिष्ठा करने की दृष्टि से सतसई का नाम सदा आदर और गौरव से लिया जायगा।

युद्ध जिन कई मोर्चों से लड़ा जाता है, उनमें से एक साहित्यिक मोर्चा भी होता है। किसी ने कहा है कि जो गीत समूचे राष्ट्र की आत्मा में प्राण फूँक देता है,, वह स्वत: एक महान् कार्य का रूप धारण कर लेता है— "The song that stirs a nation's heart is in itself a great deed."

सूर्यमल्लजी की सतसई को पढ़ते समय ऊपर की उक्ति का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में सतसई का क्या योग-दान है, इसका लेखा-जोखा करने में वाद-विवाद हो सकता है किन्तु इसमें संभवत: दो मत न होंगे कि युग-विशेष की रचना होते हुए भी इस कृति ने कालजयी कृतियों में अपना स्थान अक्षुण्ण कर लिया है। परिस्थितियों की भिन्नता के साथ-साथ आत्म-बलिदान और आत्मोत्सर्ग के रूपों में भी निश्चय ही परिवर्तन होगा किन्तु सतसई के अनुशीलन और मनन से सदा ही उदात्त भावनाओं का संचार होता रहेगा।

कहा जाता है कि सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के विफल हो जाने से सतसईकार का भी उत्साह जाता रहा और सतसई अधूरी ही रह गई। सच तो यह है कि सफलता मिलना न मिलना एक बात है तथा किसी पुनीत उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राणपण से प्रयत्न करना दूसरी बात है। जीवन के खेल में हार-जीत तो होती ही है किन्तु हार-जीत की अपेक्षा भी अधिक महत्व है परमार्थता से, जी-जान से तथा कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर खेल खेलने का।

सन् १८५७ का विद्रोह तो असफल हो गया किन्तु क्या वीरसतसई भी असफल सिद्ध हुई ? उत्तर में नि:सन्देह यही कहा जायगा कि वह वीर सतसई जिसके कारण महाकवि वीररसावतार कहलाए सदा के लिए अमर हो गई; वीर सतसई जैसी कृति पर तो काल का भी वश नहीं चलता ।

बड़े-बड़े नरपति और सेनानी कुछ रज-कण छोड़ कर संसार से बिदा हो जाते हैं और सम्राटों के शासन की भी संदिग्ध कहानी मात्र अवशिष्ट रह जाती है। विश्व-विजेता चक्रवर्तियों की तलवारों के भी जंग लग जाता है। किन्तु इस संसार में युग-युगों तक कवि की वाणी अजर-अमर बनी रहती है।

प्रश्न यह है कि युग की बदली हुई परिस्थिति में वह कौनसी वस्तु है जिसके कारण सतसई का महत्त्व बना रहेगा ? सतसई में जिस युद्ध का वर्णन हुआ है, आज उस युद्ध का प्रकार ही बदल गया; सतसई में सती की जिस गरिमा का बखान हुआ है, वह सती-प्रथा ही आज भूतकाल की वस्तु हो गई, सतसई में जिन अप्सराओं का वर्णन हुआ है, चन्द्रलोक के इन यात्रियों ने स्वर्ग और अप्सराओं में हमारे उस मध्ययुगीन विश्वास को ही खंडित कर दिया !

शौर्य-भावना मानव की मूलभूत भावना है। शौर्य प्रदर्शित करने पर उसके अहं की संतुष्टि होती है, उसका तनाव कम हो जाता है, उसके आत्म-सम्मान और गौरव की पुष्टि होती है तथा 'माटीपणौ', मर्दानगी या पौरुष दिखलाने पर वह अपने पुरुष नाम को सार्थक करता है।

मध्ययुगीन शूरवीरों ने चाहे भाले-तलवारों से युद्ध किया हो, चाहे धनुष-बाणों से वे लड़े हों, चाहे गोला-बारूद की लड़ाई उन्होंने लड़ी हो, किसी कवि द्वारा किए हुए उनके वर्णन को पढ़ कर हमारी शौर्य-वृत्ति का परितोष होता है और यदि लड़ने वाले योद्धा हमारे ही प्रदेश के हुए तो तादात्म्य-भाव द्वारा हम और भी उल्लसित हो उठते हैं।

चन्द्रलोक के यात्री हम न भी बनें तो भी चन्द्र-यात्रियों के वर्णन पढ़ कर हमारा उल्लास बढ़ जाता है। पर्वतारोहण हम न भी करें तो भी पर्वतारोहियों के वृत्तान्त हमें प्रमुदित करने में समर्थ होते हैं।

आज युद्ध के प्रकार बदल गए हैं जिनमें संभवत: शरीर-बल की अपेक्षा बौद्धिक बल अधिक अपेक्षित है। मनुष्य की बुद्धि ने ही हाइड्रोजन बम आदि ध्वंसक साधनों का आविष्कार कर मानवता को मृत्यु के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। इसलिए मानव के सामने आज समस्या यह है कि वह इन ध्वंसक उपकरणों का सहारा ले अथवा अपनी आक्रामक वृत्ति की तुष्टि के लिए और उपाय ढूंढ़े ?

जीवन-वृत्ति और मरण-वृत्ति मनुष्य की महत्त्वपूर्ण वृत्तियाँ हैं। अनेक अवसरों पर इन दोनों वृत्तियों में सामंजस्य-स्थापन भी अनिवार्य हो जाता है। आक्रामक-वृत्ति और जिजीविषा में यदि सामंजस्य न हुआ और कभी आणविक युद्ध प्रारम्भ हो गया तो मानवता के विनाश की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

वीर सतसई की वीरप्रसविनी नारी अपने पुत्र को पलने में ही 'मरण की बड़ाई' सिखला देती है। अपनी धरती की रक्षा के लिए यदि कोई अपने प्राणों का बलिदान कर देता है तो उसका यह मरण जीवन से भी महत्त्वपूर्ण है और सच तो यह है कि ऐसा व्यक्ति मर कर भी अमर हो जाता है।

इस प्रकार वीर सतसई का लोक शौर्य का लोक है, आत्म-सम्मान की दुनिया है तथा वह हमारी आँखों के सामने वह भव्य दृश्य उपस्थित करता है जहाँ किसी पावन उद्देश्य-पूर्ति के लिए प्राणों का व्यापार होता है।

मानवता के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि परिस्थितियों के बदल जाने से शौर्य के रूप भी बदल जाते हैं। हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम में गाँधी-युग भी अद्‌भुत शौर्य का युग था किन्तु उस युग में शौर्य अहिंसा और सत्य के माध्यम से प्रकट हुआ। आज हम अंतरिक्ष-युग में निवास कर रहे हैं। अंतरिक्ष-युग का शौर्य अपनी विलक्षणताएँ लिए हुए है। जो भी हो, यह स्वीकार करना होगा कि शौर्य मानव की चिरंतन पिपासा है और उस पिपासा की तुष्टि 'वीर सतसई' द्वारा किसी न किसी रूप में होती रहेगी। शूरवीर सदा आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जायगा और कायर की सदा भर्त्सना की जायगी। सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के अवसर पर रचित 'वीर सतसई' इस महाकवि की महार्घ उपलब्धि है।

सूर्यमल्लजी का व्यक्तित्व कवि, इतिहासवेत्ता तथा विद्वान्-इन तीनों की समष्टि है। जैसा ऊपर कहा गया है, सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम से प्रेरित होकर कवि ने सतसई का निर्माण किया और सतसई ने स्वातंत्र्य, आत्मोत्सर्ग, त्याग तथा बलिदान की भावना जागृत करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

महाकवि सूर्यमल्ल का सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम में दूसरा महत्वपूर्ण योगदान उन पत्रों के रूप में है जो उन्होंने अपने जागीरदार मित्रों को लिखे थे। पौष शुक्ला १ संवत् १९१४ को उन्होंने पीपल्या के ठाकुर फूलसिहजी को जो पत्र लखा था, उसमें निम्नलिखित बातें हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं—

१. समय तो परमेश्वर ने पलटायो छै। 'वीर सतसई' में भी 'समय पलट्टी सीस' का उल्लेख हुआ है।

२. यो शरीर जीं अर्थ लाग्यो आछो लागै ऊं अर्थ आयां तो तृण सों भी तुच्छ गिण्यो जावै छै। अर्थात् जिस निमित्त इस शरीर को अर्पित करना अच्छा लगे, उस अर्थ यदि यह लग जाय तो यह शरीर तृण से भी तुच्छ गिना जाता है। 'सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति' के आदर्श का उल्लेख हुआ है।

३. देश को स्वतंत्र बनाने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना — यही इस शरीर के लिए सबसे बड़ा सन्निमित्त है। 'योगी ज्ञानी अर भक्त यां तीनां बिना अस्यो बड़ो लाभ और कोई भी छै नहीं।' ऐसा बड़ा लाभ योगी, ज्ञानी व भक्त, इन तीनों के अलावा और किसी को प्राप्त नहीं होता और स्वयं योगी, ज्ञानी और भक्त ही ऐसा करदें तो सोने में सुगन्ध हो जाय।

४. युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने वालों को परलोक में स्वर्ग तथा इस लोक में कीर्ति प्राप्त होती है। "आपणैं तो केवल स्वर्गप्राप्ति को अर अठे कीर्ति को यो ही फल छै।" वीर सतसई में भी इसी भाव की प्रतिध्वनि हुई है—

''अठै सुजस प्रभुता उठै, अवसर मरियां आय।
मरणौ घर रै मांझियां, जम नरकां ले जाय।। १३० ।।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है:—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।।

५. ये राजा लोग देशपती जमी का ठाकर छै जे सारा ही हिमालय का गल्या ही नीसर्‌या सो चालीस सों लेर साठ सत्तर बरस तांइ पाछैं पटक्या छै तो भी गुलामी करै छै परन्तु यो म्हारो बचन याद राखोगा कि जै अबकै (अंग्रेज) रह्यो तो ईंको गायो ही पूरो करसी जमी को ठाकर कोई भी न रहसी सब ईसाई हो जासी तीसों दूरन्देसी विचारै तो फायदो कोई कै भी नहीं परन्तु आपणो आछो दिन होय तो विचारै।

अर्थात् ये राजा लोग देशपति जो जमीन के स्वामी हैं, ये सबके सब निकम्मे, कायर और हिमालय के गले ही निकले। इस क्रान्ति ने अंग्रेज को चालीस से लेकर ६०–७० वर्ष तक पीछे डाल दिया है, तो भी ये राजा लोग कायरता दिखा रहे हैं और अंग्रेजों की गुलामी करते हैं परन्तु मेरी यह बात आप याद रखिए कि जो इस बार अंग्रेज रह गया तो वही सर्वशक्तिमान् हो जायगा, पृथ्वी का मालिक कोई भी न रह जायगा, सब ईसाई हो जायंगे—इसलिए यदि दूरदर्शिता से विचार किया जाय तब तो ऐसा करने से लाभ किसी को होगा नहीं पर ऐसा तो तब सोचें न, जब अपना दिन अच्छा हो।

इस प्रकार उक्त पत्र का कथ्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वीर सतसई में महाकवि ने वीरों की प्रशंसा के साथ-साथ जो कायरों की भर्त्सना की है, उसका भी रहस्य यही है कि कायरों के जीवन को वे बड़ी हेय दृष्टि से देखते थे तथा गुलामी स्वीकार कर कायरों का जीवन बिताना उनकी दृष्टि में अदूरदर्शितापूर्ण भी था।

नामली ठिकाने के स्वामी बखतावरसिंह जी के नाम सूर्यमल्लजी ने सं० १९१४ पौष सुदी ११ को जो पत्र लिखा था, उससे उनके व्यक्तित्व और राष्ट्रीय भावनाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा था—

"रजपूतां में रजपूती कठै कठै लाधै सो देख्यां सों तथा सुण्यां सों मन कै आनन्द आजावा को व्यसन छै और कठै ही रजपूती ऊघड़गी तथा वूडी ही दीसैगी तो जसी खुसी बेखुसी हासिल हुवां कढिबो होसी। लोभ अनेक तरे का होइ छै त्यां में ही यो रजपूत की रजपूती देखबा को लोभ छै सो अठी की तरफ ज्यादा असर करै छै अर साथी भी बहुत ही मिल जाता सुणां छा परन्तु हिन्दुस्तान को दिन आछ्यो नहीं तीसों आपस में एकता करै नहीं........" अर्थात् राजपूतों में जब कभी वीरत्व की भावना देखी या सुनी जाती है, तब मन में आनन्द आ जाने का व्यसन है और कहाँ वीरत्व अपना जौहर दिखलाएगा और कहाँ डूबेगा, तदनुसार हर्ष या खेद प्राप्त होने के बाद ही निकलना होगा। लोभ अनेक तरह के होते हैं, उनमें से राजपूत की रजपूती देखने का भी यह एक लोभ है। इस लोभ का मुझ पर अधिक असर है। और सुनते हैं, साथी भी बहुत मिल जायेंगे, परन्तु हिन्दुस्तान का दिन अच्छा नहीं है, इसलिए आपस में एकता नहीं करते।

उक्त पत्र से स्पष्ट है कि 'सुमिरण लग्गा वीर सब, बीरां रौ कुलवाट' आदि के द्वारा कवि ने अपने उल्लास को ही वाणी दी किन्तु जब उसने देखा कि राजपूतों ने अपना जौहर नहीं दिखलाया, वे कायर निकले तथा परस्पर फूट के शिकार हो गये तो उसका काव्योल्लास मंद पड़ गया और उसकी अंतः प्रेरणा का स्रोत सूख गया।

कोटा पहुँचने पर पोलीटिकल एजेण्ट मेजर बर्टन तथा उसके २१ वर्षीय और १६ वर्षीय दो पुत्रों की विद्रोहियों द्वारा जो हत्या कर दी गई थी, उसका वृत्तान्त तो इतिहास-ग्रन्थों में सविस्तर वर्णित है।[1]

श्री सूर्यमल्लजी ने भी कडाणा के ठाकुर पर्वतसिंहजी के नाम सं० १९१५ में जो पत्र लिखा था, उसका निम्म अंश उल्लेख्य है— "पहली कोटा की फौज ने फिरंट होइ अजंट मार्‌यो तीं पर चैत्र के महीने इंगरेज की फौज ने आइ लड़ाई करी चौथे दिन फौज तो कढि गई अर इंगरेज ने कोटो सब तरह लूटि खराब कियो।"

---

1. Eighteen Fifty-seven by Surendra Nath Sen pp. 320-321.

विस्तार-भय से श्री सूर्यमल्लजी के पत्रों से अधिक उद्धरण देना संभव नहीं है। किन्तु यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि इस महाकवि ने अपने जागीरदार मित्रों को जो पत्र लिखे थे, उनसे इस बात का पता चलता है कि कवि की राजनैतिक चेतना अत्यन्त प्रबुद्ध थी। उन्होंने पत्रों में जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे परिस्थिति के सही-सही मूल्यांकन में सहायता मिलती है।

प्रश्न यह है कि सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संग्राम विफल क्यों हुआ? इसका उत्तर देते हुए मौलाना आजाद ने Eighteen Fifty–seven नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा था—

"I am forced to the conclusion that Indian national character had sunk very low. The leaders of the revolt could never agree. They were mutually jealous and continually intrigued against one another. They seemed to have little regard for the effects of such disagreement on the common cause. In fact, these personal jealousies and intrigues were largely responsible for the Indian defeat."

अर्थात् मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ता है कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र बहुत नीचे गिर चुका था। विद्रोह के कर्णधारों में कभी मतैक्य नहीं रहा। वे परस्पर ईर्ष्यालु थे और एक दूसरे के विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र करते रहते थे। उनको इस बात का कोई विचार न था कि इस मत-विभिन्नता का सार्वजनिक हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। वस्तुतः इन वैयक्तिक ईर्ष्याओं और षड्यंत्रों के कारण ही अधिकांश में भारतीयों को पराजय का सामना करना पड़ा।

श्री सूर्यमल्लजी ने जो पत्र लिखे हैं, उनसे भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि विद्रोहियों में परस्पर ऐक्य और संगठन का अभाव था। कवि की बड़ी इच्छा थी कि वह क्षत्रियों को एकता के सूत्र में आबद्ध कर देश को पराधीनता के पाश से मुक्त कर सके। इस दृष्टि से श्री सूर्यमल्लजी के पत्रों का बड़ा महत्त्व है। इतिहास के विद्वानों द्वारा इन ऐतिहासिक महत्त्व के पत्रों का सम्यक् मूल्यांकन होना चाहिए।

देश-हित आत्मोत्सर्ग करने वाले वीरों को प्रोत्साहित करने में महाकवि सूर्यमल्ल को बड़ा आनन्द मिलता था। अतः उन्होंने न केवल वीर सतसई तथा जागीरदारों को लिखे हुए पत्रों के रूप में ही अपना योगदान दिया है, अपितु उन्होंने वीरों को प्रोत्साहित करके भी अपने स्वातंत्र्य-प्रेम का परिचय दिया है।

आउवा के ठाकुर खुसालसिंहजी की प्रशंसा में उन्होंने जो गीत लिखा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

भागे भीच गोरा सिवां परां रा जिहांन भालो,
दावो तेगां झाट दे उतालो दमूं देस ।
तीसूं नींद न आवै, कंपनी लगाड़े ताला,
कालो हिये न मावै अगंजो कुसलेस ।।

स्वतंत्रता-संग्राम के वीर योद्धा ठा० खुसालसिंह के आतंक का अच्छा चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है । इसी प्रकार नरसिंहगढ़ के चैनसिंह के सम्बन्ध में लिखे हुए गीत की ये पंक्तियाँ भी स्मरणीय हैं—

बानां अंग धारण भू जाहरां करेगो बातां,
उधरेगो हाथां दंत वारणा ऊवाड़ ।
उछाहां भरैगो खाग धारंगां खरेगो अंग ।
वारंगां वरेगो चैन लोहड़ा बजाड़ ।

अंत में इस स्वतन्त्रता-संग्राम की एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक एवं वांछनीय है । इस संग्राम में हिन्दुओं और मुसलमानों में जो ऐक्य दिखलाई पड़ा, उसकी शायद अन्य कोई मिसाल नहीं मिलेगी । वीर सतसई में भी कहीं हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य अथवा सांप्रदायिक भावना के दर्शन नहीं होते । इसलिए भी इस कृति का महत्त्व बढ़ गया है ।

निश्चय ही इसमें दो मत न होंगे कि वीररसावतार महाकवि सूर्यमल्ल ने अपनी अनन्य कृति 'वीर सतसई' तथा अपने जागीरदार मित्रों को लिखे हुए पत्रों के रूप में सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण योग दिया है ।

हिन्दी खंड

१. समीक्षात्मक
२. दार्शनिक
३. शैक्षणिक
४. प्रकीर्ण

हिन्दी खंड

१. समीक्षात्मक

२. दार्शनिक

३. शैक्षणिक

४. प्रकीर्ण

ललित कलाओं का तारतम्य और अंतरावलम्बन

ललित कलाओं में सर्वोच्च स्थान किसे दिया जाना चाहिए, यह विषय विवादास्पद है। कुछ समीक्षक संगीत को सर्वोत्कृष्ट मानने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि संगीत के शास्त्रीय पक्ष को यदि थोड़ी देर के लिए दृष्टि में न रखा जाए तो संगीत समझे न जाने पर भी सब मनुष्यों पर अपना प्रभाव डालता है; और मनुष्यों पर ही क्यों, संगीत की मोहिनी शक्ति तो पशु-पक्षियों पर भी अपना चमत्कार दिखलाती है। इसके विपरीत वर्ड्स्वर्थ की रचना Ode to Intimation of Immortality अथवा प्रसाद की कामायनी का कोई अंश सुनाया जाय तो बुद्धिजीवियों की अल्पतम संख्या ही उसे सुनने के लिये एकत्र हो सकती है किन्तु किसी मधुर संगीत को सुनने के लिए बहुत बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे होते देखे गए हैं।

किन्तु इस पर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो उक्त स्थापना को स्वीकार करना कठिन होगा। यह तो सच है कि किसी प्रकार का स्वर–सामंजस्य अथवा मधुर तान सबको प्रभावित करती है किन्तु प्रश्न यह है कि जिसे महान् संगीत की संज्ञा दी जाती है, क्या उसमें भी सार्वभौम आकर्षण दृष्टिगोचर होता है ? मैं समझता हूँ, नहीं।

दूसरी बात यह है कि संगीत-श्रोताओं की अपेक्षा उपन्यास तथा कहानियों को पढ़ने वालों की संख्या कहीं अधिक है। अत: संगीत की व्यापक 'अपील' का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इसके अतिरिक्त लोक-प्रियता और कलात्मकता में अनिवार्य संबंध जोड़ना भी उचित प्रतीत नहीं होता। लोकप्रियता की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों ने अधिक ख्याति प्राप्त की जब कि प्रसादजी का कामायनी जैसा सुप्रसिद्ध महाकाव्य भी लोकप्रिय नहीं हो सका, किन्तु लोकप्रियता के अभाव के कारण कामायनी की कलात्मकता जाती रही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सामान्यत: देखा जाता है कि कलात्मक कृतियां उतनी लोकप्रिय नहीं होती। आधुनिक कवियों की भी बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें सामान्य जनता न पढ़ती है और न जिन्हें समझने की ही उसमें क्षमता है। ऐसी कविताओं को स्वयं कवि ही समझता है। कभी-कभी तो

ऐसा भी होता है कि इस प्रकार की कृतियों को बिना समझे ही कवि के व्यक्तिगत मित्र और प्रशंसक दाद देते देखे गए हैं। इस प्रकार की कला भी एक दूसरे अतिवाद का स्पर्श करती है जिसे वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

किन्तु एक दूसरे की पूरक होते हुए भी, एक ललित कला का दूसरी के क्षेत्र में अनावश्यक अतिक्रमण वांछनीय नहीं है। उदाहरणार्थ गीति काव्य में संगीत की प्रधानता होती है किन्तु यदि उसमें शब्दों का जमघट लग जाए तो उससे गीति तत्त्व को क्षति ही पहुँचेगी। रवि बाबू का कहना था "गीत में शब्दों का उपद्रव जितना कम रहे, उतना ही अच्छा। वाक्य जहाँ समाप्त होता है, वहीं गान शुरू होता है। जहाँ अनिर्वचनीयता की स्थिति है, वहीं गान का प्रभाव है। स्वरों को छोड़ कर उनके वाहनों को सजा रखना ऐसा ही होता है जैसे गणेश को छोड़ उनके चूहे को पकड़ रखना।" गीत में प्रयुक्त शब्द स्वरों के वाहन-मात्र होते हैं और इसलिए शास्त्रीय संगीतकार शब्दों को विशेष महत्व नहीं देता। शब्द उसकी स्वर-साधना में किसी सीमा तक बाधक ही सिद्ध होते हैं। ललित-कलाओं की आपेक्षिक तथा तुलनात्मक महत्ता का विचार करके उत्कृष्टानुत्कृष्ट का निर्धारण उतना उपयोगी नहीं। रवि बाबू की 'ताजमहल' कविता और आगरे के ताजमहल में किसे अपेक्षया उत्कृष्ट कहा जाय? इसी प्रकार संगीत और वास्तुकला में किसे अधिक गौरव प्रदान किया जाय? वास्तुकला की देवी रुष्ट होकर कह सकती है कि यदि संगीत ही सब कुछ है तो संगीत की सहायता से कैथेड्रल, पिरामिड तथा ताजमहल आदि का निर्माण क्यों नहीं कर लिया जाय?

किन्तु यदि ललित-कलाओं में सर्वोत्कृष्ट कला का निर्धारण करना ही हो तो काव्य-कला के संबंध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं:—

१. काव्य-कला अन्य सभी ललित कलाओं से सर्वाधिक मात्रा में सहायता ले सकती है। काव्य सदा से संगीत, चित्र-कला, मूर्ति-कला तथा वास्तु-कला आदि से सौंदर्य के उपकरण जुटाता रहा है।

२. काव्य जैसी गतिशील और चिर-प्रभावक अन्य कोई कला नहीं। राजस्थान में प्रसिद्ध है कि एक बारहठजी किसी कथा-प्रसंग में वर्षा का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने बादलों के गरजने और बिजली गिरने का ऐसा शब्द-चित्र खींचा कि श्रोता-लोग यह समझ कर कि बिजली अभी गिरी, अभी गिरी, कथा-स्थान से बाहर निकल चले!

३. शब्द और अर्थ में जितनी शक्ति है, उतनी दुनिया की किसी वस्तु में नहीं। 'वागेवेदं सर्वं, नह्यशब्दमिवेहास्ति।' दण्डी ने यथार्थ ही कहा था—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

अर्थात् यह त्रिभुवन पूर्णतः अन्धकार से व्याप्त हो जाता यदि शब्द नाम के आलोक ने विश्व को प्रकाशित न किया होता ।

अपनी शब्दार्थमयी महिमा से काव्य द्वारा जो ज्योति विकीर्ण होती है, उसकी कोई तुलना नहीं ।

वैसे भी शब्द-ब्रह्म का जय-जयकार सभी ने किया है ।

४. काव्य की जीवनी-शक्ति सभी कलाओं से अधिक है—

"कुछ रजकण ही छोड़ यहाँ से
चल देते नरपति—सेनानी
सम्राटों के शासन की बस
रह जाती संदिग्ध कहानी
गल जाती हैं विश्वविजेता
चक्रवर्तियों की तलवारें,
युग-युग तक, पर, इस जग में है
अजर-अमर कवि, कवि की वाणी ।।"[1]

(स्व० डा० सुधीन्द्रकृत अनुवाद)

हमारे देश में भी मनीषी, परिभू, स्वयंभू आदि शब्दों द्वारा कवि का स्तवन हुआ है ।

राम का अयोध्या में जो महल कभी रहा होगा, उसके आज अवशेष भी कहाँ ? किन्तु वाल्मीकि अथवा तुलसी ने रामायण के रूप में राम के लिए जिस अयन का निर्माण किया है, वह अजर-अमर रहेगा ।

उक्त निष्कर्षों के आधार पर काव्य-कला की सर्वोत्कृष्टता का अनुमान लगाया जा सकता है ।

---

1. Princes and captains leave a little dust, And Kings a dubious legend of their reign. The swords of Caesars, they are less than rust, The Poet doeth remain.

कलावादी सम्प्रदाय

१९ वीं शती के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में एक ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई जिसका सीधा सम्बन्ध कलावाद से माना जाता है। फ्रांस के ज़ोला आदि इसके पृष्ठपोषक थे। इङ्गलैण्ड में व्हिसलर, स्विनबर्न तथा आस्कर वाइल्ड ने कला में किसी भी प्रकार के नैतिक अनुशासन को स्वीकार नहीं किया। उक्त लेखकों की दृष्टि में कला का कला के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं हो सकता। कलाविषयक यह सिद्धान्त 'कला कला के लिए' कहलाता है। ए०सी० ब्रैडले के शब्दों में "काव्यानुभूति स्वतः अपना साध्य है और इसका अपना आन्तरिक मूल्य है। यह आन्तरिक गुण ही इसका काव्यगत मूल्य है। संस्कृति या धर्म के साधन के रूप में भी काव्य का बाह्य मूल्य हो सकता है, काव्य के द्वारा शिक्षा भी दी जा सकती है, भावावेग का शमन भी इसके द्वारा होता है, किसी सन्निमित्त को अग्रसर करने में भी यह सहायक होता है तथा कवि को इसके द्वारा यश और धन अथवा अन्तःकरण की शान्ति भी प्राप्त होती है। इन कारणों को लेकर भी काव्य का मूल्यांकन भले ही किया जाय किन्तु यह मानना होगा कि काव्य का कोई भी बाह्य गुण उसका आन्तरिक गुण नहीं है और न उसके द्वारा आन्तरिक गुण का निर्धारण ही हो सकता है। यदि काव्य-रचना करते समय कवि, अथवा आस्वादन के समय पाठक, इन बाह्य उद्देश्यों को दृष्टि के सम्मुख रखे तो काव्यगत मूल्य में ह्रास ही होगा; और इसका कारण यह है कि बाह्य उद्देश्य काव्य को उसके वातावरण से विच्छिन्न कर देते हैं, उसका स्वरूप ही बदल डालते हैं। काव्य की प्रकृति किसी का खण्ड बनना नहीं है, न काव्य यथार्थ जगत् की अनुकृति ही है, किन्तु काव्यलोक अपने आप में स्वतन्त्र तथा पूर्ण है। इस लोक को पूर्णतः अधिकृत करने के लिए हमें इसी में प्रवेश करना होगा, इसके नियमों का अनुसरण करना होगा तथा काव्यसर्जना अथवा आस्वादन के समय यथार्थ जगत् के विश्वासों, उद्देश्यों तथा विशेष परिस्थितियों की हमें अवहेलना करनी होगी।"

विभिन्न कलावादी समीक्षकों ने 'कला कला के लिए' सूत्र की बहुविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। एक समीक्षक के मतानुसार कला का प्रारम्भ ही वहाँ

होता है जहाँ उपयोगिता का अन्त हो जाता है।[1] अर्थशास्त्री यह मानकर चलता है कि भोजन, वस्त्र तथा घर—ये तीन मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। इनकी पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को प्रयत्नशील रहना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि देश-विशेष की भौगोलिक परिस्थिति तथा जलवायु की विभिन्नता के कारण कहीं तो कम परिश्रम से ही मनुष्य अपनी इन प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है तथा कहीं उसे एतदर्थ विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी जब मनुष्य के पास शक्ति एवं समय अवशिष्ट रह जाते हैं, तब उसके द्वारा अनेक कलात्मक उद्भावनाएँ होती हैं। पशुओं को प्राय: अपनी शक्तियों का उपयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही करना पड़ता है किन्तु उदर-पूर्ति आदि के पश्चात् मनुष्य अपने समय के अवशिष्टांश को ऐसे कार्यों में लगा सकता है जिनका आनन्द के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं होता। दिन-भर कठिन परिश्रम के बाद यदि कोई आनन्दविभोर होकर बाँसुरी बजाने लगता है तो उसके ऐसा करने में सिवाय मनोरञ्जन के और कोई उद्देश्य नहीं रहता। इस प्रकार का कार्य किसी प्रकार की उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर नहीं किया जाता।

मनुष्य को भला बनना पड़ता है ताकि सामाजिक शृंखला छिन्न-भिन्न न होने पाए किन्तु मनुष्य इस विचारधारा से भी ऊपर उठकर कह सकता है—भलाई भलाई के लिए है, उसका कोई उद्देश्य नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति आजकल उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर की जाती है, जैसे वर्तमान युग में असंख्य युवक आजीविका प्राप्त करने के लिए विद्याध्ययन कर रहे हैं किन्तु पुरा काल में जहाँ 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' का उद्घोष किया गया था, वहाँ ज्ञान-प्राप्ति केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही की जाती थी। इसी प्रकार कला के लिए भी समझना चाहिए। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद उसका तो निर्माण ही स्वान्तःसुखाय होता है। जब हमारे हृदय में प्रेम अथवा दूसरे मनोवेगों का समुद्र उमड़ पड़ता है, तब हम अभिव्यक्ति के आवेश को रोक नहीं सकते—इस प्रकार की अभिव्यक्ति होती है केवल अभिव्यक्ति के लिए।

मनुष्य की कुछ रचनाएँ जो आवश्यकता अथवा उपयोगिता की पूर्ति के लिए की जाती है, सोद्देश्य कही जा सकती हैं; किन्तु जिनमें किसी आवश्यकता-विशेष की पूर्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, उन रचनाओं की कला से भिन्न और कोई संज्ञा हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए, हम अपने रहने के लिए एक कुटी बनाते हैं क्योंकि यदि कुटी न हो तो हम रहें कहाँ? किन्तु जब हम उस कुटी को विविध उपकरणों द्वारा सुन्दर रूप देने का प्रयत्न करते हैं तो इस प्रयत्न के मूल में हमारी कौनसी वृत्ति अन्तर्निहित रहती है? यह निश्चित है कि उपयोगिता से इसका कोई

1. Art begins where utility ends.

प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध नहीं है, वस्तुतः इसके मूल में प्रच्छन्न है हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। अपनी कुटी को सुन्दर बनाने में मनुष्य को आनन्द मिलता है, इसलिए वह उसे सुन्दर रूप देता है, उपयोगिता की दृष्टि से वह ऐसा नहीं करता। कोई वस्तु हमारे लिए उपयोगी तभी तक है, जब तक वह हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति करती है। 'स्वान्तःसुखाय'-सृष्टि में उपयोगिता की ओर लक्ष्य नहीं रहता। मनुष्य है ही सच्चिदानन्द स्वरूप, फिर उससे आनन्द की अभिव्यक्ति क्यों न हो? किन्तु इस प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य को जीवन-संघर्ष की आवश्यकताओं से छुट्टी मिल जाय, अन्यथा नहीं। जिन देशों में मनुष्यों को जीवन-संघर्ष के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, वहाँ इस प्रकार की स्वान्तः सुखमूलक अभिव्यक्ति के अवसर बहुत विरल होते हैं। भारतवर्ष पर प्रकृति देवी की कृपा रहने के कारण पुरा काल के मनीषी ऋषियों द्वारा वेद-उपनिषद आदि का निर्माण हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि आनन्द किसी आवश्यकता की पूर्ति का परिणाम नहीं है, आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है। आनन्द की अभिलाषा का मूल स्वयं आत्मा में ही है। जिस प्रकार जिजीविषा तथा जिज्ञासा की वृत्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार आनन्द की वृत्ति भी।

जीवन-संघर्ष की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के बाद मनुष्य के पास जो शक्ति अवशिष्ट रह जाती है, उसी में सब प्रकार की कला-सृष्टि के उद्गम पाये जाते हैं। रवि बाबू ने अपने 'कला क्या है' शीर्षक निबन्ध में इसको 'अतिरिक्त कोष' के नाम से अभिहित किया है। उनके मतानुसार 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी जो अब तक खूब बदनाम हो चुका है, इसी 'अतिरिक्त कोष' की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है। किन्तु इस सिद्धान्त का लेखकों और कवियों द्वारा बहुधा दुरुपयोग भी हुआ है। बहुत से साहित्यिक यह मान कर चले कि मानव जीवन की नग्नता, दीनता, हीनता, स्वार्थपरता, बुभुक्षा, कामना, आसङ्ग-लिप्सा तथा वासना का याथर्थ रूप में चित्रण करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। इस मान्यता के परिणामस्वरूप 'घासलेटी साहित्य' की सृष्टि हुई। बंगला भाषा में जो इस प्रकार का साहित्य रचा गया, उसे 'कामायन साहित्य' की आख्या प्राप्त हुई।

संस्कृत समीक्षकों ने रस को काव्य की आत्मा बतलाते समय किसी प्रकार की हिचकिचाहट प्रकट नहीं की थी किन्तु उनकी दृष्टि में रस-दशा 'विगलित-वेद्यान्तर' सात्विक अनुभूति से ही संबद्ध थी। अनेक पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा भी कलावाद का विरोध किया गया। टालस्टाय ने 'ह्वाट इज़ आर्ट' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में प्रेषणीयता को कला का आवश्यक गुण माना और कलावादी विचारधारा का खण्डन करते हुये बताया कि धर्म के प्रति अविश्वास ने ही कलावाद को जन्म

दिया। प्रसिद्ध समीक्षक आई० ए० रिचर्ड्स ने भी काव्य की शेष सृष्टि से भिन्न अलौकिक सत्ता स्वीकार नहीं की और न काव्य-जगत के अनुभवों को ही सामान्य अनुभवों से भिन्न माना।

कलावाद के नाम पर जीवन की नग्न कुत्साओं के चित्रण का भी अनेक समीक्षकों द्वारा घोर विरोध किया गया। यथार्थ जगत् के हूबहू चित्रण में साहित्य-कार का वैशिष्ट्य क्या है? वास्तविक जगत् की बुराइयों से ऊब कर अनेक बार मनुष्य किसी आदर्श लोक में विचरण करना चाहता है। इस प्रकार की इच्छा स्वाभाविक है और इसे बिना सोचे समझे 'पलायनवाद' की संज्ञा नहीं दे डालनी चाहिए। जीवन में जो अपूर्णता है, कला की स्वप्नसृष्टि द्वारा अनेक बार उसे पूर्णता का रूप दिया जाता है।

इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि कला को जीवन से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि कला भी अधर में उद्भूत नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर वह चिरस्थायी भी नहीं रह सकती।

हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि कला कदापि यथार्थ की हूबहू अनुकृति नहीं हो सकती। जीवन की विशृङ्खलता, अव्यवस्था, आकस्मिकता और अर्थहीनता को कलाकार इस प्रकार काट-छाँटकर व्यवस्थित और शृङ्खलित ढङ्ग से प्रस्तुत करता है जिससे उसकी कृति सौन्दर्य की दीप्ति से भास्वर हो उठती है। अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने भी कलावाद के प्रतिरोध में अपना स्वर मुखरित किया है—

"यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है,
जो अपूर्ण, कला उसी की पूर्ति है।
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।"

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक जी० के० चेस्टरटन ने भी बड़े निर्भीक भाव से इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए लिखा था—

"किसी भी महान् साहित्यिक कृति के लिए नैतिक धरातल का होना सदैव आवश्यक होता है। 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त बहुत अच्छा सिद्धान्त है, यदि इसका अर्थ यह हो कि उस धरती में और उस पेड़ में (जिसकी जड़ें धरती में हैं) महदन्तर है, किन्तु यह एक बहुत बुरा सिद्धान्त है यदि इसका अर्थ यह हो कि

वह पेड़ हवा में अपनी जड़ें रखकर भी उतनी ही अच्छी तरह से विकसित हो सकता है ।"

जब से मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति का प्रचार-प्रसार हुआ, 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त पर और भी अधिक कुठाराघात हुआ । मार्क्सवादी समीक्षकों ने इस बात पर बल दिया कि कोई भी कला युगीन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती—निश्चय ही कला का सम्बन्ध हमारे जीवन के क्रिया-कलापों से है ।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को उचित रूप में समझने का प्रयत्न करना चाहिए । यह सत्य है कि इस सिद्धान्त को समझने में अनेक भ्रान्तियाँ हुई हैं तथा इसका दुरुपयोग भी बहुत हुआ है । 'कला कला के लिए है', इसका अर्थ यदि यह है कि कला के अपने नियम हैं तथा जैसे क्रोचे ने कहा था, सौन्दर्यशास्त्र तथा आचारशास्त्र दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं तो इस मत को मानने में किसी को आपत्ति न होगी । यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्यशास्त्र और आचारशास्त्र का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी 'कला कला के लिए' का अर्थ यह नहीं है कि कला में नैतिकता नहीं पाई जाती, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कला नैतिकता के प्रचार का माध्यम भी नहीं है । कलावादी समीक्षक स्पिगर्न ने तो यहाँ तक कहा था कि विशुद्ध काव्य में 'नैतिकता अथवा अनैतिकता ढूँढ़ना उसी तरह की बात है जैसे किसी समबाहु त्रिभुज को नैतिक कहना और विषमबाहु त्रिभुज को अनैतिक ।

स्पष्ट है कि कलावादी सम्प्रदाय को उसके उचित परिपार्श्व में देखने पर ही हम उसका सम्यक् मूल्याङ्कन कर सकेंगे ।

रस अभिव्यक्त है अथवा अनुभूत ?

हमारे हृदय में वासना रूप से जो भाव प्रस्तुत रहते हैं, उन्हें आचार्यों ने स्थायी भाव का नाम दिया है। वे ही भाव 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग' से आस्वाद्य होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं जैसा कि "स्थायीभावो रसः स्मृतः" से स्पष्ट भी है। भले ही स्थायी भाव की ही रस में परिणति होती हो, तथापि स्थायी भाव और रस के अन्तर को तो स्वीकार करना ही होगा।

यह सत्य है कि रस अभिधा का व्यापार नहीं है, न ही इसे लक्षणा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। व्यञ्जनावादी संस्कृत के आचार्यों ने बहुत कुछ ऊहापोह के बाद रस को व्यंग्य ठहराया है। किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, यदि हम स्थायी भाव और रस के अन्तर को दृष्टि में रखें तो क्या यह नहीं कहा जा सकता कि स्थायी भाव ही व्यंग्य होकर रस के रूप में 'अनुभाव्य' बन जाता है।

जब हम कोई काव्य पढ़ते हैं, नाटक अथवा फिल्म देखते हैं तो सामान्यतः हम यही कहते हैं कि हमें बड़ा आनन्द आया, हमें बड़ा रस मिला; कोई यह नहीं कहता कि अमुक भाव की व्यञ्जना हुई।

यह सच है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से हमारे हृदय का स्थायी भाव अभिव्यक्त हो जाता है किन्तु यह अभिव्यक्ति ही क्या रसानुभूति है ? क्या यह अभिव्यक्ति रसानुभूति का कारण नहीं।

दूसरी बात यह है कि पाठक, प्रमाता, दर्शक अथवा सामाजिक की रसाभिव्यक्ति की चर्चा हम नहीं करते, हमारा तात्पर्य आश्रय की रसानुभूति से ही होता है। दूध ही दही के रूप में परिणत होता है किन्तु फिर भी 'दूध' और 'दही' के रूप में व्यपदेश की भिन्नता तो है ही। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति और रसानुभूति को सूक्ष्म दृष्टि से भिन्न रूप में देखा जा सकता है।

यद्यपि अभिनव गुप्त ने भट्टनायक द्वारा उद्भावित 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' को निरर्थक मानकर उनका 'व्यञ्जना' में ही अन्तर्भाव कर लिया था

किन्तु मैं समझता हूँ, उक्त दोनों शक्तियों का व्यञ्जना में अन्तर्भाव कर लेने से रसविषयक दृष्टिकोण 'व्यक्तिपरक' से 'वस्तुपरक' बन जाता है।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए सुमित्रानन्दन पन्त की निम्नलिखित पंक्तियाँ लीजिए :—

'चिर हास-अश्रुमय आनन
रे! इस मानव-जीवन का।'

मानव-जीवन में हास और अश्रु दोनों पाये जाते हैं, इस भाव की व्यञ्जना के लिए 'मानव-जीवन' की एक व्यक्ति के रूप में कल्पना की गई है जिसके चेहरे पर हास और अश्रु दोनों पाये जाते हैं। ध्वनि यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर जैसे आँख और ओठ दोनों हैं जो अश्रु और हास्य के प्रतीक हैं, उसी प्रकार समष्टि को भी अगर एक व्यक्ति के रूप में कल्पित कर लिया जाय तो वहाँ भी ठीक यही स्थिति दृष्टिगोचर होगी। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर रसानुभूति हुए बिना नहीं रहती। किन्तु यहाँ समझ लेना होगा कि व्यञ्जना शब्द का व्यापार है, व्यक्ति का नहीं; जबकि अनुभूति का सम्बन्ध व्यक्ति से है।

ऊपर के विवेचन से ऐसा लगता है कि रस-प्रक्रिया की चार स्थितियाँ हैं—
१. अभिधा, २. बिम्ब विधान, ३. व्यञ्जना, ४. अनुभूति।

अगर उक्त चारों स्थितियों को मान्य ठहराया जाय तो भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र की निम्नलिखित व्याख्या करनी होगी—

"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की अनुभूति होती है।"

उक्त व्याख्या के अनुसार 'निष्पत्ति' शब्द 'प्राप्ति' अथवा 'अनुभूति' के अर्थ में गृहीत है।

o

आचार्य वाजपेयी और रस-सिद्धान्त

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी रस में अलौकिकता के विरोधी थे। उन्हीं के शब्दों में "रसवादी काव्य की आत्मा रस को अलौकिक मानते हैं। यह अलौकिकता का पाखण्ड केवल यहीं तक रहता तो एक बात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित हुआ, उसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया है। अलौकिकता के नाम पर बेवड़क लौकिकता ही बढ़ती गई और धीरे-धीरे उसने जो स्वरूप धारण किया, वह बड़ा ही हेय हुआ। एक बार अलौकिकता की प्रतिष्ठा कर न जाने कितने उच्छृङ्खल कवियों ने, न जाने कितनी सप्तशतियों की सृष्टि की, जिनमें आदि से अन्त तक अलौकिक भाव का सम्पूर्ण अभाव रहा।"...... आज जो साहित्यिकों की एक जाति ही अलग बनती चली जा रही है, उसका कारण भी साहित्य की अलौकिकता है। हम 'कला के लिए कला' वालों को व्यर्थ ही दोष देते हैं। हमारा अलौकिकानन्द विधायक रसवाद भी उससे कम नहीं रह गया था। मध्यकाल के ग्रन्थों में देखिए, कवि को पान खाने, अच्छी पोशाक पहनने, सुगन्धि-सेवन करने आदि की जो विधियाँ बतलाई गई, वे आगे चलकर उन दरबारी कवियों की सृष्टि करने में सहायक हुई जिन्हें हम कवि कहना भी कवित्व का तिरस्कार मानेंगे।"

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि स्व० आचार्य वाजपेयी निरी शास्त्रीय पद्धति से हटकर चलने वाले जीवन-द्रष्टा समीक्षक थे जो अपनी दृढ़ता और अटलता के बल पर विपथगामिनी धारा को रोक कर साहसपूर्वक साहित्य को सन्मार्ग की ओर उन्मुख कर देने की क्षमता रखते थे। हिन्दी साहित्य में जिस समय छायावादी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, सौभाग्य से उस समय वाजपेयीजी जैसा स्वच्छन्दतावादी समीक्षक साहित्य को मिल गया जिससे छायावादी काव्य-धारा का उसके उचित परिप्रेक्ष्य में मूल्याङ्कन हो सका।

ऊपर रस की अलौकिकता के सम्बन्ध में वाजपेयीजी के विचार उद्धृत किए जा चुके हैं। रस को लेकर पाश्चात्य समीक्षकों की भी मुख्य आपत्ति यह रही कि ब्रह्मानन्द सहोदर रस काव्य को एकांगी बना देता है। काव्य का सीधा सम्बन्ध जीवन के चित्रण से है, न कि रस की उद्भावना से। कीथ का यह भी कहना है कि

रस-सिद्धान्त पर भारतीय दर्शन की छाप है। श्रेष्ठ कार्य का श्रेष्ठ और बुरे कार्य का बुरा फल मिलता है, इस कर्म-सिद्धान्त का काव्य पर भी प्रभाव पड़ा। नियति का भयानक संघर्ष और प्रकृति की अज्ञेयता भारतीय नाटक और काव्य से बहिष्कृत कर दी गई। इस कारण भारतीय कविता रसमय तो रही पर जीवन-स्पर्शी न हो सकी।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वाजपेयीजी को भारतीय रस-सिद्धान्त मान्य नहीं है। स्थूल शास्त्रीयता से ऊपर उठकर रस के सम्बन्ध में दृष्टिकोण की व्यापकता के वे पक्षपाती थे। काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही उन्होंने प्रधानता दी है। इस सम्बन्ध में रस के आत्यंतिक मूल्य के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जा सकता है।

हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी की विज्ञप्ति में श्री वाजपेयीजी ने समीक्षा विषयक अपनी निम्नलिखित मुख्य चेष्टाओं का उल्लेख किया था—

१—रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन।

२—रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।

३—रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्याङ्गों का अध्ययन।

४—समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

५—कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेषण)

६—कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

७—काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामंजस्य और सन्देश का अध्यय।

उक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन रस सिद्धान्त का ही नये सिरे से मनोवैज्ञानिक अध्ययन है तथापि शेष सूत्रों को देखते हुए यह भी निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य वाजपेयी रस को ही आत्यंतिक मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करते थे।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने भी कल्पना के जुलाई अङ्क में यह प्रतिपादित किया कि रस काव्य का आत्यन्तिक मूल्य नहीं है। उनके मतानुसार "रस-सिद्धान्त भारतीय कलादृष्टि को समझने के लिए एक अच्छा उदाहरण है पर उसकी अमूर्तता-केन्द्रित रमणीयता को समझने के लिए रस के अलावा अब और बहुत-सी चीजों को समझने की जरूरत है जिसमें वाचिक परम्परा की निरन्तरता और अनवच्छिन्न प्रवहमानता तथा जगत् के प्रति सच्चे अर्थ में विज्ञानम दृष्टि अर्थात् बौद्धिक

निःसंगता और सांसारिक जीवन की (अभिशाप के रूप में नहीं) स्पृहणीय वरदान के रूप में स्वीकृति, ये सारी बातें रस-सिद्धान्त से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।"

रसानुभूति की प्रक्रिया पर भी यदि हम दृष्टिपात करें तो अभिधा, भावकत्व व्यापार (जिसमें भाव-प्रेरित कल्पना द्वारा प्रसूत काव्यात्मक बिम्बों का भी अन्तर्भाव हो जाता है) तथा व्यंजना द्वारा रसानुभव होता हैं। अलङ्कार, वक्रोक्ति, रीति तथा ध्वनि—ये चारों सम्प्रदाय रसानुभूति में अपने-अपने ढंग से योग देते रहते हैं। इस प्रकार रस-सम्प्रदाय भी रस-सिद्धि के लिए कल्पना तथा व्यंजना का साधन रूप में प्रयोग अनिवार्य मानता है।

अन्त में, हम काव्य-मूल्यों का बाह्य तथा आन्तरिक, इस प्रकार द्विविध वर्गीकरण करें तो आन्तरिक मूल्यों की दृष्टि से रस-सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं किन्तु बौद्धिक निःसंगता तथा सांसारिक जीवन-स्वीकृति एवं कल्याण-शोभा सम्पन्न अर्थ आदि को यदि हम काव्य के आन्तरिक मूल्य न मान कर बाह्य मूल्य भी मान लें, तो भी हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इस प्रकार के बाह्य मूल्यों के समावेश से काव्य की जीवनी-शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार काव्यगत आत्यन्तिक मूल्य के सम्बन्ध में हमें बाह्य तथा आन्तरिक, दोनों प्रकार के मूल्यों को दृष्टि में रखना होगा।

कामायानी में नियति का कंचुकीय निदर्शन

●

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में चिति को स्वतन्त्र और विश्वसिद्धि का हेतु कहा गया है।[1] वह अपनी इच्छा से अपनी ही भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है।[2] महाकवि प्रसाद के शब्दों में—

> कर रही लीलामय आनन्द,
> महा चिति सजग हुई-सी व्यक्त।
> विश्व का उन्मीलन अभिराम,
> इसी में सब होते अनुरक्त।

महा चिति जब सुप्तावस्था में रहती है, विश्व भी उसी में समाहित, अव्यक्त रहता है। उसके जगने पर विश्व का भी उन्मीलन होता है जिससे उसका व्यक्त रूप सामने आता है।

अनुरूप ग्राह्य-ग्राहक भेद से यह विश्व नाना प्रकार का है जो परम शिव भट्टारक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परम शिव के विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण, दो रूप माने गए हैं। यह विश्व परम शिव का ही विश्वात्मक रूप है।

शैवागमों के अनुसार यह विश्व ३६ तत्वों से निर्मित है जिनमें निम्नलिखित पांच कंचुकों की भी गणना की गई है—

१. काल २. नियति ३. राग ४. विद्या ५. कला

जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वतन्त्रता के कारण अभेद-व्याप्ति को छोड़ कर भेद-व्याप्ति का अवलम्बन करता है, तब उसकी इच्छादि शक्तियाँ असंकुचित होती हुई भी संकुचित-सी प्रतीत होने लगती हैं। उसी समय यह मलावृत संसारी के रूप में पाँच कंचुकों से आवेष्टित हो जाता है। स्वशक्ति विकास की दशा में तो वह शिव ही है जब उसमें सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व नामक पाँचों शक्तियाँ पाई जाती हैं किन्तु मलावृत संसारी की स्थिति में उक्त शक्तियाँ कला,

---

१. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥१॥

२. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥२॥

विद्या, राग, काल और नियति का रूप धारण कर लेती हैं। हमें यहाँ पर मलावृत संसारी के नियति नामक कंचुक का विवेचन ही अभीष्ट है। जैसा ऊपर कहा गया है, सदाशिव की शक्ति व्यापक है जबकि मलावृत संसारी पुरुष की शक्ति नियत है, इसी कारण उसे 'नियति' का नाम दिया गया है। नियति से तात्पर्य सीमित अथवा नियमित तत्व से है। शर्त, अवसर, स्थान तथा कारण-कार्यों के बन्धनों से नियति के वशीभूत होकर पुरुष नियन्त्रित रहता है।

कामायनी के निम्नलिखित छन्द में शैवागमों में वर्णित पाँचों कंचुकों का एकत्र प्रयोग द्रष्टव्य है —

संकुचित असीम अमोघ शक्ति।
जीवन की बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी-सी महाशक्ति,
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे, बन्द
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छन्द,
कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललितकला
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति
हो विफल तर्क से भरी युक्ति।

यहाँ पर स्पष्ट ही राग, नियति, विद्या, कला और काल—इन पाँचों कंचुकों का नामोल्लेख हुआ है। साथ ही सदाशिव की पाँचों शक्तियाँ पूर्णता, व्यापकता, सर्वज्ञता, सकल कर्तृत्व और नित्यता का भी वैषम्य-प्रदर्शनार्थ प्रयोग हुआ है।

काश्मीर शैवागमों का मलावृत संसारी अथवा पुरुष ही नियति के वशीभूत रहता है जिससे उसकी व्यापकत्व-शक्ति सीमा-बद्ध होकर नियंत्रित हो जाती है, सदाशिव कभी नियति के कंचुक से आवृता नहीं होता।

किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मलावृत संसारी भी तत्वतः सदाशिव ही है। शक्ति-संकोच के होते हुए भी संसारी है चिद्वत् ही। चिति ही जब चेतन पद से अवरूढ़ हो जाती है, तब उसे 'चित्त' का नाम दिया जाता है। तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो चित्त भी अन्य किसी वस्तु का नाम नहीं है, वह भी 'चिति भगवती' ही है। किन्तु चिति जब अपने स्वरूप का गोपन कर संकोच का आश्रय लेती है, तभी दो गतियां दृष्टिगोचर होती हैं, अन्यथा नहीं।

नियति के जिस कंचुकीय स्वरूप का ऊपर विवेचन किया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ चिति स्वतन्त्र है, वहाँ नियति परतन्त्र है और मलावृत संसारी के लिए एक कंचुक, बन्धन अथवा आवरण है। चिति जहाँ व्यापक

हैं, वहाँ नियति सीमाबद्ध है। व्यापकता चिति से सम्बद्ध है और नियति 'चित्त' से सम्बन्धित।

कामायनी के अध्ययन से लगता है कि श्रद्धा नियति के वशीभूत नहीं है, मनु नियति-शक्ति द्वारा नियन्त्रित है। दार्शनिक पदावली का आश्रय लेकर कहें ता कह सकते हैं कि श्रद्धा चिति की भूमिका पर है और मनु चित्त की भूमिका पर अवरूढ़ है जो चिति की उच्चस्थिति से अवरोहण का रूप है। कामायनीकार ने श्रद्धा को 'वह विश्व चेतना पुलकित' कहा है किन्तु इसके विपरीत मनु का प्रारम्भिक जीवन 'चित्त' की क्रीड़ा-भूमि पर ही संचरित होता रहा है। अन्त में जहाँ श्रद्धा मनु को तीनों लोक दिखलाती है और श्रद्धा की स्थिति से वे सम्बद्ध हो जाते हैं ,तो ऐसा लगता है जैसे 'चित्त' चिति में समा रहा हो—

चितिमय चिता धधकती अविरल
महा काल का विषम नृत्य था।
× × ×
स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान, मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

आगे चल कर आनन्द सर्ग में कवि ने स्वयं मनु के मुख से कहलवाया है—

हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है।
अपने सुख-दुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिरसुन्दर।

यहाँ मनु के उद्‌गारों में चिति की अनुभूति झलकती है।

चिति की उच्च भूमिका पर पहुँचने पर ही नियति के बन्धन से पुरुष को छुटकारा मिल सकता है, इसका स्पष्ट उल्लेख श्रद्धा की निम्नलिखित उक्ति में हुआ है--

निराधार है, किन्तु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं है।
नियति-खेल देखूं न, सुनो अब
इसका नहीं उपाय अन्य है। (रहस्य सर्ग)

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है—

(१) मलावृत संसारी पुरुष ही नियति के कंचुक से आवृत्त होकर सीमाबद्ध रहता है।

(२) जब पुरुष चिति की उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे नियति के खेल नहीं देखने पड़ते।

(३) कामायनी का मनु तब तक 'चित्त' का प्रतिनिधित्व करता है, जब तक वह 'चिति' की उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित नहीं हो जाता।

इस प्रकार कामायनी में मनु का 'चित्त' की अवरूढ़ स्थिति से 'चिति' के उच्च शिखर पर आरोहण दिखाई देता है जहाँ पहुँचने पर 'नियति' का कंचुक उतर जाता है और सीमा का बन्धन टूट जाता है। इस प्रकार इस महाकाव्य में 'चित्त' का 'चिति' में पर्यवसान हुआ है।

कामायनी का अलंकार-विधान

●

भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारों के बहिरंग और अन्तरंग-स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत कुछ ऊहापोह हुआ है। सामान्यतः कुण्डल, हार आदि मानवीय आभूषणों की भाँति अलंकारों को बाह्य माना जाता है किन्तु काव्य में सर्वत्र अलंकृति का यह बाह्य रूप ग्राह्य नहीं हो सकता। यद्यपि ध्वन्यालोक में अंगाश्रित अलंकार कटक आदि आभूषणों की भाँति गृहीत हुए हैं[1] तथापि आनन्दवर्धन ने स्पष्ट ही कहा है कि रसाभिव्यक्ति में अलंकार काव्य के बहिरंग नहीं माने जाते।[2] जिनका सन्निवेश बिना किसी प्रयत्न के हो सके, वस्तुतः वे ही अलंकार अलंकार हैं।[3] अलंकार जब रस के अंग बन कर आते हैं तो उनकी सृष्टि में पृथक् प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। रसमग्न प्रतिभाशाली कवि के सामने अलंकार होड़ लगा कर स्वयं दौड़े चले आते हैं।[4] इस प्रकार के अनायास-उद्भूत अलंकार अन्तरंग ही माने जाएँगे—हाँ, यमकादि अलंकार अवश्य ऐसे हैं जिनकी गणना प्रयत्न-सापेक्षता के कारण बहिरंग में की जाती है।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने अलंकारों की बहिरंगता तथा अंतरंगता के संबन्ध में मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया था। ध्वनिकार के मतानुसार ऊपर से प्रयत्नपूर्वक आरोपित अलंकार जहाँ बहिरंग के अंतर्गत हैं, वहाँ अनायासप्रयुक्त अलंकार अंतरंग वर्ग को सुशोभित करते हैं।

भावोल्लास अथवा भावोन्मेष की स्थिति में अलंकार स्वतः आविर्भूत होने लगते हैं। 'साकेत' में उर्मिला की सखी जब उसे चन्द्रकान्त मणियों के आभूषण पहनाने लगी तो उर्मिला बोल उठी—

---

१. अंगाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्। (द्वितीय उद्योत, कारिका ६)

२. तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः (द्वितीय उद्योत, कारिका १६)

४. अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरी-दर्शनावसरे। (द्वितीय उद्योत, वृत्ति, कारिका १६)

चन्द्रकान्त मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार,
चन्द्रकान्त आवें प्रथम, जो सबके शृंगार ।

दूर हटा इन चन्द्रकान्त मणियों को, तेरा यह व्यापार मुझे पत्थर मारने के समान जान पड़ता है। चन्द्र के समान कमनीय मेरे प्रिय जो सबके शृंगार हैं, वे तो पहले आ जायँ। बिना चन्द्रकान्त (लक्ष्मण) कैसी चन्द्रकान्त मणियाँ ! अलंकार तो हैं लेकिन अलंकारों के लिए उपयुक्त मनोदशा और तदनुरूप वातावरण भी तो चाहिए। इसलिए ध्वन्यालोककार ने कहा है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।। २।६

अर्थात् रस-भावादि तात्पर्य का आश्रय लेकर अलंकारों का संनिवेश किया जाना चाहिए; तभी वे अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

उक्त विवेचन से अलंकारों के मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कोई भी भाव-प्रेरित उक्ति जब अलंकार से मंडित हो जाती है तो वह एक प्रकार की रमणीय भास्वरता से जगमगाने लगती है और सही बात तो शायद यह है कि भावावेग की स्थिति में अनायास अलंकारों का प्रयोग होने लगता है। उस समय उक्ति और अलंकार अभिन्न होकर एक अद्भुत चमत्कार की सृष्टि करते हैं।

कामायनी के अलंकारों पर एक समग्र दृष्टि डालने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य में अलंकारों का आविर्भाव प्राय: भाव की बलवती प्रेरणा से हुआ है। मनु जब पहले-पहल श्रद्धा को देखते हैं तो सौंदर्य से अभिभूत होकर श्रद्धा का जो चित्रण उन्होंने किया है, उसमें उपमा-उत्प्रेक्षाओं की एक झड़ी-सी लग गई है। यथा,

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख पश्चिम के व्योम, बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।
घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास।

कादम्बरी में जैसे कादम्बरी-दर्शन के अवसर पर अनेक अलंकार होड़ लगाए हुए-से बाणभट्ट के सामने आये हैं, उसी प्रकार कामायनी में भी श्रद्धा के प्रथम दर्शन के समय अनेक अलंकार अहमहमिकापूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार

का आलंकारिक वर्णन केवल परम्परा-पालन के लिए नहीं हुआ है, इससे अपूर्व सौंदर्य-दर्शन के कारण कवि के मानसिक आह्लाद की अभिव्यक्ति हुई है।

इसी प्रकार लज्जा सर्ग में जहाँ लज्जा को सौंदर्य की धात्री के रूप में चित्रित किया गया है, वहाँ सौंदर्य की जो छवि अंकित हुई है, वह अप्रतिम है। सौंदर्य इस संसार की वस्तु नहीं, दिव्य वस्तु है। हिमालय के अंबरचुंबी हिम-श्रृंगों से उतर कर वह इस पृथ्वी पर कलरव और कोलाहल साथ लिये हुए आया है।[1] उसमें सदा ऊषा की लाली निखरी रहती है।[2] ऐसी ताज़गी है इस सौंदर्य में ! इसका जो दर्शन कर लेता है, उसके नेत्रों का कल्याण हो जाता है।[3] फूलों की पंखुडियाँ यद्यपि अत्यन्त कोमल होती हैं तथापि वे भी इस सौंदर्य के अभिनन्दन के लिए अपने को न्यौछावर कर देती हैं।[4] सुख और दुःख यद्यपि परस्पर विरोधी भाव हैं किन्तु सौंदर्य के सर्वातिशायी प्रभाव के कारण वे भी अपना विरोध भूल कर आनन्दोत्सव मनाने लगते हैं।[5] सौंदर्य सचमुच चेतना का उज्ज्वल वरदान है।[6]

सौन्दर्य, प्रेम और यौवन का वर्णन करते समय कवि प्रसाद की कल्पना जिन बिंबों को सामने लाती है, उनके कारण वर्ण्य-विषय आलोकित हो उठता है, वस्तु का एक ऐसा चित्र सामने आता है जो कभी भुलाए भी नहीं भूलता।

श्रद्धा की रूप-माधुरी और सौंदर्य का उल्लेख यहाँ यही सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया है कि जिन-जिन प्रसंगों में कवि का जी रमा है, वहाँ अलंकारों की छटा स्वभावतः ही सामने आ गई है। कोई समीक्षक चाहे तो इस प्रकार के अलंकृत चित्रों के आधार पर प्रसाद का मनोविश्लेषण कर यह भी कह सकता है कि सौंदर्य के प्रति इस कवि का असाधारण आकर्षण था तथा सौंदर्यविषयक उनकी अभिलाषा कभी पूर्ण हुई ही नहीं। इस प्रकार के वर्णन कवि-प्रतिभा के परिचायक होने के साथ-साथ प्रसाद की सौन्दर्य-सम्बन्धी अतृप्त अभिलाषा के भी द्योतक हैं।

आनन्द ही इस सृष्टि का प्राण है और सौन्दर्य है आनन्द का घनीभूत रूप। कवि के मानस में आकर आनन्द और सौंदर्य की ये दोनों महती शक्तियाँ एकाकार होने लगती हैं। कलाकार के लिए सौन्दर्य और आह्लाद का चन्द्रमा सत्य के सूर्य की

---

१. अम्बरचुम्बी हिम श्रृंगों से कलरव कोलाहल साथ लिये।

२. निखरी हो ऊषा की लाली।

३. हो नयनों का कल्याण बना।

४. फूलों की कोमल पंखड़ियाँ बिखरें जिसके अभिनन्दन में।

५. जिसमें दुख सुख मिल कर मन के, उत्सव आनन्द मनाते हों।

६. उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।

अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।[1] काव्य का वर्ण्य-विषय चाहे जो भी हो, उसकी अभिव्यक्ति यदि उल्लासमयी न हो तो काव्यगत सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकती। कला की सृजन-प्रक्रिया के मूल में आनन्द का निर्भर प्रवाहित होता रहता है। काव्यगत सौन्दर्य अपनी अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह भाषा मात्र 'वार्तात्मक' नहीं होती; वह भावानुरूप अलंकृति से मंडित होकर सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र बन जाती है।

कामायनी में प्रयुक्त मुख्य अर्थालंकारों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(क) साम्यमूलक (ख) विरोधमूलक (ग) भावसाहचर्यमूलक (घ) विविध।

प्रत्येक वर्ग में से कतिपय प्रमुख अलंकारों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं:—

(क) साम्यमूलक

पूर्णोपमा—मृत्यु, अरी चिर निद्रे! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल। (चिन्ता सर्ग)

मालोपमा—कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार!
हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये निःश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश। (वासना सर्ग)

निरंग रूपक—सन्ध्या घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट। (आशा सर्ग)

सांग रूपक—नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्छित जीवन-सर निस्तरङ्ग नीहार घिर रहा था अपार
निस्तब्ध अलस बन कर सोई चलती न रही चंचल बयार
पीता मन मुकुलित कञ्ज आप अपनी मधु बूंदें। मधुर मौन
(इड़ा सर्ग)

परंपरित रूपक—अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
(इड़ा सर्ग)

---

1. Delight is the soul of existence, beauty the concentrated form of delight; and these two fundamental things tend to be one for the mind of the artist and the poet......For the poet the moon of beauty and delight is a greater godhead even than the sun of truth. (Aurobindo: The Soul of Poetic Delight and Beauty in Silpi August, 1947 p. 3)

वस्तूत्प्रेक्षा—स्वर्ण शालियों की कलमें थीं, दूर दूर तक फैल रही,
शरद इंदिरा के मंदिर की मानो कोई गैल रही। (आशा सर्ग)

हेतूत्प्रेक्षा—उस असीम नीले अंचल में देख किसी की मृदु मुसक्यान,
मानो हँसी हिमालय की है फूट चली करती कल गान। (आशा सर्ग)

फलोत्प्रेक्षा—छूने को अम्बर मचली-सी, बढ़ी जा रही सतत ऊँचाई। (रहस्य सर्ग)

सन्देह—दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
सघन गगन में भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।

प्रतीप—(१) दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान।
(चिन्ता सर्ग)

(२) उसी तपस्वी-से लम्बे, थे देवदारु दो चार खड़े। (चिन्ता सर्ग)

व्यतिरेक—स्वर में वेणु कहाँ मिलता! (निर्वेद सर्ग)

रूपकातिशयोक्ति—इन्द्रनील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका। (आशा सर्ग)

कैतवापह्नुति—किस दिगन्त रेखा में इतनी संचित कर सिसकी-सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही-सी चली जा रही किसके पास?
(आशा सर्ग)

भ्रान्तिमान्—हरियाली जिनकी उभरी, वे समतल चित्रपटी-से लगते,
प्रतिकृतियों के बाह्य रेख-से स्थिर, नद जो प्रतिपल थे भगते।
(रहस्य सर्ग)

(ख) विरोधमूलक

विरोधाभास— (१) चिर वसन्त का यह उद्गम है, पतझर होता एक ओर है।
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं, सुख-दुख बँधते एक डोर हैं।
(रहस्य सर्ग)

(२) अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ!
(स्वप्न सर्ग)

(३) जिसे देखने को यह जीवन मर मर कर सौ बार जिये।
(स्वप्न सर्ग)

विशेषोक्ति—(१) सब कुछ भी हो यदि पास भरा, पर दूर रहेगी सदा तुष्टि।
(इड़ा सर्ग)

(२) इड़ा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझत प्यास नहीं,
तृषित कण्ठ को, पी पी कर भी, जिसमें है विश्वास नहीं।
(स्वप्न सर्ग)

(३) अग्नि कीट समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं न उसमें दाह ! (वासना सर्ग)

विभावना—(१) देव-यजन के पशु-यज्ञों की
वह पूर्णाहुति की ज्वाला,
जलनिधि में वन जलती कैसी
आज लहरियों की माला ! (चिंता सर्ग)

(२) स्मिति मधुराका थी, श्वासों से
पारिजात कानन खिलता। (निर्वेद सर्ग)

विषम—क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।

(ग) भावसाहचर्यमूलक

समासोक्ति—सन्ध्या समीप आयी थी उस रस के, वल्कलवसना,
तारों से अलक गुंथी थी, पहने कदम्ब की रसना। (आनन्द सर्ग)

अप्रस्तुत प्रशंसा (कार्य-निबन्धना)—केतकी गर्भ-सा पीला मुँह,
आखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी
कम्पित लतिका-सी लिये देह। (ईर्ष्या सर्ग)

स्मरण अलंकार की ध्वनि—चलते थे सुरभित अंचल से, जीवन के मधुमय निश्वास;
कोलाहल में मुखरित होता देव जाति का सुख-विश्वास (चिन्ता सर्ग)

अर्थान्तरन्यास—परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती;
संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे।
(स्वप्न सर्ग)

दृष्टान्त—जिसके हृदय सदा समीप है, वही दूर जाता है;
और क्रोध होता उस पर ही जिससे कुछ नाता है। (कर्म सर्ग)

उदाहरण—सुख, केवल सुख का वह संग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना;
छाया-पथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।
(चिन्ता सर्ग)

(घ) विविध

उल्लेख—तुम आशामयि ! चिर आकर्षण, तुम मादकता की अवनत घन,
मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति, तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।
(दर्शन सर्ग)

कामायनी में प्रयुक्त अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि साम्यमूलक अलंकारों का प्राचुर्य है। उपमा तथा रूपक के प्रसंग में कहीं-कहीं 'अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ' तथा 'मह नृत्य का विषम सम' आदि में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे अर्थ-प्रतीति में शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा होती है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार प्रसाद को विशेष प्रिय जान पड़ता है जिसकी भावाश्रित अभिव्यक्ति के उदाहरण कामायनी के प्रायः प्रत्येक सर्ग में ढूँढ़े जा सकते हैं। 'देख, बिखरती है मणिराजी, अरी उठा बेसुध चंचल' में उक्त अलंकार की रमणीय छटा द्रष्टव्य है। रूपकातिशयोक्ति-गर्भित निम्नलिखित वर्णन में भी वह दिमागी कसरत नहीं है जो 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' जैसी पंक्तियों में दिखलाई पड़ती है—

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मण्डल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।

रूपकों की दृष्टि से भी इस महाकाव्य का विशेष महत्त्व है। प्रथम सर्ग में चिन्ताविषयक संबोधन-गीत 'रूपक-माला' का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अलंकार-शास्त्र में 'मालोपमा' की भाँति इस प्रकार के 'माला-रूपक' को भी अलंकार के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। 'अभाव की चपल बालिका' तथा 'ललाट की खल लेखा' आदि रूपकों द्वारा जो चिन्ता का रूप खड़ा किया गया है, वह अविस्मरणीय रहेगा। कामायनी से नव्य पद्धति के एक वक्र माला-रूपक का भी उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसे 'छायावादी माला-रूपक' के नाम से अभिहित करना अनुचित न होगा—

एक विस्मृति का स्तूप अचेत, ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिंब;
और जड़ता की जीवन राशि, सफलता का संकलित विलम्ब। (श्रद्धा)

इस महाकाव्य में विरोधाभास तथा विशेषोक्ति जैसे वैषम्यमूलक अलंकार भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं किन्तु उनकी संख्या अपेक्षया अत्यल्प है।

साम्यमूलक अलंकारों के प्राचुर्य से यह स्पष्ट है कि कवि जान-बूझ कर प्रयासपूर्वक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अलंकारों का आश्रय नहीं लेता। भावों की लपेट में सहज ही जो अलंकार आ गए हैं, उनके द्वारा भावोत्कर्ष के कारण काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

इस प्रकार के अलंकारों में एक स्वभावोक्ति अलंकार भी है जिसकी स्वाभाविकता ही उसका ललित अलंकरण है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

१. कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल,
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निधि जाल।
कभी निज भोले नयन से अतिथि बदन निहार,
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से ढार। (वासना सर्ग)

२. गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल। (वासना सर्ग)

उक्त रेखाओं के आधार पर कोई कृती चित्रकार सुन्दर चित्रों की सृष्टि कर सकता है।

कामायनी के कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो पूर्व कवियों द्वारा प्रयुक्त अलंकृत शैली का स्मरण दिलाते हैं। यथा,

१. देव कामिनी के नयनों से जहाँ नील नयनों की सृष्टि। (चिन्ता सर्ग)
२. वह कौंध कि जिससे अंतर की शीतलता ठंडक पाती हो। (लज्जा सर्ग)
३. भरा रह गया आँखों में जल, बुझी न वह ज्वाला जलती। (स्वप्न सर्ग)
४. हो नेत्रों का कल्याण बना। (लज्जा सर्ग)
५. स्वजन-स्नेह में भय की कितनी आशंकाएँ उठ आतीं। (स्वप्न)

समानान्तर उक्तियाँ

१. (क) जहँ बिलोक मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।
(रामचरितमानस)
(ख) नयन जो देखा कँवल भा। (जायसी)
२. सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। (वही)
३. नीर भरे नित प्रति रहें तऊ न प्यास बुझाय। (बिहारी)
४. पाइ नयनफल होहिं सुखारी। (तुलसी)
५. स्नेहः पाप शंकी। (कालिदास)

शब्दालंकार

कामायनी में शब्दालंकारों का प्रयोग भी पृथक् प्रयत्न के रूप में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता; हाँ, उनके उदाहरण ढूँढ़ने के लिए अवश्य प्रयत्न करना पड़ता है। इस महाकाव्य में प्रयुक्त अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों के कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

छेकानुप्रास—(१) दिवाश्रान्त आलोक रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं।
(स्वप्न सर्ग)
(२) हिंसा सुख लाली से ललाम। (ईर्ष्या सर्ग)
(३) स्पष्ट कुटिल कटुता में। (कर्म सर्ग)

वृत्यनुप्रास—(१) ललक रही थी ललित लालसा। (कर्म सर्ग)
(२) मानस के मधुर मिलन में (आनन्द सर्ग)

(३) इस कुसुमाकर के कानन के (रहस्य सर्ग)

(४) चक्रवाल को चकित चूमतीं। (रहस्य सर्ग)

श्रुत्यनुप्रास—(१) वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि
उसकी थी मन्थरगति। (आनन्द सर्ग)

(२) माया-राज्य ! यही परिपाटी
पास बिछा कर जीव फांसना। (रहस्य सर्ग)

श्लेष—आह सर्ग के प्रथम अङ्क का, अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ।
(चिन्ता सर्ग)

पुनरुक्ति—जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर मधुर कुछ गावे। (कर्म सर्ग)

वीप्सा—हम सब थे भूले मद में
भूले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद में। (चिन्ता सर्ग)

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में 'नाथ साथ धनु हाथ हमारे' जैसी पंक्तियों में एक विशिष्ट अनुप्रास के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं जिसे किसी सर्व प्रचलित नामकरण के अभाव में 'आन्तरिक अनुप्रास' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। कामायनी में भी उक्त अनुप्रास के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं जिनमें से कुछ यहाँ 'चिन्ता' तथा 'आशा' सर्ग से उद्धृत किए जा रहे हैं:—

१. **भक्षक** या **रक्षक** जो समझो।
२. जल-**माया** की **चल रेखा** !
३. **तरल गरल** की लघु **लहरी**।
४. उसी **वासना** की **उपासना**।
५. मधु से पूर्ण **अनन्त वसन्त**।
६. तुझको **यहाँ कहाँ** अब ठाँव ?
७. **सदय हृदय** में अधिक अधीर।
८. **हरी भरी** फिर भी वैसी।
९. **काल जाल** तनता अपना।
१०. इन्द्रजाल-**जननी** ! **रजनी** तू।

स्थूलांकित शब्दों में जिस आन्तरिक तुक का निर्वाह हुआ है, उसके कारण नाद-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। मैं समझता हूँ, कामायनी में उक्त अनुप्रास का सहज सुन्दर प्रयोग बन पड़ा है। इस प्रकार के प्रयोगों को देखते हुए यदि अलंकार-शास्त्र में वर्णित छेकानुप्रास आदि अनुप्रासों की संख्या में 'आन्तरिक अथवा मध्यवर्ती अनुप्रास' और जोड़ दिया जाय तो कहीं किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।

महाकवि कालिदास तक ने रघुवंश के नवम सर्ग में चरणान्त में यमक अलंकार का जान बूझ कर प्रयोग किया है जिसकी प्रयत्नसाध्य कृत्रिमता की ओर हमारा ध्यान गए बिना नहीं रहता किन्तु कामायनी में महाकवि प्रसाद इस प्रकार के किसी कृत्रिम प्रलोभन के शिकार नहीं हुए हैं। उनके शब्दालंकारों में भी जो स्वाभाविकता है, उससे झुँझलाहट के स्थान पर उल्लास की ही सुखद अनुभूति होती है।

पाश्चात्य अलंकार

अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने तथा जड़ का चेतनवत् वर्णन करने आदि में प्रसाद का जी विशेष रूप से रमता है। ऐसे अवसरों पर उनकी प्रतिभा नव्य अलंकारों का रूप सामने लाती है। कामायनी में पाश्चात्य पद्धति के जिन अलंकारों का प्रयोग हुआ है, उनमें मानवीकरण (Personification) का नाम अग्रगण्य है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ लीजिए जहाँ 'कामना' का मानवीकरण द्रष्टव्य है—

जब कामना सिन्धु-तट आई, ले सन्ध्या का तारा दीप (आशा सर्ग)

इस महाकाव्य में जहाँ सम्बोधन-अलंकार (Apostrophe) का प्रयोग हुआ है, वहाँ मानवीकरण का भी उसमें अन्तर्भाव हो गया है। काव्यात्मक संबोधन तथा मानवीकरण द्वारा अनुभूति में तीव्रता आ जाती है तथा काव्य का वातावरण भी आत्मीयता के आन्तरिक स्पर्श से पुलकित हो उठता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ मानवीकरण तथा सम्बोधन के युगपत् आपतन के कारण अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा मार्मिक बन पड़ी हैं—

विकल खिलखिलाती है क्यों तू ? इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर,
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में, मच जावेगी फिर अन्धेर।
घूंघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती-सी आती,
विजन गगन में किसी भूल-सी किसको स्मृति पथ में लाती ?
(आशा सर्ग)

पाश्चात्य पद्धति का एक अन्य अलंकार है 'विशेषण विपर्यय' (Transferred epithet) जिसकी प्रचुरता कामायनी में लक्षित होती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं। (लज्जा सर्ग)

यहाँ वरदान उज्ज्वल न होकर चेतना उज्ज्वल है—पशु-पक्षी आदि की धूमिल चेतना की अपेक्षा मनुष्य की चेतना उज्ज्वल है। भाव यह है कि उज्ज्वल चेतना-विशिष्ट मनुष्य के लिए सौन्दर्य-बोध विभु का वरदान है।

२. भूलता ही जाता दिन रात सजल अभिलाषा कलित अतीत (श्रद्धा सर्ग)

यहाँ अतीत को जो एक अमूर्त और अचेतन वस्तु है 'सजल अभिलाषा-कलित' कहा गया है। वस्तुतः अभिलाषा सजल नहीं है, अतीत की अभिलाषा में आँखें सजल हो उठती हैं। विशेषण के इस विपर्यय के कारण उक्ति में चमत्कार आ गया है।

विशेषण विपर्यय जैसे अलंकार कुन्तक द्वारा निरूपित 'उपचारवक्रता' में अन्तर्भुक्त किए जा सकते हैं। वक्रोक्तिकार के मतानुसार 'अन्य वस्तु का साधारण धर्म जहाँ अधिक दूर वाले पदार्थ पर लेश मात्र संबन्ध से आरोपित किया जाता है, वहाँ उपचार होता है। दूसरी वस्तु को पहली वस्तु की अपेक्षा दूरान्तर होना चाहिए। दूरान्तर का तात्पर्य यह है कि दोनों में देश की या काल की भिन्नता न होकर स्वभाव की भिन्नता होनी चाहिए, जैसे अमूर्त पदार्थ में मूर्त पदार्थ के धर्मों का आरोप। घन पदार्थ में द्रव की कल्पना, अचेतन में चेतन धर्म का अध्यारोप उपचार कहलाता है। उपचार की वक्रता होने से काव्य में एक विचित्र सरसता आ जाती है। इसी वक्रता के ऊपर रूपक आदि अलंकारों की सत्ता होती है।'[१] नाना प्रकार की वक्रताओं में उपचार-वक्रता की विशेष महत्ता है, क्योंकि रूय्यक के कथनानुसार इसी वक्रता के भीतर ध्वनि के समस्त प्रपंच का समावेश किया जाता है।

विरोध-पद्धति के पाश्चात्य अलंकार भी कामायनी में उपलब्ध होते हैं जिनके कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं:—

Oxymoron. (**विरोधाभास**)—१. पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप। (चिन्ता सर्ग)
२. अरी आधि, मधुमय अभिशाप। (वही)
३. महा मृत्यु का विषम सम अरी! (वही)

Antithesis
१. जागृत था सौन्दर्य यदपि वह सोती थी सुकुमारी।
२. कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द। (श्रद्धा सर्ग)
३. बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन। (दर्शन सर्ग)

Epigram (**मर्मोक्ति**) —सदा पूर्णता पाने की सब भूल किया करते क्या?
जीवन में यौवन लाने को जी जी कर मरते क्या?
(कर्म सर्ग)

ध्वन्यर्थ व्यंजना (Gnomatopoeia)—पं. रामदहिन मिश्र के शब्दों में "ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार का अभिप्राय शब्दों की उस ध्वनि से है जो शब्द-सामर्थ्य

---

१. यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥
(वक्रोक्ति जीवित २।१४)

से ही प्रसंग और अर्थ का उद्‌बोधन करा कर एक चित्र खड़ा कर देती है। यही नहीं, काव्य के आन्तरिक गुणों से अपरिचित रहने पर भी भाषा का बाह्य सौन्दर्य श्रोता और पाठक के हृदय में एक आकर्षण पैदा कर देता है। इसमें भाव और भाषा का सामंजस्य तथा स्वरैक्य की आवश्यकता है।" कामायनी से कुछ उदाहरण लीजिए:—

१. कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव गीतों में, स्वर लय का होता अभिसार।
(चिन्ता सर्ग)

२. धीरे धीरे लहरों का दल, तट से टकरा होता ओझल
छप छप का होता शब्द विरल, थर थर कँप रहती दीप्ति तरल।
(दर्शन सर्ग)

विस्तार-भय से अन्य पाश्चात्य अलंकारों के उदाहरण यहाँ नहीं दिए जा रहे हैं।

भारतीय तथा पाश्चात्य पद्धति के अलंकारों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह है कि अभिव्यक्ति की जितनी सचित्र अथवा विचित्र प्रणालियाँ हैं, उन सबका संबन्ध वस्तुतः अभिधा, लक्षणा अथवा व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों से ही है। एक दृष्टि से देखा जाय तो अलंकार भी वस्तु की वैचित्र्यमयी प्रणाली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विन्दु से विचार किए जाने पर अलंकारों और शब्द-शक्तियों के सापेक्ष अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। कामायनी का कवि शब्द-शक्तियों का धनी है। लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक वक्रता के मनोरम प्रयोगों के कारण कामायनी में बहुविध भारतीय तथा पाश्चात्य पद्धति के अलंकारों के सुन्दर प्रयोग हुए हैं जो पाठक का ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहते।

कामायनी में उक्त अलंकार-निरूपण के पश्चात् अंत में अलंकार-विषयक स्वयं प्रसाद के मत को उद्‌घृत करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। कवि के शब्दों में "जो अलंकार बाह्य सादृश्य की अपेक्षा आन्तर सादृश्य को प्रकट करने वाले होते हैं, वे ही काव्य में भावोत्कर्ष बढ़ाने में सहायक होते हैं।"

कामायनी के अलंकार-विश्लेषण में ऊपर जो भारतीय तथा पाश्चात्य अलंकारों के उदाहरण दिए गए हैं, उनसे इस महाकवि के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि प्रसाद जैसा महाकवि केवल प्रचलित अथवा बहुश्रुत परिपाटी का ही अनुसरण नहीं करता, भावाभिव्यक्ति के लिए अनेक स्थानों पर वह अपने लिए स्वतंत्र पद्धति का निर्माण कर लेता है। एक उदाहरण लीजिए—

मधुमय वसन्त जीवन वन के, बह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरों में !
क्या तुम्हें देख कर आते यों, मतवाली कोयल बोली थी !
उस नीरवता में अलसायी कलियों ने आँखें खोली थीं !
जब लीला से तुम सीख रहे, कोरक कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी में, बिछलन न हुई थी ? सच कहना ।
(काम सर्ग)

इन पंक्तियों में प्रयुक्त अलंकार लांजाइनस द्वारा निरूपित प्रश्न अलंकार से भिन्न है, इसे मात्र संबोधनालंकार (Apostrophe) का भी नाम नहीं दिया जा सकता और न इसे काकु वक्रोक्ति तक ही सीमित रखा जा सकता है। निश्चय ही यह एक नूतन शैली का अलंकार है जिसे चाहे 'प्रश्न' का ही नाम दें किन्तु इस अलंकार के स्वरूप को समझने के लिए इसका व्याख्यान अपेक्षित होगा। चन्द्रगुप्त नाटक में भी यौवन का निम्नलिखित चित्र अंकित किया गया है—

"अकस्मात् जीवन-कानन में राका-रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कह कर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाना है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी छिपी रहती हैं।" (चन्द्रगुप्त ४।६)

किन्तु कामायनी में संबोधनात्मक प्रश्न-पद्धति पर यौवन की जो छवि अंकित हुई है उसमें आत्मीय स्पर्श अपेक्षया अधिक है। उक्त प्रश्नों में व्यक्तिगत अनुभूति की झलक है तथा 'सच कहना' द्वारा निषेधात्मक उत्तर की अस्वीकृति व्यंजित है।

कामायनीगत प्रश्नालंकार के अन्य रूपों के विश्लेषण के लिए निम्नलिखित उदाहरण ध्यातव्य हैं:—

१. जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में, सिन्धु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी ! (स्वप्न सर्ग)

यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसमें मन्दाकिनी से उत्तर की अपेक्षा की गई है। यह तो एक अलंकृत शैली है जिसके माध्यम से कवि सुख-दुःख के ऐकात्म्य-भाव को ध्वनित कर अपने दार्शनिक विचारों को सरस शैली में अभिव्यक्त कर देता है।

२. और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान
"शक्तिशाली हो, विजयी बनो" विश्व में गूँज रहा जय गान। (श्रद्धा सर्ग)

यहाँ वक्ता ने स्वयं प्रश्न की उद्भावना द्वारा उसका उत्तर दे दिया है। किसी दूसरे की विचार-धारा को अपने अनुकूल बनाने के लिए इस प्रकार की प्रश्नोत्तर-पद्धति अत्यंत उपयुक्त है।

३. तुम कौन ? हृदय की परवशता ? सारी स्वतंत्रता छीन रही।
(लज्जा सर्ग)

यहाँ प्रथम प्रश्न के उत्तर के रूप में दूसरे प्रश्न की संभावना की गई है और 'सारी स्वतंत्रता छीन रही' द्वारा उत्तर पर यथार्थता की छाप लगादी गई है। यह प्रश्नोत्तर नाटकीयता लिये हुए है।

४. यह कौन ? अरे फिर वही काम !

यहाँ पहले प्रश्न-सा करके स्मरण-पद्धति द्वारा उत्तर दे दिया गया है।

५. ऊषा की सजल गुलाली जो घुलती है नीले अम्बर में,
वह क्या है ? क्या तुम देख रहे वर्णों के मेघाडम्बर में।
अन्तर है दिन औ रजनी का यह साधक कर्म बिखरता है,
माया के नीले अंचल में आलोक विन्दु-सा झरता है। (काम सर्ग)

कभी-कभी वक्ता श्रोता के समक्ष इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित करता है जिसके उत्तर की वह श्रोता से आशा नहीं रखता। इसलिए अपनी विज्ञता द्योतित करने के लिए प्रश्न के उत्तर के रूप में वह किसी रहस्य का उद्घाटन करता है।

उक्त पंक्तियों में भी प्रश्नोत्तर की यही शैली दृष्टिगोचर होती है। कोई अलंकारशास्त्री चाहे तो कामायनी में प्रयुक्त प्रश्नों के आधार पर प्रश्नालंकार के अनेक भेदोपभेद स्थिर कर सकता है।

प्रश्न अलंकार के अतिरिक्त कामायनी के कतिपय अन्य अलंकार भी उल्लेख्य हैं। जब कोई व्यक्ति स्वयं अपना नाम लेकर कोई भाव प्रकट करता है तो उससे भी अभिव्यक्ति में एक अद्वितीय वैशिष्ट्य आ जाता है। यथा,

१. कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सह ले। (स्वप्न सर्ग)

२. आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम, असफल हुए विलीन हुए। (चिन्ता सर्ग)

उक्त पद्धति को संबोधनालंकार के एक उपभेद के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है।

वाल्मीकि से लेकर आधुनिक कवियों तक में उस विषम पद्धति के प्रति एक प्रकार का अनुराग दिखलाई पड़ता है जिससे उक्ति में प्रभविष्णुता तथा मार्मिकता का संचार हो जाता है। 'चिन्ता' सर्ग से उक्त शैली के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं:—

रत्न सौध के वातायन, जिनमें आता मधु मदिर समीर,
टकराती होगी अब उनमें तिमिङ्गलों की भीड़ अधीर।
देव कामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।

प्राचीन आचार्यों ने जहाँ विषम अलंकार के अनेक भेद किए हैं, वहाँ उक्त पद्धति के वैषम्य को भी 'विषम' के एक अतिरिक्त भेद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

विस्मयादिबोधक अलंकार Exclamation) के भी अनेक निदर्शन कामायनी में प्राप्य हैं जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत हैं:—

१. आह ! कल्पना का सुन्दर यह, जगत मधुर कितना होता !
सुख स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो जगता सोता।
(आशा सर्ग)

२. आह शून्यते ! चुप होने में तू क्यों इतनी चतुर हुई,
इन्द्रजाल जननी ! रजनी तू क्यों अब इतनी मधुर हुई ? (आशा सर्ग

क्रमश: चरम सीमा (Climax) तक पहुँचती हुई निम्नलिखित उक्ति भी अलंकार की दृष्टि से कम आकर्षक नहीं है :—

आलिंगन ! फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे काँप उठी !
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण-पथ नाप उठी !
अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुङ्कार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।
(स्वप्न सर्ग)

'चिन्ता' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में 'संवेदनात्मक हेत्वाभास' नामक अलंकृति का निदर्शन हुआ है—

निकल रही थी मर्म वेदना, करुणा विकल कहानी-सी,
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती-सी पहचानी-सी।

अनेक स्थानों पर जहाँ प्रसाद ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है, वहाँ कवि ने उसे आन्तर स्पर्श के कारण नूतन आभा से मंडित कर दिया है। उदाहरणार्थ—

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय,
घन पटल में डूबता था किरण का समुदाय।
कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छल छन्द,
मधुकरी का सुरस संचय हो चला अब बन्द।

उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन,
भेंटता अंतिम अरुण आलोक वैभवहीन।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक,
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक। (वासना सर्ग)

यहाँ पर रूपकातिशयोक्ति अलंकार का केवल शुष्क प्रयोग नहीं है, कवि ने इस अलंकार द्वारा सन्ध्या के समय एक करुणा लोक के वातावरण का अच्छा चित्रण किया है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी में प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के अलंकारों के साथ-साथ पाश्चात्य अलंकारों तथा छायावादी शैली के अनेक लक्षणामूलक तथा ध्वन्यात्मक अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

कामायनी की अभिव्यंजना-शैली के सम्पूर्ण परीक्षण के बाद, संभव है, कुछ ऐसे अलंकरण भी प्रकाश में आएँ जिनका अभी तक नामकरण नहीं हुआ है। संस्कृत के प्राचीन कवि पर्वत, समुद्र, ऋतु आदि का वर्णन करते समय अपनी वर्णन-क्षमता प्रदर्शित करने के लिए बहुविध अलंकारों का प्रयोग किया करते थे किन्तु कामायनी के कवि में इस प्रकार की स्पर्धा कहीं लक्षित नहीं होती। प्रसाद ने भी कामायनी में सन्ध्या, समुद्र, पर्वत आदि का वर्णन किया है किन्तु उनके वर्णन में प्राय: सर्वत्र भावना की आर्द्रता है। जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है, इस महाकाव्य में अलंकारों का प्रयोग भाव-प्रेरित है यद्यपि दर्शन, रहस्य और आनन्द शीर्षक अंतिम तीन सर्गों में विचारों की प्रधानता के कारण भावना का वह आवेग दृष्टिगोचर नहीं होता जो कामायनी के पूर्ववर्ती सर्गों में व्याप्त है।

क्षेमेन्द्र ने देश, काल आदि को दृष्टि में रखते हुए औचित्यपूर्ण होने पर ही अलंकारों को अलंकार माना है। लोंजाइनस ने भी स्थान, ढंग, परिस्थिति और उद्देश्य को दृष्टि में रख कर अलंकार-प्रयोग के औचित्य को स्वीकार किया है। अलंकार किसे अलंकृत करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक भारतीय आचार्यों ने यही उत्तर दिया था कि अलंकार भाव या रस को अलंकृत करते हैं—अलंकार साधन मात्र हैं, उन्हें साध्य के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। कामायनी के कुछ समीक्षकों ने कामायनीगत कतिपय अलंकारों के अनौचित्य की ओर संकेत किया है। अत: चाहे यह कहना संभव न हो कि इस महाकाव्य के सभी अलंकार औचित्यपूर्ण हैं, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि कामायनी के अधिकांश प्रसंगों में अलंकारों का प्रयोग औचित्यपूर्ण हुआ है।

लोंजाइनस के शब्दों में 'अलंकार का सबसे सफल प्रयोग वह है जहाँ इस बात पर भी किसी का ध्यान न जाय कि यह अलंकार है।'[१] कामायनी में प्रयुक्त

१. द्रष्टव्य काव्य में उदात्त तत्त्व (अनु. डॉ. नगेन्द्र तथा श्री नेमिचन्द्र जैन) पृ.७७

सभी अलंकारों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इस महाकाव्य के अलंकारों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अनेक स्थानों पर महाकवि प्रसाद की शैली की वक्रता तुरन्त हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है; फिर भी कामायनी में ऐसे कई स्थल हैं जहाँ अलंकार अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हो गए हैं और जहाँ वे अपनी पृथक् सत्ता का उद्घोष करते हुए प्रतीत नहीं होते।

लोंजाइनस ने विस्तारणा संबोधन, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम पुनरावृत्ति, छिन्न वाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, स्तर, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि का मनोवैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया है। कामायनी के अलंकारों का भी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर विशद विवेचन अपेक्षित है। कौनसा अलंकार किस प्रकार भावोत्कर्ष में सहायक होता है, किस प्रकार कहीं अलंकार और अलंकार्य भिन्न भिन्न प्रतीत होते हुए बहिरंग पक्ष का द्योतन करते हैं, किस प्रकार कहीं अलंकार और वर्ण्य विषय उक्ति के अभिन्न अंग बन जाते हैं, किस प्रकार अलंकार प्रसंगानुरूप प्रयुक्त होकर औचित्यपूर्ण बन गए हैं, किस प्रकार विभिन्न अलंकारों का एकत्र गुंफन किसी संश्लिष्ट भाव-राशि की अभिव्यक्ति में सहायक हुआ है, किस प्रकार अलंकारों के समुचित प्रयोग से वातावरण-सृष्टि में सहायता मिली है तथा किस प्रकार शब्दालंकारों द्वारा कामायनी में नाद-सौन्दर्य छलक उठा है आदि के विवेचन के साथ-साथ कामायनी में प्रयुक्त अलंकारों के स्खलन पर भी विचार किया जाना चाहिए। इस महाकाव्य में नियोजित अलंकारों द्वारा पात्रों की मनोदशा पर जहाँ प्रकाश पड़ता है, वहाँ अप्रत्यक्ष रूप से वे कवि के व्यक्तित्व के भी अभिव्यंजक हैं।

कामायनी का सर्वांगीण आलंकारिक निरूपण किए जाने पर इस महाकाव्य के अलंकारविषयक अनेक तथ्यों पर नूतन प्रकाश पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं।

लक्ष्मण का चरित्र और गुप्तजी का मानवीय दृष्टिकोण

लक्ष्मण उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। जब सुमन्त्र राम-लक्ष्मण और सीता को वन में छोड़ कर वापिस अयोध्या जाने लगे तो लक्ष्मण के मुख से कुछ कटु शब्द निकल पड़े, किन्तु राम ने बहुत ही अनुचित जान कर उनको मना कर दिया और सकुचा कर अपनी सौगन्ध दिला कर सुमंत्र से कहा कि आप राजा को लक्ष्मण का वह सन्देश न कहिएगा—

पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी।
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन संदेसु कहिअ जनि जाई।।

किन्तु सुमन्त्र से न रहा गया। उन्होंने जो सच-सच बात थी, कह सुनाई। वे लगे कहने—

लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा।
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई।।

लक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे। किन्तु राम ने उन्हें बरज कर फिर मुझसे अनुरोध किया, बार-बार अपनी सौगन्ध दिलाई और कहा—हे तात! लक्ष्मण का लड़कपन वहाँ न कहना।

राम द्वारा बार-बार सौगन्ध दिलाए जाने पर भी सुमत्र ने लक्ष्मण के कटु वचनों की जो चर्चा की, उसका रहस्य राम के शील की व्यंजना ही समझिए। किन्तु लक्ष्मण के वे कटु शब्द क्या थे, रामचरितमानस से इसका कुछ पता नहीं चलता। मर्यादावादी कवि ने उन शब्दों को गम्य ही रखा है। किन्तु मैथिलीशरण गुप्त ने अपने महाकाव्य साकेत में एक अन्य प्रसंग पर लक्ष्मण से निम्नलिखित अमर्यादित शब्द कहलवाए हैं:—

"खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी, हतभागिनी यह,
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा,
न रोको तुम, तभी मैं शान्त हूँगा।

बने इस दस्युजा के दास हैं जो,
इसी से दे रहे वनवास हैं जो,
पिता हैं वे हमारे या—कहूँ क्या ?
कहो हे आर्य ! फिर भी चुप रहूँ क्या ?

लक्ष्मण ने कैकेयी के लिए नागिनी, अनार्या की जनी आदि शब्दों का प्रयोग किया है तथा अपने पिता दशरथ के लिए वे कहते हैं कि जो इस दस्युजा कैकेयी के दास हैं और इसीलिए जो वनवास दे रहे हैं, उन्हें पिता कहूँ या कुछ और ?

लक्ष्मण की इस प्रकार की अरुंतद उक्तियों को लेकर समीक्षकों ने कहना प्रारम्भ कर दिया—गुप्तजी ने लक्ष्मण के चरित्र में नवीनता भले ही दिखाई हो किन्तु कैकेयी और दशरथ के प्रति कही गई उक्तियाँ बेहद खटकती हैं। इस पर स्पष्टीकरण के रूप में गुप्तजी ने लिखा था—

"संसार के रंगमंच पर जो पात्र उतरते हैं, उनमें से कुछ ही ऐसे होते हैं जो सीखे-सिखाए आते हैं। अधिकांश को यहीं सीखना पड़ता है। रामायण के अधिकतर पात्र प्रथम प्रकार के हैं जैसे राम और भरत। दूसरे प्रकार के पात्रों में तपस्वी लक्ष्मण ही एक हैं। वे राम और भरत की भाँति गढ़े-गढ़ाए नहीं थे। अनेक घात-प्रतिघात सह कर उन्होंने अपने को आप गढ़ा। अथवा यह कहिए, उनमें मानुषी भाव अधिक है। उनका यह मनुष्यत्व ही मुझे अधिक आकर्षित करता है। अयोध्या के पुरुष पात्रों में लक्ष्मण ने ही मुझे यह सुयोग दिया है कि साकेत में दैवी और मानुषी दोनों प्रकार के पात्र मैं पा गया हूँ। ऐसा सुलभ सुयोग मैं कैसे छोड़ देता ? साकेत की बात जाने दीजिए, वाल्मीकि और तुलसी के लक्ष्मण भी वैसे ही हैं जैसे वे हैं। उनका स्वभाव सब कहीं उत्तेजनशील दिखाई देता है। भास ने दशरथ की मूर्च्छा के उपलक्ष में कैकेयी को लक्ष्य करते हुए, उनके द्वारा राम से यहाँ तक कहलाया है—

यदि न सहसे राज्ञो
मोहं धनुः स्पृश मा दयां।
स्वजनि मृतः सर्वोप्येवं
मृदुः परिभूयते।
अथ न रुचितं मुंच त्वं
मामहं कृतनिश्चयो।
युवतिरहितं लोकं कर्तुं
यतश्छलिता वयम्।

इधर साकेत में लक्ष्मण की बात सुन कर मेरे एक विद्वान् समालोचक कहते हैं कि हम सरीखे जनों को भी ऐसी बात कहने में संकोच होगा। मेरा निवेदन है

कि यदि वे सचमुच लक्ष्मण को अपने से महान् मानते हैं तो यह क्यों नहीं मानते कि बड़ों की सभी बातें बड़ी होती हैं। परन्तु यदि वे यह बात मान लेते तो मुझे क्षमा करना पड़ता।

द्रौपदी के अपमान पर भीमसेन जब दुःशासन के शोणितपान की प्रतिज्ञा करते हैं तब भी संभवतः ऐसे समालोचक महोदय काँप उठें और कहें कि यह अमानुषिक है, विशेष कर जब पांडव स्वयं द्रौपदी को दाँव पर रख कर हार चुके थे। परन्तु कोई भीमसेन के मन का क्या करे ? स्मरण आता है, महाभारत के युद्ध में एक बार धर्मराज युधिष्ठिर ने अर्जुन के वीरत्व को, विजय से निराश होकर, धिक्कारा। उनके गांडीव को बुरा-भला कहा। इस पर अर्जुन उन्हें मारने पर उतारू हो गये थे। श्रीकृष्ण ने बीच में पड़ कर किसी प्रकार उन्हें शान्त किया। नहीं कह सकता "हम सरीखे पापी प्राणी भी इस कलियुग में" अर्जुन से अधिक से अधिक क्या कह सकते हैं ?

मेरे लक्ष्मण तो आरम्भ में एक सैनिक मात्र हैं। उनका पत्नी-प्रेम भी वासनामय है। उन्हें देवत्व सहज ही नहीं मिल गया। उसकी साधना के लिए उन्हें चौदह वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी है। बलराम को शराबी कहने के समान कोई उनकी कितनी ही निन्दा क्यों न करे, कृपा कर इसे न भूले कि

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

परन्तु यह भी श्रीमुख-वाक्य है–'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

मेरा तो विश्वास है कि इसी साधना के लिए राम उन्हें वन ले गये थे। नहीं तो उर्मिला की व्यथा का उनके निकट कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। किसी विशेष कारण के बिना यदि उर्मिला के पति-वियोग को राम स्वीकार कर लेते तो वे राम न होकर क्या होते, यह मैं कैसे कहूँ ?

यह ठीक है कि उन्होंने अपने इस कठोर कर्त्तव्य की ओर कोई संकेत नहीं किया तथापि 'पिय हिय की सिय जाननहारी' से यह छिपा न रहा। तभी तो उन्होंने चित्रकूट में यह कह कर संतोष माना था–

अच्छा ले आये आर्यपुत्र तुम इनको
ये तुम्हें छोड़ कब कहाँ मानते किनको।
संतोष मुझे है आज, यहाँ देवर ये,
हाँ, क्या जाने क्या कर न बैठते घर ये।

दुःख की बात है कि जो अपराध मैंने किया है, जानबूझ कर किया है। मैं जानता हूँ, ऐसे अपराध का दंड और भी कड़ा होजाता है, परन्तु मैं विवश था। स्वयं लक्ष्मण भी अपने समालोचकों को जानते थे। इसी से वे उर्मिला के हृदय में बैठ कर कहते हैं—

'गिन सको, गिनो शूल जो चुभे,
सहज है समालोचना शुभे !' [१]

गुप्तजी के उक्त पत्र को पढ़ कर स्पष्ट है कि उन पर 20वीं शताब्दी के मानववाद का प्रभाव है और तुलसी के दृष्टिकोण से उनका दृष्टिकोण भिन्न है। प्रोटागोरस (Protagoras) ने कहा था 'Man is the measure of all things' अर्थात् मनुष्य ही सब वस्तुओं का मानदण्ड है। किन्तु मनुष्य सब वस्तुओं का मानदण्ड तभी बन सकता है जब उसे सद्‌बुद्धि की प्रेरणा प्राप्त हो। यदि वह पूर्वग्रहों और राग-द्वेष का शिकार बना रहा तो उसे मानदंड के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? सुकरात ने इस बात पर बल दिया कि सम्यक् ज्ञान से सम्यक् कार्य और सम्यक् कार्य से सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए सुकरात ने 'अपने आपको जानो' इस प्रज्ञा-सूत्र का प्रवर्तन किया। प्लेटो ने बुद्धि, भावना और इच्छा के सामंजस्य की पुष्टि की। अरस्तू ने भी मनुष्य की बुद्धि को महत्वपूर्ण ठहराया और कहा कि मनुष्य का मूल्यांकन मनुष्य की तरह ही होना चाहिए, देव या दानव के रूप में नहीं। सोफोक्लीज की यह उक्ति भी प्रसिद्ध ही है–Wonders are many and none is more wonderful than man.

पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने की अपेक्षा मानववाद का ध्यान इस जीवन को सुखमय बनाने की ओर गया। 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' में भी उसी प्रकार की मानववादी भावना दृष्टिगोचर होती है।

राजा राममोहन राय, गाँधी, टैगोर, मुल्कराज आनन्द आदि में मानववादी सिद्धान्तों की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। लगता है कि गुप्तजी पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मानववाद का प्रभाव पड़ा है। Julian Huxley का कहना है कि प्रकृति के विकास में मनुष्य अन्यतम है। प्रकृति में जो कुछ हो रहा है, उसकी प्रतीति प्रकृति को नहीं होती किन्तु मनुष्य प्राकृतिक जगत् के विकास का द्रष्टा भी है, उसके प्रति जागरूक, सतर्क और सचेष्ट भी वह हो सकता है। हक्सले की दृष्टि में कला

---

१. द्रष्टव्य श्रीवेंकटेश नारायण तिवारी के नाम लिखा हुआ श्री गुप्तजी का पत्र (दैनिक भारत, २४ नवम्बर, १६३३ ई०)

और विज्ञान एक ही सचाई के दो पहलू हैं और वे तभी सार्थक कहे जा सकते हैं जब उनके द्वारा मानवजाति का भला हो।

मैथिलीशरण गुप्त को भी लक्ष्मण के चरित्र की दुर्बलताएँ, उसका मानवीय रूप आकृष्ट करता है। प्रयत्न और साधना द्वारा मनुष्य अपनी प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर सकता है, इसमें भी उसके मानवीय रूप की गरिमा सुनाई पड़ती है। शेक्सपियर ने तो हैमलेट में यहाँ तक कहा था–'Man, thou art a wonderful animal and thy ways are past finding out.' [1]

---

१. स्व० श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के निर्वाण-दिवस के अवसर पर हिन्दी भवन, पिलानी द्वारा बिड़ला बालिका विद्यापीठ में आयोजित एक समारोह में अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण का एक अंश।

'उद्धवशतक' में कहावत, मुहावरे तथा कहावती पदः एक विवेचन

विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से 'मुहावरे' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं। मेरी दृष्टि में 'मुहावरा' मूलतः लक्षणा-गर्भित नान्त रूढ़ि-प्रयोग है जो स्वतः पूरा वाक्य नहीं होता किन्तु जिसका वाक्यगत प्रयोग अभिधेय अर्थ से भिन्न चमत्कार की सृष्टि करता है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा में एक प्रकार की रवानी तथा संजीदगी आ जाती है जो सहृदयों तथा उस भाषा के जानने वालों के मन को विशेष रूप से मोहित कर लेती है। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि रत्नाकरजी के 'उद्धवशतक' में मुहावरों का प्राचुर्य है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कवित्त को लीजिए—

आए हौ पठाए वा छतीसे छलिया के इतै,
बीस बिस ऊधौ बीर बावन कलाँच ह्वै।
कहै रतनाकर प्रपंच ना पसारौ गाढ़े,
बाढ़े पै रहौगे साढ़े बाइस ही जाँच ह्वै।
प्रेम अरु जोग मैं है जोग छठैं-आठैं पर्यो,
एक ह्वै रहै क्यौं दोऊ हीरा अरु काँच ह्वै।
तीन गुन पाँच तत्त्व बहकि बतावत सो,
जैहै तीन-तेरह तिहारी तीन-पाँच ह्वै ॥७९

उक्त कवित्त की अन्तिम पंक्ति का अर्थ है—"तुम्हारी 'तीन-पाँच' तीन-तेरह' हो जायगी। 'तीन-पाँच करना' और 'तीन-तेरह होना,' दोनों ही हिन्दी के बहु-प्रचलित मुहावरे हैं जिनमें प्रथम का अर्थ है - 'इधर-उधर करना; घुमाव-फिराव या हुज्जत की बात करना' तथा द्वितीय का अर्थ है— 'तितर-बितर करना; इधर-उधर छितराना या अलग-अलग करना।' यहाँ पर तीन गुणों तथा पाँच तत्त्वों की चर्चा को 'तीन-पाँच' कह कर लाक्षणिक प्रयोग को विशेष अर्थवत्ता अथवा साभिप्रायता भी

प्रदान कर दी गई है । मूल रूप में मुहावरा नान्त प्रयोग होता है जैसे लाठी खाना, आकाश-पाताल एक करना आदि । 'छठैं आठैं पड़ना' भी एक ज्योतिषविषयक मुहावरा ही समझिए ।

उक्त कवित्त की प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'छतीसे छलिया' तथा द्वितीय पंक्ति में व्यवहृत 'बीसबिसै' को मुहावरा न मानकर कहावती पद (Phrase) की संज्ञा दी जानी चाहिए । 'कहावती पद' प्रायः अनेक शब्दात्मक होता है किन्तु कभी-कभी उसका एक शब्दात्मक रूप भी दृष्टिगोचर होता है । मुहावरे की भाँति इसका मूल रूप नान्त नहीं होता ।

इसी कवित्त का वाक्य 'एक ह्वै रहैं क्यों दोऊ हीरा अरु काँच ह्वै' आकार-प्रकार की दृष्टि से एक 'कहावत' का रूप लिए हुए है । हीरा और कांच एक साथ नहीं रहते, यह एक प्रकार की कहावत ही है ।

ऊपर दिए हुए कवित्त में कहावत, मुहावरे तथा कहावती पद, तीनों के एक साथ उदाहरण मिल जाते हैं, इसलिए जान-बूझकर ही प्रकृत प्रसंग में मैंने इस छन्द को उद्धृत किया है । मेरा सुझाव यह है कि 'उद्धव शतक' के भाषागत प्रयोगों का अध्ययन करते समय कहावत, मुहावरे तथा कहावती पद के अन्तर को दृष्टि में रखा जाना चाहिए । स्पष्टता के लिए तीनों का अन्तर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

१—कहावत का वाक्य प्रायः सर्वत्र ज्यों का त्यों रहता है किन्तु मुहावरे के वाक्यगत विविध प्रयोग हो सकते हैं । कहावती पद में भी सामान्यतः परिवर्तन नहीं होता ।

२—अर्थ की दृष्टि से कहावत स्वतः सम्पूर्ण वाक्य का रूप लिये होती है जबकि मुहावरे का वाक्यगत प्रयोग किया जाता है । कहावती पद भी वाक्य-प्रयुक्त होकर ही विशेष चमत्कार की सृष्टि करता है ।

३—मुहावरा वस्तुतः एक क्रिया है जबकि लोकोक्ति या कहावत एक प्रकार का नैतिक अथवा व्यावहारिक कथन है । कहावती पद संज्ञा, क्रियाविशेषण आदि विविध रूपों में प्रयुक्त होता है जैसा कि उद्धवशतक के उक्त कवित्त में प्रयुक्त कहावती पदों से स्पष्ट है ।

४—लोकोक्ति में कम से कम दो शब्दों का होना आवश्यक है जबकि मुहावरे में कभी-कभी एक ही क्रिया से काम चल जाता है । 'वह उस पर मरता है', इस वाक्य में 'मरना' एक मुहावरा है जो आसक्त होने के अर्थ में प्रयुक्त है । जैसा ऊपर कहा गया है, कहावती पद भी कभी-कभी एक शब्दात्मक होता है । गँवार अथवा

मूर्ख के लिए प्रयुक्त 'मूसल' शब्द उदाहरणार्थ रखा जा सकता है। इस प्रकार के एक शब्दात्मक कहावती पद में रूपक अलङ्कार की छटा दर्शनीय होती है।

इस प्रकार यदि कहावत, मुहावरे तथा कहावती पद के सूक्ष्म अन्तर को दृष्टि में रखा जाय तो हम कहना चाहेंगे कि 'उद्धव शतक' में कहावत का प्रयोग तो केवल नाम-मात्र के लिए ही कहीं-कहीं हुआ है, कहावती पद अवश्य अनेक कवित्तों में व्यवहृत हुए हैं किन्तु सर्वाधिक प्रयोग मुहावरों का हुआ है जिससे भाषा में एक प्रकार की जान आ गई है। मुहावरों के प्राचुर्य के कारण उद्धवशतक की भाषा नई आभा से मण्डित तथा भास्वर हो उठी है।

नियति और स्वातंत्र्य

भाग्यवादी यह मान कर चलते हैं कि जो कुछ भाग्य में लिखा है, वह होकर रहता है। महाभारत के शान्ति पर्व में मंकि ऋषि से सम्बन्धित एक उपाख्यान मिलता है जिसमें भाग्यवाद की महिमा गाई गई है।[1] कहा जाता है कि उक्त ऋषि ने धन प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु उनके सब प्रयत्न व्यर्थ रहे। अन्त में उनके पास जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसके बदले में उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे और उन दोनों को रस्सी से बाँध कर वे खेत की ओर चले। जब वे दोनों बछड़े गाँव से बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँट को बीच में करके सहसा दौड़ पड़े। जब वे उसकी गर्दन के पास पहुँचे, ऊँट भी भड़क कर खड़ा हो गया और भाग निकला। दोनों बछड़े ऊँट की गर्दन में लटक गये और मंकि ऋषि उनके लिए विलाप करते हुए पीछे भागे। बछड़ों को इस प्रकार लटकते और मरते देख मंकि ऋषि ने अपने अनुभव का निचोड़ निम्नलिखित श्लोक में रखते हुए कहा–

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् (१७७-१२)

अर्थात् इस ऊँट के गले में मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियों के समान लटक रहे हैं। यह केवल भाग्य की लीला है, हठपूर्वक किए गये पुरुषार्थ से क्या होता है?

बहुत संभव है, मंकि ऋषि का यह आख्यान, जिसे महाभारतकार ने मंकिगीता का नाम दिया है, मक्खलि गोसाल के नियतिवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए कल्पित कर लिया गया हो तथा महाभारत के मंकि ऋषि और जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में प्रसिद्ध मक्खलि गोसाल एक ही व्यक्ति हों। मक्खलि गोसाल और महावीर स्वामी के अनेक वाद-विवादों से यह प्रतीत होता है कि मक्खलि नियतिवादी और महावीर स्वामी पुरुषार्थवादी थे।[2] महाभारत में भी नियति–

१. महाभारत, शान्ति पर्व (१७७–१२)

२. श्रीमदुपासकदशाङ्गसूत्रम् (सातवाँ अध्याय)

वादी आचार्यों के पाँच सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है जो निम्नलिखित हैं—(१) सर्व-साम्य, (२) अनायास, (३) सत्यवाक्, (४) निर्वेद और (५) अविवित्सा ।[1] इससे सिद्ध है कि हमारे देश में भी नियतिवादी दर्शन की एक परम्परा रही है ।

भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी भाग्यविषयक मान्यताएँ प्रचलित रही हैं । ग्रीस के राष्ट्रीय जीवन में भाग्य सम्बन्धी विश्वास जिस रूप में बद्धमूल हो गया था, उसकी अच्छी अभिव्यक्ति यूरीपीडीज और सोफोक्लीज के नाटकों में हुई है । प्राचीन ग्रीस की पौराणिक गाथाओं के अनुसार तीन बहिनें भाग्य की अधिष्ठात्री देवियों के रूप में प्रख्यात हैं । उनमें से ज्येष्ठा एट्रौपस मृत्यु की देवी है जो निर्दिष्ट समय पर मनुष्य की जीवन-ग्रन्थि को कैंची से काट डालती है । मध्यमा लाकेसिस है जो जीवन की सूत्रधारिणी है और कनिष्ठा क्लोथो, जो जन्म की अधिष्ठात्री देवी है । मुसलमानों के अनुसार जो किस्मत को मानते हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान की प्रत्येक वस्तु पूर्वनिर्दिष्ट है । ईसाई जगत् में सेंट आगस्टाइन ने इस पूर्वनिर्दिष्टवाद का सर्वप्रथम प्रचार किया था । यहूदियों में भी फारिसी और एसीन सम्प्रदाय वालों ने मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का कोई अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया था ।

इसके विपरीत भारतीय दर्शनों का कर्म–सिद्धान्त किसी भी प्रकार के अन्ध पूर्वनिर्दिष्टवाद का समर्थन नहीं करता । यह वैज्ञानिक ढंग से प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मों की व्याख्या करता है । तथा कारण-कार्य-शृंखला के आधार पर अनिवार्यतः पूर्वजन्म को स्वीकार करके चलता है । बहुत संभव है, यह कर्म सिद्धान्त वैदिक ऋत से उद्भूत हुआ हो । इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों का ही फल भोगता है, इसलिए वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है ।[2] 'स्वतन्त्रःकर्ता' केवल पाणिनि का ही सूत्र नहीं, वह हमारे देश का दार्शनिक सूत्र भी है । वैज्ञानिक नियतिवाद के अनुसार भी परमाणु विश्लेषण पर जो विद्युत्कण उपलब्ध होते हैं, वे किसी पूर्व निर्धारित पद्धति पर चलते प्रतीत नहीं होते । उक्त विद्युत्कणों की स्वतन्त्रता से लगता है कि वे संकल्प-सम्पन्न हों । इस विचार-सरणि का आश्रय लेने से यह विश्व यन्त्रवत् प्रतीत न होकर किसी विचार के रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है ।[3] जिससे इसके प्रयोजनात्मक (Teleological) रूप की भी पुष्टि हो जाती है ।

१. महाभारत, शान्ति पर्व (१७१–२)
२. Man is man and master of his fate. (Tennyson)
३. The universe looks more like a thought than a machine.

दैव और पुरुषार्थ की आपेक्षिक प्रबलता से सम्बद्ध वाद-विवाद बहुत पुराना है। योगवासिष्ठकार ने तो प्राक्तन और अद्यतन, दोनों प्रकार के कर्मों को पुरुषार्थ की ही संज्ञा देते हुए कहा है:—

द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।
य एव बलवाँस्तत्र स एव जयति क्षणात्।
ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्।

अर्थात् प्राक्तन कर्म (दैव) और वर्तमान कर्म रूप दोनों पुरुषार्थ, दो मेंढ़ों की तरह परस्पर लड़ते रहते हैं और इन दोनों में जो अधिक बलवान् होता है, वह दूसरे को क्षण भर में परास्त कर देता है।

किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से, हमारे जीवन में दैव तथा पौरुष, दोनों का अपना-अपना स्थान है। माघ कवि के शब्दों में:—

नालम्बते दैष्टिकतां, न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव, द्वयं विद्वानपेक्षते। (शिशुपाल वध, २-८६)

अर्थात् विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष में ही स्थित रहता है। जिस प्रकार सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार विद्वान् भी, द व और पौरुष दोनों को जीवन में आवश्यक समझता है। गीताकार ने भी कार्य-सिद्धि में अधिकरण, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण तथा विविध चेष्टाओं के साथ "दैवं चैवात्र पंचमम्" कह कर दैव की भी सत्ता स्वीकार की है।

ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को जो ताश के पत्ते मिलते हैं, उसमें खिलाडी की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कोई हाथ नहीं रहता किन्तु उन्हीं पत्तों की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि-कौशल द्वारा चतुर खिलाड़ी जो खेल खेलता है, उसमें स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का पूरा योग है। इसी प्रकार पिता के चुनाव में पुत्र स्वतन्त्र नहीं है किन्तु पुत्र रूप में अवतरित व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकता है। कर्ण के सारथि-पुत्र होने की बात कहकर जब अश्वत्थामा ने उसके मर्मस्थल पर चोट करनी चाही तो कर्ण ने कहा था—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।

कर्ण की इस ओजमयी उक्ति में ही नियति और स्वातंत्र्य का तत्त्व समाहित है।

योग और वेदान्त

वर्तमान युग बुद्धि के चरमोत्कर्ष का युग है जब भौतिक जगत में अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाई पड़ रहे हैं। डाक्टर लोग हृदय के प्रतिरोपण में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हृदय-प्रतिरोपण में सफलता प्राप्त करने के बाद वे सिर-प्रतिरोपण का भी विचार कर रहें हैं। कथासरित्सागर में कभी पढ़ा था कि एक बार एक युवती स्त्री अपने पति के साथ एक मंदिर में गई। पति अकेला मंदिर में प्रविष्ट हुआ। प्रतिमा को देख कर पति के मन में वैराग्य जगा और उसने अपना सिर उतार कर देवी को अर्पित कर दिया। पत्नी ने अपने भाई को कुछ समय बाद मंदिर में भेजा किन्तु उसने भी यह दृश्य देख कर अपना सिर काट देवी को अर्पित कर दिया। अधीर होकर अंत में पत्नी भी मंदिर में गई और अपना सिर-विच्छेद करने ही वाली थी कि एक आवाज़ सुनाई पड़ी—तुम अपना प्राण-त्याग न करो, इन दोनों के सिर धड़ों पर लगादो और उन पर यह पानी छिड़क दो। पत्नी ने ऐसा ही किया किन्तु भूल से अपने पति का सिर भाई के धड़ पर और भाई क सिरा पति के धड़ पर लगा दिया। वैताल ने पूछा—स्त्री का पति कौन है क्या वह है जो उसके पति के धड़ के साथ है अथवा वह है जो उसके पति के सिर को धारण किए हुए है। विक्रमादित्य ने उत्तर दिया—पति वही है जो सिर को धारण किए हुए है, धड़ चाहे जो हो।

इस कथा को उद्धृत करने का अर्थ यही है कि विज्ञान कभी इस कथा को भी सत्य का रूप देने में यदि समर्थ हो गया तो कितने परिवर्तन हो जाएंगे।

विज्ञान के इस चरमोत्कर्ष के युग में ऐसा लगता है कि मनुष्य अपने असली स्वभाव को भूल गया है और उसने दूसरे का मस्तक प्रतिरोपित कर अपने विवेक को तिलांजलि दे दी है। वह जब तक अपने में स्थित नहीं रहेगा, कभी अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकेगा और गीताकार के शब्दों में तो स्वभाव अर्थात् स्वरूपोपलब्धि के अतिरिक्त अध्यात्म और कुछ नहीं है। "स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।"

भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान, दोनों क्षेत्रों में अपूर्व विकास होने पर भी मानव आज सुखी नहीं है। मनुष्य का मन दुश्चिंता, संत्रास, निराशा और मृत्यु-भय से आक्रान्त है। उसका मानसिक संतुलन बिगड़ा हुआ है। वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में विकास के साथ वह मानसिक दृष्टि से सुखी नहीं हो पाया है। मनुष्य के अंतर्जगत का विश्लेषण करने वाले फ्रायड ने अचेतन मन को अत्यधिक महत्त्व दिया था और सिद्ध किया था कि मनुष्य का अचेतन उसके चेतन मन का संचालन करता है। उसके मतानुसार दमित असामाजिक भावनाओं का पुंजीभूत रूप ही व्यक्ति का अचेतन मन है। एडलर ने हीन भावना के सिद्धांत का प्रतिपादन कर वैयक्तिक मनोविज्ञान का सूत्रपात किया था तथा युंग ने सिद्ध किया कि दमित प्रवृत्तियों का संचय अचेतन की सृष्टि तो करता है किन्तु इस अचेतन का दायरा बहुत विस्तृत है। समग्र मानव-जाति के आदिकाल से लेकर आज तक जिन सामूहिक वृत्तियों का दमन अब तक होता आया है, वे सब मानव के अंतर्मन में युगों से संचित हैं। युंग ने इसे सामूहिक चेतना का नाम दिया है। वह इस परिणाम पर पहुँचा था कि अचेतन की शक्तियाँ अन्ध शक्तियाँ होती हैं और उनमें संतुलन स्थापित करने के लिए आध्यात्मिक शक्तियों के जगाने की आवश्यकता होती है। फ्रायड, एडलर और युंग ने विश्लेषण द्वारा जिस अचेतन का व्याख्यान किया है, कालिदास को भी प्रातिभ ज्ञान द्वारा अचेतन की झलक मिली थी जैसा कि अभिज्ञान शाकुन्तल के निम्नलिखित श्लोक से प्रकट है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।।

उक्त श्लोक का 'अबोधपूर्वस्मरण' निश्चय ही अचेतन मन का व्यापार है जिसका पूर्वाभास कालिदास फ्रायड से सैकड़ों वर्ष पहले दे चुके थे। फ्रायड, एडलर आदि जन्मान्तरवादी नहीं जबकि कालिदास जन्मांतरवादी थे—अतः उन्होंने जन्मजन्मांतरों में संचित अथवा स्थिर भावों के स्मरण की बात कही है। कालिदास के इस अबोधपूर्वस्मरण की तुलना किसी अंश में जुंग के "सामूहिक अचेतन" से की जा सकती है।

अचेतन मन के उपद्रवों का शमन करने के लिए सामान्यतः मनोवैज्ञानिकों द्वारा उदात्तीकरण अथवा उन्नयन का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है किन्तु हमारा अनुभव इस बात का साक्षी है कि सभी के लिए उन्नयन का मार्ग संभव नहीं होता।

पातंजल योग-दर्शन में चित्तवृत्ति निरोध को 'योग' की संज्ञा दी गई है जिसके परिणामस्वरूप द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है जैसा कि नीचे के सूत्र से प्रकट है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।३।।

अर्थात् वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने रूप में स्थित हो जाता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि द्रष्टा स्वस्थ हो जाता है। अतः यह स्वास्थ्य-लाभ ही योग-दर्शन का मुख्य ध्येय प्रतीत होता है। गीता में भी निम्नलिखित श्लोक में प्रयुक्त 'स्वस्थ' शब्द इसी अर्थ का द्योतक है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। (१४।२४)

पातंजल योग-शास्त्र में स्वास्थ्य अथवा स्वरूपावस्थान की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बताये गये हैं जिन सबका विस्तार-भय से यहाँ विवेचन संभव नहीं।

गीता में कहा गया है कि विषयों के ध्यान से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती हैं तथा आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह तथा सम्मोह से स्मृति-भ्रंश तथा स्मृति-भ्रंश से बुद्धि-नाश होता है। इस स्थिति से बचने के लिए केवल बाह्य निग्रह से काम नहीं चल सकता। बाह्य निग्रह कर विषयों का मानसिक चिंतन करने वाला मनुष्य पाखंडी कहलाता है।

अतः उक्त स्वास्थ्य–प्राप्ति का मार्ग वास्तव में बड़ा दुष्कर है। इच्छाओं को हठपूर्वक दबाने से भी मनुष्य स्वस्थ न होकर कुण्ठाओं का शिकार होने लगता है। जैन–योग में तो संभवतः इसीलिए सर्वाधिक बल ध्यानयोग पर दिया गया है। प्राणायाम के संबन्ध में आचार्य हेमचंद्र सूरि का मत है कि उसे बलपूर्वक नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से शारीरिक पीड़ा के साथ-साथ मन को कष्ट होकर ध्यान में बाधा पड़ने की संभावना रहती है जिससे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं होता।

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैकदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः ।।

भारतीय दर्शन-शास्त्रों में भी संस्कारों के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। जिस व्यक्ति में पूर्वजन्म, पूर्वज अथवा माता-पिता के अच्छे संस्कार बीज-रूप में वर्तमान रहते हैं, वह अपेक्षाकृत शीघ्रता से स्वरूप-लाभ कर सकता है,

महर्षि कपिल ने भी कहा है—

"तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।"

अर्थात् वृत्तियों के निवृत्त होने पर विषयों के प्रति जब उपराग शान्त हो जाता है तब आत्मा स्वस्थ हो जाती है। चित्त का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है।

चित्त का प्रवाह शान्त और अक्षुब्ध रहे, इसके लिए दिन रात प्रयत्न करना पड़ता है। संस्कार मन्द न हुए तो चित्त क्षोभरहित और शान्त हो सकता है जैसा कि पतंजलि कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। (३।१०)

अर्थात् संस्कार के कारण चित्त की प्रशान्तवाहिता प्राप्त होती है। सामान्यतः देखा जाता है कि हमारा चित्त सर्वार्थ होता है अर्थात् एक के बाद एक सभी प्रकार के पदार्थ उसके विषय बनते रहते हैं। हमारा विक्षिप्त चित्त देर तक एक जगह टिक नहीं सकता। यदि सतोगुण की मात्रा में वृद्धि हो तो चित्त की सर्वार्थता कुछ कम होने लगती है और समाधि परिणाम का उदय होने लगता है। चित्त में वस्तुतः सर्वार्थता और एकाग्रता में संघर्ष चलता रहता है। एकाग्रता का संस्कार अन्तर्मुख बनाता है और सर्वार्थता-संस्कार बहिर्मुख रखना चाहता है। यदि एकाग्रता-संस्कार प्रबल हो तो चित्त समाधि की ओर जा सकेगा अन्यथा फिर व्युत्थान अर्थात् जगत के विषयों की ओर चित्त जाने लगेगा जैसा कि पतंजलि ने कहा है:—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। (-।११)

भाष्यकार के शब्दों में "निरोध संस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयते इति।

सर्वार्थता और एकाग्रता के इस संग्राम के संबन्ध में कबीर का निम्नलिखित पद ध्यातव्य है:—

साध संग्राम है विकट बेड़ा मती, सती और सूर की चाल आगे।
सती घमसान है पलक दो चार का, सूर घमसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यन्त का काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग ढीली करै, उलट मन गगन से जमीं आई।।

'उलट मन गगन से जमीं आई' उसी व्युत्थानधर्मी संस्कार की ओर इंगित कर रहा है।

ऊपर जीव के जिन प्राक्तन आदि से संबद्ध संस्कारों की चर्चा की गई हैं, आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र उनको मानने के पक्ष में नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों में "Existence precedes essence." अर्थात् तत्त्व के पहले सत्ता

अर्थात् अस्तित्व की स्थिति है। सार्त्र के इस सुप्रसिद्ध सूत्र की व्याख्या में कहा गया है–"Man is not ready-made at the beginning. He has to make himself and to choose the conditions under which he is to live. Thus "there is no human nature, because there is no God to have a conception of it. Man simply is. Not that he is simply what he conceives himself to be, but he is what he wills, and as he conceives himself after already existing–as he wills to be after that leap towards existence."[1]

अर्थात् मनुष्य प्रारंभ में बना-बनाया नहीं होता। उसे स्वयं अपना निर्माण करना पड़ता है। मानवी प्रकृति जैसी कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य को स्व-निर्माण के लिए पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। मानव-बाह्य कोई मूल्य नहीं हैं। मूल्यों का निर्माण मनुष्य को स्वतः करना पड़ता है। यह कार्य केवल सोचने से नहीं हो सकता। इसके लिए इच्छा और क्रिया का योग अनिवार्य है। जो भी हो, हमारे प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में तो पूर्वजन्म आदि के संस्कारों को महत्त्व दिया गया है।

ऊपर अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों के निरोध की बात कही गई है। किन्तु चित्तवृत्तियों का निरोध वस्तुतः बहुत ही दुष्कर व्यापार है। योगाभ्यास करने वाले साधक के मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं जिनका निम्नलिखित पातंजल-सूत्र में उल्लेख हुआ है—

व्याधिस्त्यानसंशय प्रमादालस्यविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध—
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि विक्षेपास्ते अन्तरायाः (१।३०)

अर्थात् व्याधि, स्त्यान (मानसिक आलस्य), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, प्रयत्न करने पर भी योग की भूमियों में अप्रवेश, ऊँची भूमि में चित्त का स्थिर न रहना – ये चित्त के विक्षेप रूप विघ्न हैं। इन विघ्नों के साथ ही दुःख, दौर्मनस्य, अंग-कंपन और श्वास-प्रश्वास भी आ पहुँचते हैं।

अतः योगाभ्यासी के लिए आवश्यक है कि वह निम्नलिखित बातों को लेकर प्रतिदिन पर्यवेक्षण करे और विक्षेप रूप विघ्नों से लोहा लेता रहे—

१. **विचारों का स्वरूप**—साधक के मन में बुरे-भले किस तरह के विचार आते हैं—कौनसे विचारों का प्राचुर्य होता है आदि।

२. **सूने क्षण**—क्या ऐसे सूने क्षण भी आते है जब वह हताशा और अवसाद का शिकार होकर निराशावादी बनने लगता है ?

३. **विचारों की दिशा**—यह देखना चाहिए कि साधक का मन किस प्रकार के विचारों में रमता है ?

---

१. Existentialism from Dostoveske to Sartre, p. 290–291.

४. भाव-साहचर्य—एक भाव के साथ क्या न्यस्त स्वार्थ और स्वप्निल विचारों का उदय होता रहता है ?

५. वास्तविक और आदर्श का संघर्ष—जब साधक के मन में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष होता है तो विजय किसकी होती है ?[१]

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की किसी भी इच्छा का नाश नहीं होता। मानवी आकांक्षाओं के तीन मार्ग सामान्यत: दिखलाई पड़ते हैं:—(१) मनुष्य इस प्रकार का कार्य करता है जिससे वह अपनी आकांक्षाएँ पूरी कर सके, किन्तु उसकी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती। (२) उसकी बहुत-सी असामाजिक इच्छाएँ अतृप्त रह जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप कुंठाओं का जन्म होता है और मनुष्य के मन में गाँठें पड़ जाती हैं जिनका सुलझाना बहुत कठिन होता है। (३) इच्छाओं का उन्नयन किया जा सकता है। नारी के प्रेम में अनुरक्त तुलसीदास राम के प्रेम में तल्लीन हो जाते हैं, आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बदल जाता है और आकांक्षाएँ उदात्त जीवन की ओर उन्मुख हो जाती हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, विषयों का ध्यान करने से उनमें आसक्ति बढ़ती है, असामाजिक इच्छाओं के हठात् दमन से कुंठाओं की सृष्टि होती है किन्तु पतंजलि ने अपने योग-सूत्र में एक ऐसा उपाय बताया है जिससे विषयों में न आसक्ति बढ़े और न मन में कुंठाओं का जन्म हो—और वह उपाय है—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।। (२।३३)

अर्थात् जब वितर्क (यम और नियमों के विरोधी हिंसादि भाव यम-नियम के पालन में) बाधा पहुँचाएँ तब प्रतिपक्षी विचारों का बारम्बार चिंतन करना चाहिए। यदि मन विषयों की ओर जाता हो तो "दु:खाज्ञानानन्तफला" अर्थात् विषय-भोग दु:ख और अज्ञान के अनन्त फल देने वाले हैं, यह मान कर बारम्बार प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। गीताकार के "सदा तद्भावभावित:" से भी यही आशय ध्वनित होता प्रतीत होता है।

गम्भीर मनोविज्ञान के विशेषज्ञ डा० इरा प्रोगाफ के शब्दों में "जीवन के किसी मोड़ पर जब तक विकट संघर्ष की स्थिति नहीं आती तब तक मनुष्य स्वभाव (Selfhood) की ओर उन्मुख नहीं होता। आध्यात्मिक विकास सुख की प्रक्रिया नहीं है, किन्तु इस प्रक्रिया में मानस की गहराइयों में ऐसी हलचल उत्पन्न होती है जिससे कोई ऐसी बहुमूल्य वस्तु प्रादुर्भूत होती है जो अन्यथा संभव नहीं है। किन्तु बहुधा तनाव हमारे विकास में सहायता पहुँचाने की अपेक्षा हमारे नाश का

१. Towards Integration (Rohit Mehta)

भी कारण बन सकता है जैसा आज के युग में हो रहा है ।[१] इसीलिए गुरु की आवश्यकता होती है । वास्तव में उच्च आत्मा ही गुरु की संज्ञा है । आत्मबीज तो हममें से प्रत्येक में है । गुरु के द्वारा उसका प्रस्फुटन और विकास होता है ।

गीता में विषाद को भी जो योग का नाम दिया गया है, वह उक्त दृष्टि से विचार किए जाने पर उचित ही कहा जायगा । गीता विषाद-योग से प्रारम्भ होकर अर्जुन की स्वस्थता में पर्यवसित होती है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है–

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तवः ।।"

उक्त श्लोक का "स्थितोऽस्मि" ध्यान देने योग्य है जिसका अर्थ किया जाना चाहिए 'अब मैं स्वस्थ हूँ ।'

इसी प्रकार पातंजल योग-दर्शन में भी "सर्वं दुःखमेव विवेकिनः" (२।१५) की बात कही गई है । विवेकी पुरुष योगाभ्यास द्वारा अन्त में कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है किन्तु यह कैवल्य भी चिति शक्ति की स्वरूप-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जैसा कि योग-सूत्र के अन्तिम सूत्र "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।। (४।३४)

इस प्रकार पातंजल योग-दर्शन का चरम लक्ष्य भी स्वरूपावस्थान अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठा है जिसे दूसरे शब्दों में हम स्वास्थ्य की स्थिति कह सकते हैं ।

वैज्ञानिक और तकनीकी युग में बौद्धिक विकास और भौतिक समृद्धि के साथ-साथ मानसिक तनाव की अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके परिणाम-स्वरूप उन्माद तथा आत्म-हत्या का बोलबाला हुआ है । मनोविश्लेषक और मनोविकारचिकित्सक मनोदौर्बल्य का इलाज करने के लिए रुग्ण व्यक्ति के अतीत का परिचय प्राप्त करते हैं, विद्युत्-चिकित्सा करते हैं तथा शामक औषधियों का प्रयोग करते हैं किन्तु देखा यह गया है कि इस प्रकार की चिकित्सा से स्थायी लाभ नहीं होता । अतः मनोवैज्ञानिकों का ध्यान भारतीय योगाभ्यास की ओर आकृष्ट होने लगा है । योग-दर्शन

---

१. At any point crisis is the road to selfhood. Growth is really not a happy process but in the process, the depths of the psyche get stirred and something comes out, something valuable, which we would not otherwise have or use but tension very often, instead of helping our development, helps our own destruction such as is happening to-day. Hence Guru is necessary who is no other than higher self. The seed is there in everybody but the flowering of the seed is most important which is possible through spiritual guide.

का आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में भी अध्ययन होने लगा है जिसकी अच्छी सम्भावनाएं मुझे दृष्टिगोचर होती हैं। आज यह मानने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा भी मानसिक स्वास्थ्य अधिक आवश्यक है। जब तक मनुष्य आत्म-दर्शन नहीं करता, तब तक विकृतियाँ पैदा होती ही रहेंगी। मनुस्मृति में यथार्थ ही कहा गया है—

अयं तु परमो धर्मः यद् योगेनात्मदर्शनम्।

आधुनिक दर्शनशास्त्र के सम्मुख कई चुनौतियां हैं। जिस दर्शनशास्त्र का सत्य वैज्ञानिक सत्य के प्रतिकूल पड़ता हो, उसका आज कोई महत्त्व नहीं रहेगा। आज के दर्शनशास्त्री को भी अद्यतन वैज्ञानिक आविष्कारों के सत्य से परिचय प्राप्त करना होगा। इसी प्रकार वैज्ञानिक भी सत्य की व्याख्या के लिए दर्शन का आश्रय लेगा तो यह उपादेय ही सिद्ध होगा।

आधुनिक युग में तत्वमीमांसा (metaphysics) की अपेक्षा मानववादी दर्शनों की विशेष उपयोगिता समझी जाने लगी है। यही कारण है कि आज अस्तित्ववाद, तार्किक भाववाद तथा व्यवहारवाद की विशेष चर्चा सुनी जाती है। वर्तमान काल में ईश्वर अथवा किसी निरपेक्ष तत्त्व की अपेक्षा मनुष्य ही हमारे आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बन गया है। शताब्दियों पहले प्रोटागोरस (Protagoras) ने कहा था कि मनुष्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है। सोफोक्लीज ने तो यहाँ तक कहा था कि इस संसार में आश्चर्य तो बहुत हैं किन्तु मनुष्य से बड़ा कोई आश्चर्य नहीं है। इस उक्ति की तुलना "तस्माद् गुह्यमिदं ब्रवीमि, नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्" महाभारत के उक्त उद्घोष से की जा सकती है।

मानववादी दर्शन का महत्व आज दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। मानववाद यह मानकर चलता है कि मनुष्य का निवासस्थान केवल यह भौतिक जगत है, परलोक जैसा कोई लोक नहीं जहाँ मनुष्य सुख या दुःख प्राप्त करेगा। इसी धरा पर मनुष्य को शान्त और सुखी जीवन के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। उसे अपने ही प्रयत्नों से ऊपर उठना होगा, कोई भी अतिप्राकृत अथवा अतिमानवीय शक्ति उसकी सहायतार्थ नहीं आएगी।

हमारे देश में भी वैदिक काल से ही पुरुष की महिमा का गान होता आया है। अथर्ववेद में कहा गया है

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदु : परमेष्ठिनम्॥ (अथर्व० १०।७।१७)
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते॥ (अथर्व ११।८।३२)

आगे चल कर शांकर अद्वैतवादियों ने भी यही कहा कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं।

किन्तु अद्वैतवादी मानववाद और आधुनिक मानववाद में एक प्रमुख अंतर तो यही है कि आधुनिक मानववादी दार्शनिक किसी अनिर्वचनीय अदृश्य सत्ता को सामान्यतः स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र का उल्लेख किया जा सकता है जो किसी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता। उसके मतानुसार निर्णय की पूर्ण स्वतंत्रता और दायित्व मनुष्य का है—वह जो कुछ बनता है, अपने कारण बनता है। उसे अपना भार स्वयं वहन करना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि जिस सीमा तक मनुष्य कार्य करता है, उसी सीमा तक उसका अस्तित्व है। कार्य में रत रहने के अतिरिक्त किसी अन्य वास्तविकता को वह स्वीकार नहीं करता।[१]

जिस अथर्ववेद ने यह कहा था कि पुरुष ही ब्रह्म है और जिस अद्वैत-सिद्धांत ने यह उद्घोष किया था कि जीव ही ब्रह्म है, उन्होंने निश्चय ही पुरुष के महत्त्व और उसके गौरव की पराकाष्ठा करदी थी। हमारे दार्शनिकों ने जिस पुरुष का गौरव गान किया था, वह स्वतन्त्र है अथवा नियतिवाद की शृंखलाओं से बँधा हुआ है, यह दर्शनशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

विकास की जिस किसी भी अवस्था में मनुष्य नामक प्राणी का अवतरण हुआ होगा, तभी से सृष्टि के कार्य-व्यापार को मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति ने मोड़ दिया होगा। प्रकृति में जो कार्य हो रहा है, उसकी कोई प्रतीति अथवा चेतना प्रकृति को नहीं होती। मनुष्य अवश्य प्रकृति के क्रिया-कलापों का द्रष्टा है और वह प्रकृति को अपनी इच्छानुसार विकास के पथ पर ले जाने वाला अद्भुत प्राणी भी है। चन्द्र-लोक में मनुष्य की अवतारणा का प्रयत्न भी उसकी अदम्य इच्छा-शक्ति का प्रबल प्रमाण है। अतः वैज्ञानिक विकास की अनिवार्य शर्त है मानवीय स्वतंत्रता और मनुष्य की दुर्दमनीय और अजेय इच्छा-शक्ति। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य अपनी प्रकृतिगत पाशविक इच्छाओं के भी वशीभूत रहता है किन्तु यह स्वीकार करने पर भी इसे कौन अस्वीकार करेगा कि पाशविकता को आक्रान्त कर उससे ऊपर उठने की शक्ति भी तो मनुष्य में ही है। वस्तुतः मनुष्य प्रकृत अर्थ में तभी मनुष्य बनता है जब वह अपनी बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण कर उनसे ऊपर उठता है। 'स्वतन्त्रः कर्ता' केवल पाणिनि-व्याकरण का ही सूत्र नहीं है, उसे हमारे अद्वैत दर्शन का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र मानना चाहिए।

---

१. There is no reality except in action. Man is nothing more than his plan; he exists only to the extent that he fulfils himself.

—Sartre

यदि नियतिवाद को स्वीकार कर यह मान लिया जाय कि मनुष्य जो कुछ बुरा-भला करता है, वह सब कुछ ईश्वरीय प्रेरणा से होता है तो मनुष्य के नैतिक-अनैतिक सभी कार्यों का दायित्व ईश्वर के मत्थे मँढ़ा जायगा। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि मनुष्य परिस्थितियों, पूर्व-जन्म के संस्कारों और आनुवंशिक प्रभावों के हाथ की कठपुतली मात्र है तो फिर मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का महत्त्व ही क्या रह जाएगा! सही स्थिति संभवतः मध्य की स्थिति है जिसके अनुसार मनुष्य परिस्थितियों से बँधा हुआ भी उनसे ऊपर उठने की भी क्षमता रखता है। वह अपने वातावरण का समीक्षक और निर्माता भी है। वेदान्त में जिसे 'उपाधि' का नाम दिया गया है, उसे छिन्न-भिन्न कर अपने स्वरूप को पहचानने की शक्ति भी तो मनुष्य में ही है। मनुष्य का पांचभौतिक शरीर तो सीमाओं में बँधा है किन्तु जब वह इस सीमा का अतिक्रमण कर संकुचित अहं से ऊपर उठ कर विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, तभी वह स्वतंत्रता की अनुभूति कर पाता है, तभी सच्ची स्वतंत्रता का उन्मीलन होता है।

डा० हरगोविन्द खुराना ने (जिन्हें नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया गया है) आनुवंशिक संकेतों की अणु-संरचना-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की है। सभी जीवधारियों की यह विशेषता है कि वे अनेक गुणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रदान करते चलते हैं—बच्चों में माता-पिता के अनेक गुण ज्यों के त्यों देखे जा सकते हैं—यही आनुवंशिकता है और 'जीन' इसके लिए उत्तरदायी है।

उक्त वैज्ञानिक प्रामाणिकता के बाद अब यह तो नहीं माना जा सकता कि मनुष्य संसार में बना-बनाया तनिक भी नहीं आता। किन्तु इस प्रकार की खोज से अब आनुवंशिक दोषों को भी संभवतः दूर किया जा सके और किसी रूप में आनुवंशिकता नियंत्रित भी हो सके।

अतः लगता है कि इस सृष्टि में नियतिवाद और स्वातंत्र्यवाद दोनों का ही कार्य-व्यापार चल रहा है किन्तु वेदान्त ने "जीवन्मुक्त" के रूप में ऐसे पूर्ण पुरुष की भी कल्पना की है जिसके प्रारब्ध कर्मों को छोड़ कर अन्य सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सशरीर कोई व्यक्ति पूर्ण पुरुष बन सकता है, इसमें बहुत-से लोग तो विश्वास ही नहीं करते क्योंकि उनकी दृष्टि में पूर्णता तो केवल परमात्मा में ही मिल सकती है।

यह प्रश्न भी उठाया गया है कि जीवन्मुक्त दशा पर पहुँचने पर वह व्यक्ति क्या पाप-कर्म में भी प्रवृत्त हो सकता है। वेदान्त-ग्रन्थों में इसके संबन्ध में कहा गया है कि अनेकजन्मसंसिद्ध जीवन्मुक्त पाप-कर्म की ओर उन्मुख हो ही नहीं सकता। ब्रह्मसूत्रों के शांकर-भाष्य में कहा गया है कि इस प्रकार का व्यक्ति पाप और पुण्य

इन दोनों से ही निःसन्देह तर जाता है। देहपात के बाद प्रारब्ध का भी क्षय हो जाने से वह परमात्मा को प्राप्त हो ही जाता है। हमारे देश के निर्गुण संतों ने भी अपनी साखियों और पदों में जीवन्मुक्त का उल्लेख किया है। वेदान्तदर्शन में जीवन्मुक्त के सदेह अस्तित्व का उल्लेख एक क्रांतिकारी दृष्टि है जिसका स्थितप्रज्ञ आदि के साथ सम्यक् विवेचन किया जाना चाहिए।

काश्मीर शैवाद्वैत में नियति को जीव के पाँच कंचुकों में से एक कंचुक माना गया है। जब साधक चित्त की भूमिका से चिति की उच्चतम भूमि पर पहुँच जाता है तो वह नियति के भी वशीभूत नहीं रह जाता जैसा कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—

"निराधार हैं, किन्तु ठहरना, हम दोनों को आज यहीं है,
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब, इसका अन्य उपाय नहीं है।"

इसी प्रकार हम जीवन्मुक्त के संबन्ध में भी कह सकते हैं कि ऐसा व्यक्ति नियति के बन्धनों से भी मुक्त हो जाता है, वह पाप और पुण्य से भी ऊपर उठ जाता है।

शांकर अद्वैत के अध्ययन के साथ-साथ काश्मीर शैवाद्वैत का अध्ययन भी हमारे लिए वांछनीय है। काश्मीर शैवाद्वैत में माया के सिद्धांत को स्वीकार न करके शक्ति-सिद्धान्त को ग्रहण किया गया है। "ऐसा करने से शैवाद्वैतवादियों को इस नामरूपात्मक दृश्य जगत को मिथ्या घोषित करने की आवश्यकता नहीं रह गई। इस जगत को मिथ्या मान लेने का परिणाम यह हुआ कि भारतवासियों के मन पर एक अन्धकार का आवरण छा गया और शताब्दियों तक देश की आत्मा पर एक प्रकार की ऐसी मुर्दनी छाई रही, जिसके, राजनैतिक तथा अन्य क्षेत्रों में अनेक भयंकर परिणाम निकले। त्रिक की दार्शनिक पद्धति का वातावरण अपेक्षाकृत स्वस्थता का वातावरण है, जहाँ पर फिर हम एक बार जगत् तथा उसके कार्य-व्यापारों को परमार्थता के साथ उनके उचित परिपार्श्व में ग्रहण कर सकते हैं। विश्व के अनेक उच्च धार्मिक तथा दार्शनिक अनुशासनों का पालन करने में एक लोक को दूसरे लोक के लिए बलिदान कर देना पड़ता है और यही विनाश का एक कारण भी है, किन्तु त्रिक-पद्धति में इस प्रकार के बलिदान की कोई बात नहीं।"

—श्री के. गुरुदत्त

कामायनी के निराश और निरुपाय मनु के प्रति श्रद्धा की ये उद्बोधक पंक्तियाँ त्रिक-दर्शन के अनुरूप हैं—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह—"अरे, तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।

एक तुम, यह विस्तृत भू खण्ड, प्रकृति वैभव से भरा अमन्द,
कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द ।

अद्वैत दर्शन में शांकर अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा शैवाद्वैत सभी को लेकर तलस्पर्शी अध्ययन अपेक्षित है । अद्वैत दर्शन ही संभवतः ऐसा दर्शन है जिसे वैज्ञानिक आविष्कारों से कोई खतरा नहीं है । अद्वैत दर्शन से जो तथ्य सामने आए हैं, आधुनिक विज्ञान द्वारा भी वे पुष्ट और प्रमाणित ही हो रहे हैं ।

मनुष्य स्वतंत्र है या परतंत्र, अद्वैत दर्शन के अनुसार इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जब तक वह अज्ञान दशा में है तब तक वह परतंत्र है किन्तु स्वरूपोपलब्धि तथा आत्म-साक्षात्कार के बाद वह सर्वथा स्वतंत्र है ।

न्यूटनीय विज्ञान कारण-कार्य के सिद्धान्त को मान कर चलता था और १९ वीं शती के अंत तक इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक जगत में बड़ी प्रतिष्ठा भी मिली किन्तु "जब से आणविक विस्फोट संभव बना है, वैज्ञानिक यह देख कर चकित और विषण्ण हैं कि जो नियम न्यूटनीय विज्ञान के आधार थे, वे अब इलेक्ट्रोनों पर लागू नहीं होते हैं । एटम से ऊपर के धरातल तक न्यूटनीय विज्ञान अब भी सही है, किन्तु एटम के भीतर वाली दुनिया न्यूटन के नियमों की अवहेलना कर रही है । जैसा ऊपर कहा गया है, न्यूटनीय विज्ञान में हर कार्य किसी कारण के अनुसार चलता है । आणविक विज्ञान यह समझ नहीं पा रहा है कि इलेक्ट्रोन कारण-कार्य नियम की परवाह क्यों नहीं करते हैं । न्यूटनीय विज्ञान की कल्पना थी कि एटम भी कोई ठोस चीज़ है । किन्तु जब एटम तोड़ा गया तो पता चला कि वह इलेक्ट्रोन और प्रोटोन का मिलन है और इलेक्ट्रोन ठोस तत्त्व नहीं, केवल ऊर्जा या तरंग है । यानी हम जिसे ठोस समझते थे, वह ठोस नहीं है, वह गैस है, तरंग है, ऊर्जा है ।"[१] निःसंग परमाणु और इलेक्ट्रोन, ये दोनों ऐसे आचरण करते हैं मानों वे स्वेच्छाचारी और स्वाधीन हों । पंडित नेहरू के शब्दों में "ठोस दुनिया पिघल कर गणित का कोई विचार अथवा छलना बन गई है जो माया-सिद्धान्त के बहुत ही समीप है ।"

आधुनिक युग में वेदान्त ही एक ऐसा दर्शन प्रतीत होता है जो वैज्ञानिक चुनौतियों को स्वीकार करने में समर्थ है । वही ऐसा दर्शन है जो सब प्रकार के संप्रदायवाद आदि से ऊपर है और एक दृष्टि से जिसे सार्वभौम और सार्वकालिक भी कहा जा सकता है । इतना ही नहीं, वह त्रैगुण्यविषयवेदों का भी अतिक्रमण करता है । इतिहासोपनिषद् में कहा गया है—

---

१. दिनकर : आधुनिकता और भारत-धर्म.

ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञम् ।
सामानि यो वेद स वेद सर्वं
यो मानसं वेद स वेद ब्रह्म ।

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को जानने वाला ब्रह्म को नहीं जानता, मानस-वेद को जानने वाला ही ब्रह्म को जानता है। अन्त में यह कहना आवश्यक है कि आधुनिक विज्ञान के आलोक में भी वेदान्त का विशद अध्ययन किया जाना चाहिए तथा ब्रह्म-सूत्रों में पाप, पुण्य, कर्म, मुक्ति आदि का जो विवेचन हुआ है, उसका आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विश्लेषण होना चाहिए। आधुनिक मनोविज्ञान के साथ योग-दर्शन का कहाँ तक समन्वय होता है और हमारे देश की योग-पद्धति आज के मानसिक तनाव को दूर करने में कहाँ तक सहायक होकर मनुष्य को सुख और शान्ति के लोक में पहुँचा सकती है, यह भी विवेचन सापेक्ष है।

सार्त्र आदि के मानववादी दर्शनों में निराशा और संत्रास के दर्शन होते हैं किन्तु कठोपनिषद् में जिस पुरुष के लिए कहा गया है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः ।

वह पुरुष निराशा और संत्रास का शिकार क्यों हो ? योग मनुष्य को स्वस्थ बनाने में सहायक होता है तथा वेदान्त पुरुष को जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँचा कर मानव की सर्वोच्च भूमिका प्रस्तुत करता है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा का माध्यम

●

भारत को छोड़ दुनिया में शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ किसी विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती हो। राजनीतिक दासता के फलस्वरूप भारतीय विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी भाषा को उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया था। किन्तु देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद अब यह अस्वाभाविक स्थिति बहुत समय तक नहीं चल सकती। महात्मा गांधी जैसे नेताओं ने तो स्वतन्त्रता-संग्राम के युग में ही इस विदेशी माध्यम के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी। आज देश के प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री और विचारशील नेता सिद्धान्ततः इस बात में विश्वास करते हैं कि किसी विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाये रखना सर्वथा अवांछनीय है।

विदेशी माध्यम की अवांछनीयता स्वीकार कर लेने के बाद प्रश्न यह उठता है कि भारत की कौनसी भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। इस विषय को लेकर अनेक प्रकार के वादविवाद हमारे देश में चलते हैं। श्री के० एम० मुन्शी तथा श्री हरेकृष्ण मेहताब जैसे नेता राष्ट्रभाषा हिन्दी ही उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाने की राय देते हैं। उनके मतानुसार प्रदेश-भाषाओं को उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाने से प्रादेशिक-भावना की वृद्धि होकर राष्ट्रीय ऐक्य को क्षति पहुँचेगी, केवल अपनी ही भाषा जानने वाले लोगों के लिए दूसरे राज्यों में कोई स्थान नहीं रहेगा, विभिन्न राज्यों के विद्वानों में परस्पर आदान-प्रदान सम्भव नहीं होगा और प्रशासनिक कठिनाइयाँ भी सामने आयेंगीं। एक विद्यालय के विद्यार्थी अपेक्षया अधिक विकसित दूसरे विश्वविद्यालय की शिक्षा का लाभ नहीं उठा सकेंगे, केन्द्रीय सेवाओं में कार्य करने वाले पदाधिकारियों के समय-समय पर होने वाले स्थानान्तरण के कारण छात्रों की पढ़ाई में नुकसान पहुँचेगा। एक शब्द में कहें तो अखिल भारतीय दृष्टिकोण से सोचना-विचारना ही हमारे लिए असम्भव हो जायगा।

दूसरी ओर एक ऐसे विचारकों का दल है जो मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा को ही उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में अपनी राय देता है। उनकी दृष्टि में हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का यह अर्थ नहीं है कि वह भारत के सभी राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं को अपने स्थान से पदच्युत कर अपना आसन जमाले और उच्च शिक्षा का माध्यम बन जाय। यद्यपि भारतीय संविधान में माध्यम के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं है तथापि इसे वे संविधान की मूल भावना के विपरीत समझते हैं क्योंकि उनके मतानुसार ऐसा करने से प्रांतीय भाषाओं का विकास रुकेगा जिसे संविधान मान्यता नहीं देता। उनका कहना है कि आन्तर-व्यवहार के लिए हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है, प्रादेशिक भाषाओं के विकास को रोकने के लिए नहीं। राधाकृष्णन कमीशन ने भी शिक्षा का सामान्य माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ ही माना था। इस सम्बन्ध में कांग्रेस की कार्य-समिति ने भी जो प्रस्ताव पास किया था उसमें बताया गया था कि विश्वविद्यालय में शिक्षण और परीक्षण का माध्यम सामान्यत: प्रादेशिक भाषाएँ ही रहनी चाहिए यद्यपि अन्तर प्रान्तीय व्यवहार को ध्यान में रख कर हिन्दी का भी उपयोग किया जा सकता है। माध्यम बदलने के बीच के समय में आवश्यकतानुसार अँग्रेजी भी रखी जा सकती है ताकि शिक्षा के स्तर को नुकसान न पहुँचे। लोक-सेवा आयोग की परीक्षाओं में भी इसी प्रकार माध्यम की कठिनाई उपस्थित होगी। हिन्दी को तत्काल परीक्षण का माध्यम बना देने से अहिन्दी भाषी प्रदेशों के छात्र घाटे में रहेंगे। इसलिए या तो इन परीक्षाओं का माध्यम अँग्रेजी भाषा रहे या संविधान द्वारा अनुमोदित प्रादेशिक भाषाओं को भी वैकल्पिक माध्यम की छूट दी जाय।

इस प्रकार भारतीय विशविद्यालयों में उच्च शिक्षण के माध्यम के सम्बन्व में तीन विचार-धाराएँ हमारे सामने हैं—

१. राष्ट्र-भाषा को ही सभी राज्यों में उच्चशिक्षा का माध्यम बनाया जाय।

२. प्रादेशिक भाषाएँ विभिन्न राज्यों में शिक्षा का माध्यम रहें।

३. संक्रमण-काल में अँग्रेजी भाषा को ही उच्चशिक्षा का माध्यम बनाया जाय।

कभी-कभी यह भी आवाज सुनाई पड़ती है कि अँग्रेजी भाषा जब इस देश में एक शती से भी अधिक निवास कर चुकी है तो उसे विदेशी कहा ही क्यों जाय? किन्तु सच तो यह है कि इतने वर्षों तक अँग्रेजी शासन के बावजूद भी भारत में अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या दो तीन प्रतिशत से अधिक नहीं है इसलिए स्थायी रूप से अँग्रेजी उच्च-शिक्षा का माध्यम रहे, यह न सिद्धान्त की दृष्टि से सम्मत है, न

व्यवहार और उपयोगिता की दृष्टि से समर्थनीय। डॉ० महाजनी जैसे शिक्षा-शास्त्री यह मान कर चलते हैं कि विज्ञान की शिक्षा के लिए ऐसा माध्यम होना चाहिए जिसको अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो तथा साहित्य की शिक्षा के लिए प्रदेश-भाषा या राष्ट्र-भाषा को उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है। इसलिए विज्ञान, चिकित्सा, इन्जीनियरिङ्ग आदि के लिए अंग्रेजी माध्यम तथा साहित्यिक विषयों के लिए अन्य माध्यम रखा जाय।

विचारकों का एक दल और है जो इस बात को स्वीकार करता है कि किसी प्रदेश के लिए उसकी भाषा ही स्वभावतः शिक्षा का माध्यम हो सकती है, लेकिन जो लोग उस प्रदेश के नहीं हैं, उनके लिए प्रदेश-भाषा के अलावा राष्ट्र-भाषा को भी वैकल्पिक माध्यम के रूप में ग्रहण करना चाहिए। सम्भवतः इसी विचार-धारा को मानकर गुजरात विश्वविद्यालय ने गुजराती को शिक्षण तथा परीक्षण का माध्यम रखा है किन्तु अगुजराती विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए शिक्षण-परीक्षण में हिन्दी माध्यम का विकल्प रखा है।

इसके विपरीत बम्बई विश्वविद्यालय की माध्यम-कमेटी ने सुझाव दिया था कि हिन्दी और केवल हिन्दी ही, न कि प्रादेशिक भाषाएँ, शिक्षण और परीक्षण की माध्यम हो। अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी दाखिल करने का काम १९६५ तक पूरा हो जाय। इस बीच माध्यम के तौर पर अंग्रेजी चालू रहे। इस परिवर्तन को आसान और व्यवहार्य बनाने के लिए कालेजों में हिन्दी का शिक्षण अनिवार्य विषय के रूप में शुरू हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि माध्यम के प्रश्न को लेकर हमारे देश में आज अनेक मत-मतान्तरों का जाल-सा फैला दिखलाई पड़ता है। इस विवादास्पद प्रश्न को किस प्रकार सुलझाया जाय, यह एक बहुत ही विचारणीय विषय है। सही बात यह है कि कोई कितना ही चाहे, हमेशा के लिए अंग्रेजी जैसी भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं रखा जा सकता। छात्रों का अंग्रेजी का स्तर आज गिर रहा है, इस कारण भी, तथा कुछ हमारी राष्ट्रीय चेतना के अधिकाधिक जागृत होने से अंग्रेजी को यह स्थान छोड़ना ही होगा। अनेक हिन्दी-भाषी राज्यों में उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा को स्वीकार कर लिया गया है। संक्रमण-काल में अंग्रेजी को भी ऐच्छिक माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया है किन्तु हिन्दी-भाषी राज्यों के छात्र बहुत बड़ी संख्या में हिन्दी माध्यम को लेकर परीक्षा में उत्तर लिखने लगे हैं। हां, अभी अनेक अध्यापक ऐसे अवश्य हैं जो अंग्रेजी में धारा-प्रवाह भाषण दे सकते हैं, वे हिन्दी की ओर उतना नहीं झुक रहे हैं। इन अध्यापकों में हिन्दी-भाषी प्रान्तों के अध्यापक भी शामिल हैं। किन्तु समय के संकेत को जो प्राध्यापक

समय रहते नहीं समझेंगे, उन्हें अन्त में पछताना होगा। राष्ट्रभाषा को यदि सिद्धांत के रूप में उच्चशिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया जाय तब तो इस विवादास्पद प्रश्न पर अखिल भारतीय भूमिका की दृष्टि से विचार किया जा सकता है और व्यावहारिक कठिनाइयों के सुलझाने के उपाय ढूँढ़े जा सकते हैं किन्तु आज जब देश में राज्य पुनर्गठन चल रहा है, लगता है कि हिन्दी को अखिल भारतीय माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं किया जायगा। विभिन्न राज्यों में वहाँ की भाषाएँ शिक्षा का माध्यम बनेंगी। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि संघीय भाषा होने के कारण हिन्दी का महत्त्व बढ़ेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अहिन्दी राज्यों में भी हिन्दी को अनिवार्य विषय के रूप में ग्रहण किया जाय। यदि माध्यमिक शिक्षा और फिर धीरे-धीरे कालेजों में भी हिन्दी को अनिवार्य बना दिया जाय तो सम्भव है कि अहिन्दी भाषी प्रान्तों में भी कभी आगे चलकर हिन्दी को उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण कर लेने की प्रवृत्ति जगे। देश की वर्त्तमान परिस्थितियों को देखते हुए अभी तो यही वांछनीय लगता है कि संविधान की धारा ३४४ की भावना के अनुरूप अंग्रेजी का उपयोग सीमित किया जाय। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में तो हिन्दी द्रुतगति से उच्च शिक्षण के माध्यम का स्थान ग्रहण कर लेगी, अहिन्दी-भाषी कुछ प्रान्तों में थोड़े समय तक अँग्रेजी का मोह चल सकता है किन्तु वहाँ भी प्रदेश-भाषाएँ उच्च शिक्षण का माध्यम बनने लगेंगी। द्विभाषी या त्रिभाषी या विविध भाषी राज्यों में सरकार के लिए अवश्य यह एक समस्या होगी। विभिन्न माध्यमों की व्यवस्था करनी होगी तो विविध कालेज खोलने होंगे और विश्वविद्यालय में माध्यम का विकल्प चिरकाल तक चलेगा। हाँ, यह स्पष्ट है कि हिन्दी भाषी राज्यों के विचारक यदि राष्ट्र भाषा को माध्यम के रूप में अन्य राज्यों में थोपने का प्रयत्न करेंगे तो दूसरी प्रतिक्रिया हानिकारक होगी। अहिन्दी भाषी स्वयं ही जब यह समझने लगेंगे कि देश की हिन्दी जैसी कोई एक भाषा सभी जगह शिक्षा का माध्यम बने तभी राष्ट्रभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु यह आशा की जा सकती है कि बुद्धिमानीपूर्वक इस प्रश्न को सुलझाने पर कभी आगे चलकर राष्ट्रभाषा ही शिक्षा का माध्यम बन जाय।

बच्चों की समस्याएँ

●

आधुनिक युग में बच्चा शिक्षण-शास्त्रियों के आकर्षण का केन्द्र है। वर्ड्सवर्थ ने काव्यात्मक प्रातिभ ज्ञान के बल पर इस सत्य की अनुभूति की थी कि 'बच्चा ही मनुष्य का जनक है'। उसी सत्य को आज के बाल-मनोवैज्ञानिकों और शिक्षण-शास्त्रियों ने भी प्रमाणित कर दिया है।

बाल-शिक्षा एक बहुत ही गहन और व्यापक विषय है। बच्चे को जानने और समझने का अर्थ एक सम्पूर्ण संसार से परिचय प्राप्त करना है। उसकी मनोदशाओं और ललित कल्पनाओं का मूल्यांकन स्वतः एक बड़ी कला है और बाल-शिक्षण तो मनोवैज्ञानिकों के लिए भी एक पहेली है।

बच्चे की उपमा सामान्यतः एक कोमल पौधे से दी जाती है जिसका खाद आदि के द्वारा पोषण किया जाता है। पौधे का संवर्धन ही हमारा इष्ट होता है, उसकी वृद्धि को रोकने के लिए हम किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते। पौधे के सामने खड़े होकर हम उसे किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते, हम तो केवल उसके विकास के लिए उचित वातावरण तैयार करते हैं। ठीक वैसी ही स्थिति बच्चे की भी है। हम वयस्कों और प्रौढ़ों के लिए सबसे पहली बात यह है कि हम बच्चे को भली भाँति समझने का प्रयत्न करें और यह तभी संभव है जब हम प्रौढ़ों की दुनिया से थोड़ी देर के लिए अलग होकर बच्चे की दुनिया में प्रवेश करें और अपने व्यक्तित्व का आरोपण उस पर न करें। यदि हम ऐसा करने में समर्थ हुए तो हम इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि बच्चे के पालन-पोषण तथा शिक्षण के लिए इस प्रकार का वातावरण उपलब्ध होना चाहिए जिससे वह आत्मान्वेषण कर सके, स्वकीयता की तलाश कर सके तथा अपनी अंतर्हित शक्तियों का साक्षात्कार कर सके। यहाँ महाकवि सूरदास का उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। उक्त महाकवि द्वारा किया हुआ बाल-चित्रण अप्रतिम तथा अद्वितीय है और इसका कारण भी स्पष्ट है। जब सूरदास बाल-स्वभाव का वर्णन करते हैं, तब वे वयस्क अथवा प्रौढ़ का बाना उतार देते हैं और बालक के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं,

स्वयं बालक बन जाते हैं। हम वयस्क भी यदि बालक के संसार में प्रवेश कर उसे भली भाँति समझना चाहते हैं तो हमें भी अपनी विशेषताओं को थोड़ी देर के लिए छोड़ कर बालक से तादात्म्य स्थापित करना होगा। तभी हम बच्चे को इस योग्य बना सकेंगे कि वह अपने को ढूँढ़ सके, अपनी प्रच्छन्न शक्तियों को कार्यान्वित कर सके।

बालक की स्वकीयता के अन्वेषण का क्या अभिप्राय है, इस विषय में विचार करना यहाँ वांछनीय होगा।

बच्चे में अपरिमित शक्ति की संभावनाएँ निहित हैं। डार्विन से जब यह पूछा गया कि उसने अपने जीवन के कौनसे वर्षों में सबसे अधिक सीखा तो उसने उत्तर दिया था, "अपने जीवन के पहले तीन वर्षों में मैंने सर्वाधिक जानकारी प्राप्त की है।" डार्विन के कथन का तात्पर्य यह था कि प्रथम तीन वर्षों में उसने बोलना सीख लिया था। बच्चे का प्रथम वर्ष चीखने-चिल्लाने का वर्ष होता है। बच्चा यदि भूखा है तो चिल्लाता है और यदि उसका पेट भरा है तो वह मुसकुराता है। दूसरे वर्ष में वह तुतलाने लगता है और तीसरे वर्ष में वह भाषा सीख लेता है जिसका आविष्कार करने में हमारे पूर्वजों को न जाने कितने वर्ष लगे होंगे।

मैडम माण्टेसोरी को यह जान कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ था कि प्रथम दो वर्षों में बच्चा किसी जटिल भाषा का भी व्याकरण-सम्मत प्रयोग करने लगता है—हाँ, यह अवश्य है कि संज्ञा, विशेषण, क्रिया, अव्यय आदि की कोई वैयाकरणिक अभिज्ञता उसको नहीं होती। बात दर असल यह है कि बच्चे की शक्ति की कोई सीमा नहीं होती। यदि वह ग्रामीण वातावरण में पालित-पोषित होता है तो वह उस वातावरण को आत्मसात् कर लेता है, यदि वह किसी रेगिस्तान में जन्म लेता है तो तथाविध वातावरण को आत्मसात् कर लेता है और यदि वह विश्व के अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत शहर में जन्म लेता है तो उस वातावरण को आत्मसात् करने में भी उसे कोई कठिनाई नहीं होती—उस शहर की भाषा भी चाहे कितनी ही क्लिष्ट एवं जटिल क्यों न हो, बच्चा उसकी भी सहज भाव से उपलब्धि कर लेता है। यह तथ्य कितना भी आश्चर्यजनक क्यों न हो किन्तु इस तथ्य की सचाई में अविश्वास करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। कभी-कभी लोगों से हम यह सुनते हैं कि पचास वर्ष पहले का बच्चा उतना बुद्धिमान् नहीं था जितना आज का बच्चा है जो २०वीं सदी के वैज्ञानिक युग की उपज है किन्तु ऐसा कहने वाले लोग एक भ्रान्ति के ही शिकार हैं। वस्तुतः तथ्य यही है कि वातावरण चाहे कैसा भी क्यों न हो, उसे आत्मसात् कर लेने की अद्भुत क्षमता बच्चे में पाई जाती है। अतः

सर्वाधिक आवश्यक एवं वांछनीय बात यह है कि बच्चे के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाय।

बच्चा स्वतः कार्य करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है। वह किसी क्रिया में मग्न रहना चाहता है और स्वयं काम करके देखने से ही उसे खुशी होती है। उसे मात्र अनुकर्ता न मान कर स्रष्टा समझना चाहिए। यदि उपयुक्त वातावरण में उसका पालन-पोषण किया जाय तो वह सर्जक के करिश्मे दिखला सकता है।

शिक्षक का यह काम नहीं है कि वह बालक पर अपने व्यक्तित्व का आरोपण करे। उस हालत में बच्चा स्वकीयता के अन्वेषण से वंचित रह जाएगा।

माण्टेसोरी पद्धति पर शिक्षित एक बच्चे से जब यह पूछा गया कि तुम्हें किसने पढ़ाया तो उसने उत्तर दिया, "पढ़ाया किसने ? मैंने स्वयं अपने को पढ़ाया है।" यदि ठीक ढंग का शिक्षक हो और यदि बच्चे को उपयुक्त वातावरण सुलभ हो तो बच्चों को उचित पद्धति पर शिक्षा दी जा सकती है। मैडम माण्टेसोरी ने एक शरारती बच्चे का उदाहरण दिया है जिसने प्रवेश पाते ही गड़बड़ करना और दूसरों के काम में खलल डालना प्रारम्भ कर दिया। स्कूल के स्वस्थ वातावरण में शिक्षित एक बच्चा उसके पास गया और उसे ढाढस बँधाते हुए कहने लगा, "यदि तुम अभी बुरे हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं। हम सब भी तो पहले तुम्हारे जैसे ही थे; तुम भी कुछ समय बाद अच्छे हो जाओगे।' अन्य बच्चों ने भी उसके साथ इसी प्रकार की सहानुभूति दिखलाई जिसका नतीजा यह हुआ कि बच्चा अपना नटखटपन ही भूल गया और न जाने कब उसकी शरारत विदा हो गई। यह था अच्छे वातावरण का प्रभाव !

कुछ शिक्षक छात्रों के सामने एक प्रकार का छद्म-प्रदर्शन करते हुए यह बताने की चेष्टा करते हैं कि वे तो अच्युत और सर्वगुणसम्पन्न हैं—उनसे तो किसी प्रकार की त्रुटि होती ही नहीं किन्तु बच्चों के शिक्षण में इस प्रकार की मनोवृत्ति वांछनीय नहीं। उचित तो यही है कि हम सभी यह मान कर चलें कि हम सबसे ग़लती हो सकती है—हाँ, हमारा प्रयत्न यही होना चाहिए कि ग़लती को ठीक करें और आगे बढ़ें।

दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गाँधी ने जो शिक्षण-संबन्धी प्रयोग किए, उनसे वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ग़लती होने पर शिक्षक को भी उसे मान लेना चाहिए। इससे बच्चों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

ग़लती स्वीकार कर लेने से सद्भाव का वातावरण बना रहता है और पूर्णता का दम्भ भरने से असंतोष को प्रश्रय मिलता है। साहित्य में भी हम उस चरित्र को पसन्द करते हैं जिसमें अनेक गुणों के होते हुए भी कोई मानवोचित दुर्बलता पाई

जाती है। राम को तो वाल्मीकि ने 'विग्रहवान् धर्मः' अथवा धर्म का मूर्त रूप कहा है किन्तु हिन्दी के महाकवि निराला ने 'राम की शक्ति-पूजा' में राम को व्यथित और चिन्तित दिखलाया है। राम तपस्या के द्वारा रावण पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और अन्त में उनको सफलता भी मिलती है। इस प्रकार के राम हमें मानव के रूप में दिखलाई पड़ते हैं जिनके सुख-दुःख में हम भी सम्मिलित हो सकते हैं।

यदि शिक्षक इतने अधिक ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित हो जाए जहाँ छात्र की पहुँच भी न हो तो शिक्षक और छात्र के बीच उचित संबन्ध की स्थापना नहीं हो सकेगी।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि मानसिक रोगों का इलाज करने वाले मनोवैज्ञानिकों ने कितने अद्भुत काम कर दिखाए हैं। ऐसे चिकित्सकों को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनमें से बहुत-सी कठिनाइयाँ ऐसी होती हैं जिनकी शुरुआत बचपन के प्रारंभिक वर्षों में हुई थी। छानबीन करने पर पता चला है कि इस प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं—

१. बच्चे के कोमल भावों पर किसी प्रकार का आघात लगना।
२. उचित ढंग से उसके पालन-पोषण एवं शिक्षा का प्रबन्ध न होना।
३. उसकी सहजवृत्तियों का अनुचित रीति से दबाया जाना।

यदि माता-पिता और शिक्षक समझदार हों तो वे इन सब कारणों को दूर कर सकते हैं और बच्चे को मानसिक रोगों का शिकार होने से बचा सकते हैं।

कुछ लोगों का यह ख्याल है कि परमात्मा जब हमें बच्चे देता है तो उनके पालन-पोषण आदि के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी भी हमें परमात्मा की ओर से ही मिल जाती है। यह धारणा उन मनुष्यों में अधिक पाई जाती है जो पुराने विचारों के हैं किन्तु हर्ष की बात है कि आज कल के माता-पिता इस बात को महसूस करने लगे हैं कि बच्चों के पालन-पोषण के लिए परमात्मा की ओर से अपने आप ही सब ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता।

अब तो बच्चों की समस्याओं का विशेष अध्ययन होने लगा है और पाश्चात्य देशों में तो बिना किसी हिचकिचाहट के बच्चा पैदा होने से पहले और पीछे 'चाइल्ड क्लिनिक्स' से आवश्यक सलाह ले ली जाती है। जो माताएँ मुफ्त में सलाह नहीं लेना चाहती, उनके लिए 'बेबी क्लब' खुले हुए हैं जहाँ कुछ चन्दा देने पर क्लब के डाक्टरों और परिचारिकाओं से अच्छी सलाह मिल सकती है। अब हम यह समझने लगे हैं कि तथाकथित नटखट बालक इसलिए जटिल, हठी और नटखट नहीं हो जाते हैं कि वे पैदा ही ऐसे होते हैं किन्तु इसका कारण यह है कि वे बुरे वातावरण के शिकार होते हैं, उनका पालन-पोषण वैज्ञानिक ढंग से नहीं

होने पाता अथवा उनके स्वभाव को आजादी से विकसित होने देने के बजाय संकुचित कर दिया जाता है या उसको अनुचित ढंग से बनने दिया जाता है। इस प्रकार के अधूरे और अनुचित विकास के लिए बच्चे स्वयं किसी भी हालत में जिम्मेवार नहीं हैं। नीचे के उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

एक ऐसा बच्चा था जिसको बचपन से ही अस्थिपंजर का डर लगा करता था। एक दिन उसके पिता ने उसके भय को दूर करने के उद्देश्य से कहा—"अस्थि-पंजर से डरने की क्या बात है? यह तो हर मनुष्य के शरीर में होता है। अस्थि-पंजर तुम्हारे खुद के शरीर में भी तो है, फिर उससे डर कैसा? किन्तु इससे बच्चे का डर कम होने के बजाय और दस गुना अधिक बढ़ गया। अब तो उसके दिल में एक नये डर ने घर कर लिया कि जब अस्थि-पंजर उसके शरीर में ही है तो यह चाहे जब बाहर निकल सकता है और उसको भयभीत कर सकता है। एक दूसरे बच्चे का हाल तो और भी अधिक दिलचस्प है। वह अभी दो तीन वर्ष का ही हुआ था और उसने बोलना शुरू ही किया था। बच्चे की परिचारिका उसको और तो सब प्रकार की सुविधाएं देती थी किन्तु उससे बोलती बिलकुल भी न थी। इससे बच्चे के कोमल भावों पर बड़ा भारी धक्का पहुंचा। उसका सारा जीवन ही बदल गया। जब वह आधा जगा हुआ या आधा सोया हुआ-सा होता तो वह अक्षरशः उस वार्तालाप की आवृत्ति कर दिया करता था जो उसकी परिचारिका और दूसरे व्यक्ति के बीच हुआ करता था। इसको वह स्वयं तो कुछ नहीं समझता था किन्तु फ़ोनोग्राफ के रेकार्डों की तरह उसका मस्तिष्क उस बातचीत को संचित कर लेता था। बड़े-बड़े मानसिक उपचार करने वालों से इस विषय में सलाह ली गई। उन सब ने यही कहा कि जब तक इस बात का पता न लगे कि बच्चे के कोमल भावों पर किस प्रकार का आघात पहुंचा है तब तक उसका इलाज होना मुश्किल है। उन मनोविश्लेषण करने वाले चिकित्सकों के कहने के अनुसार बेचारी अभागी माता उन सब वाक्यों को लिख लिया करती थी जो उस बच्चे के मुख से निकला करते थे। किन्तु उस बच्चे के रोग का असली निदान कोई न कर सका। फल यह हुआ कि कुछ वर्ष बाद उस बच्चे को मिरगी के रोग ने घर दबाया और अपने १२ वें वर्ष में ही वह संसार से चल बसा।

इसलिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि माता-पिता बच्चों के पालन-पोषण पर विशेष ध्यान दें। उनकी ज़रा-सी असावधानी से बच्चे के उस तरह का रोग लग सकता है जो कालान्तर में जाकर असाध्य हो जाए। ऊपर के उदाहरण में दिए गए बच्चे से यदि वह परिचारिका बोलती रहती तो उस बच्चे के कोमल भावों पर ऐसा भयंकर धक्का न लगता और १२ वर्ष की अवस्था में ही वह काल-कवलित न होता।

बचपन से ही बच्चे में सचाई और आत्म-विश्वास आदि की अच्छी आदतें डालनी चाहिए जिससे वह भविष्य में पूर्ण मनुष्य बन सके क्योंकि, जैसा ऊपर कहा गया है, कवि के शब्दों में 'बच्चा ही तो मनुष्य का पिता है।'

जिसे हम नटखट और शरारती कहते हैं, उसे ठीक रास्ते पर लाने का उपाय यह नहीं है कि हम भी उसके साथ कठोरता और क्रूरता से पेश आएं। इस प्रकार के बच्चों को सुधारने का एक उपाय है उनके लिए कष्ट उठाना तथा किसी प्रकार का त्याग करना। गाँधीजी के आश्रम में भी एक बार ऐसा युवक रहता था जो झूठ बोलता, ऊधम मचाता, लड़ता-झगड़ता तथा किसी से भी नहीं दबता था। उसकी इन हरकतों को देख कर महात्माजी को भी गुस्सा आ गया और उन्होंने उसकी बाँह पर रूल उठा कर दे मारा। किन्तु रूल मारते समय गाँधीजी का हाथ काँप रहा था। लड़के ने गाँधीजी के काँपते हुए हाथ को देख लिया था। उसका ध्यान गाँधीजी के क्रोध की ओर न जा कर उनके मानसिक संताप की ओर गया जिसका उस पर अच्छा असर पड़ा। वह रो पड़ा और उसने महात्माजी से क्षमा-याचना की। बाद में कभी उसने गाँधीजी का मुकाबला नहीं किया। लड़का लगभग १७ वर्ष का था। रूल की चोट से जो शारीरिक पीड़ा उसे हुई, उस पीड़ा के कारण वह नहीं रोया था। उसके रोने का कारण यही था कि उसकी वजह से गाँधीजी जैसे महात्मा को मानसिक कष्ट पहुँच रहा है।

कोई भी बच्चा जब यह देखता है कि उसके कारण कोई दूसरा व्यक्ति दुखी हो रहा है तो उसकी कठोरता भी कोमलता में बदलने लगती है और उसका सुधार होने लगता है। गाँधीजी ने जो डंडा मारा, उसके पीछे क्रोध भी था और दुःख भी। लड़के का ध्यान उनके दुःख की ओर ही गया, इसलिए उसका सुधार होने लगा। उसका ध्यान उनके दुःख की ओर न जाकर यदि उनके क्रोध की ओर ही गया होता तो लड़के के मन में भी क्रोध ही उपजता। सच है, क्रोध से क्रोध को नहीं जीता जा सकता, आग से आग नहीं बुझाई जा सकती।

ऋताचार और शिक्षक

●

वैदिक साहित्य का एक प्रसिद्ध शब्द है ऋत जो उस नियम अथवा व्यवस्था के अर्थ में व्यवहृत होता है जिससे सृष्टि का संचालन होता है। यदि ऋत न हो तो विश्व में अव्यवस्था व्याप्त हो जाए। ऋग्वेद में वरुण ऋत के अधिष्ठाता देव के रूप में चित्रित किए गए हैं—अन्य देवताओं को भी ऋत के गीत गाते हुए वर्णित किया गया है। वरुण अत्यन्त कठोर देवता हैं जो बड़ी सख्ती से नियमों का पालन करते हैं—जो अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा फल देते हैं। वे उच्चतम स्थान में स्थित रह कर प्रत्येक व्यक्ति के भले और बुरे कर्म पर दृष्टि रखते हैं।

विश्वव्यापी व्यवस्था (Cosmic Order) के साथ-साथ ऋत का नैतिक पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं है। ऋत शब्द में जिस न्याय और भलाई की भावना का समावेश है, वह भी 'ऋतं शंसन्तः' आदि के द्वारा अभिव्यक्त हुई है। प्रकृति में क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर है, यह कहना निश्चय ही अत्यन्त कठिन है किन्तु यदि यह कहा जाय कि नियमों का पालन करने से प्रकृति सुन्दर रूप धारण कर लेती है तो यह कथन अनुचित न होगा।

ऋत का एक सामाजिक पक्ष भी है। यजुर्वेद में राजा को कहा गया है 'त्वं-मित्रः, त्वं वरुणः।' नियम पालन करने से राजा का भी महत्त्व बढ़ जाता है। यदि राजा नियमों का पालन न करे तो उससे एक प्रकार की अराजकता फ़ैल जाती है। कामायनी के मनु ने सारस्वत प्रदेश का जब शासन-सूत्र सम्हाला और जब वे स्वयं नियमों की अवहेलना करने लग गये तब प्रजा ने विद्रोह कर दिया। इससे स्पष्ट है कि समाज को भी एक सूत्र में ग्रथित करने के लिए नियमों की आवश्यकता होती है जिनके अभाव में समाज विशृंखलित हो जाता है।

ऋग्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में विधि-विधान (Ritual) को भी बड़ा महत्त्व दिया गया है। विधि-विधान में यदि नियमों के प्रति सतर्कता न बरती जाय तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। इसलिए ऋत का एक पक्ष वह भी है जो विधि-विधान से संबद्ध है।

भाग्य और ऋत का क्या संबन्ध है, इस विषय में भी प्रश्न उठाया जा सकता है। ग्रीक साहित्य में जिस भाग्य को अन्धा बतलाया गया है, उस अन्ध भाग्य से तो ऋत का संबन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु नियमों का अनुसरण करने वाली नियति से उसका संबन्ध अवश्य जोड़ा जा सकता है।

ऋत का उल्लेख केवल ऋग्वेद में ही नहीं, यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी ऋत के महत्त्व का विवेचन हुआ है। यजुर्वेद से एक उद्धरण लीजिए—

इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्व आयुषि विदथेषु कव्या।
सा नो अस्मिन्त्सुत आ बभूव ऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती ।। (य० २२।२)

अर्थात् स्तोताओं ने पूर्व आयु में ऋत की इस डोरी को ज्ञानयज्ञों में ग्रहण किया। ऋत के साम्य में प्रवाह-पथ को स्पष्ट बताती हुई वह रशना हमें इस संसार में प्राप्त हुई।

तात्पर्य यह है कि पुरा काल से ही ऋत के महत्त्व का मनीषियों द्वारा प्रतिपादन होता आया है। ऋत के साम्य-सूत्र में बँधे रहने से मानव-समाज अपने औचित्यपूर्ण प्रशस्त पथ पर आरूढ़ होता रहता है, अन्यथा ऋत-सूत्र का आश्रय छोड़ देने से समाज में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः मानव-समाज के लिए ऋत की सूत्रता में आबद्ध होना वांछनीय है।

कोई भी यह न समझे कि वह लुक-छिप कर कुकृत्य में लीन हो सकता है और कोई भी उसके इस कार्य को देखने वाला नहीं है। अथर्ववेद में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि सदाचार का अधिदेव वरुण गुप्त से गुप्त रहस्य को जानता है, वह सब पर अपनी दृष्टि रखता है।

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
यस्तायन् मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ।। (४।१६।१)

अर्थात् इन लोकों का बृहद् अधिष्ठाता वरुण सबको इस तरह देखता है मानो वह निकट ही बैठा हुआ हो। जो दुष्कर्म करता हुआ यह समझता है कि वह छिप कर कर रहा है, वह वस्तुतः धोखे में है क्योंकि वरुण इस सबको जानता है।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति।
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।।
द्वौ सन्निषद्य यन् मन्त्रयेते।
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ।। (४।१६।२)

जो स्थित है, जो चल रहा है, जो धोखा दे रहा है, जो आड़ में चल रहा है और जो बेखटके काम कर रहा है, राजा वरुण उन सबके हृदयों को जानता है। दो व्यक्ति बैठ कर जो मंत्रणा करते हैं, राजा वरुण उनमें तीसरे होकर सब कुछ जान लेता है।

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे ।
यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् ।।
संख्याता अस्य निमिषो जनानाम् ।
अक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ।। (४।१६।५)

राजा वरुण उस सबको देखता है जो आकाश और पृथ्वी के बीच में है और जो उनसे भी परे है । कितनी बार मनुष्यों की पलकें गिरती हैं, इसकी गिनती भी वरुण के पास है । वह सब वस्तुओं को इस प्रकार जचाए रखता है जैसे खिलाड़ी गोटियों को रखता है ।

ऋत का एक शैक्षिक रूप भी है जिसकी ओर मैं शिक्षण-शास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ । आज की बदली हुई परिस्थिति में अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षक ऋताचार का पालन करें । अपने विषय का निरन्तर अध्ययन करना और छात्रों को ज्ञान का दान करना शिक्षकों का परम पवित्र धर्म है जिसकी अवहेलना करने से आज भारतीय छात्रों में अनुशासन की अनेक समस्याएँ पैदा हो गई हैं । आज के अनेक शिक्षक भी नीति और ऋत को तिलांजलि देकर मात्र राजनीति का आश्रय ग्रहण करने लगे हैं जो किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं कहा जा सकता । शिक्षक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह प्रति दिन अच्छा शिक्षक बनने का प्रयत्न करे अन्यथा उसे कुशिक्षक बने रहने का अभ्यास हो जायगा जो समाज के लिए नितान्त भयावह है । सामाजिक उन्नयन का दायित्व बहुत कुछ शिक्षकों पर रहता है । इसके लिए शिक्षकों के चरित्र की उत्कृष्टता अनिवार्य है । शिक्षक को यह भी ध्यान रखना होगा कि उसके छात्र उसके जीवन से किसी प्रकार की बुराई न सीख जाएँ । आचार्य शब्द के अर्थ से भी यही प्रतीत होता है कि शिक्षक का जीवन दूसरों के द्वारा भी आचरण करने योग्य होता था । शिक्षक के सदाचरण का प्रभाव उसके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा भावी पीढ़ियों पर भी पड़ेगा ।

शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य यह है कि वह हमें मिल-जुल कर रहना सिखाए । इस लक्ष्य की परिणति तभी संभव है जब शिक्षक संयम और नियमपूर्वक आपस में मिल-जुल कर काम करें और एक दूसरे के प्रति उदारता एवं सहिष्णुता बरतें । पारस्परिक छिद्रान्वेषण से तो कटुता ही बढ़ेगी ।

इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकों का आर्थिक स्तर भी अच्छा हो क्योंकि अर्थाभाव के कारण उनमें भी उमंग, उत्साह और कल्पनाशीलता का अभाव रहेगा जिसकी प्रतिक्रिया उनके छात्रों पर भी हुए बिना नहीं रहेगी । जिसके हृदय में उमंग, उत्साह और आनन्द की ज्वाला जलती है, वही तो दूसरों के हृदयों में उसी प्रकार की ज्वाला प्रज्वलित कर सकेगा ।

किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में दो मत न होंगे कि शिक्षक को संयम, सदाचार सहानुभूति, नैतिकता आदि गुणों का अपने व्यक्तित्व में सन्निवेश करने के लिए अथक प्रयत्न करना होगा, तभी वह शिक्षक की अभिधा को सार्थक कर सकेगा। यदि शिक्षक का आचार-व्यवहार पवित्र न हो और यदि वह स्वयं नियमों का पालन न करता हो तो उसे छात्रों को किसी भी प्रकार का उपदेश देने का अधिकार नहीं रह जाता।

सत्य अपनी चरितार्थता के लिए जिन अकाट्य नियमों का आश्रय लेता है, उन्हें ही हम 'ऋत' के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस प्रकार के नियमों का उल्लंघन तो विधि के लिए भी अशक्य होना चाहिए।

यदि 'ऋत' की अपरिहार्यता में शिक्षकों का विश्वास दृढ़ हो जाय तो वे निश्चय ही 'अनृत' को छोड़ कर ऋतोन्मुख हो सकेंगे। इसी में उनका, छात्रों का तथा समस्त देश का कल्याण निहित है। ऋताचार की उस अवस्था में हमारे लिए सारा वातावरण मधुमय हो उठेगा और तब हम वैदिक ऋषियों की निम्नलिखित अभिलाषा को भी चरितार्थ अथवा सार्थक कर सकेंगे—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। (य० १३।२७,ऋ० १।९०।६)
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता। (य० १३।२८, ऋ० १।९०।७)
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (य० १३।२९, ऋ० १।९०।८)

अर्थात् समस्त वायु और नदियाँ मधु या कर्मफल वर्षण करें। सारी औषधियाँ भी माधुर्ययुक्त हों। हमारी रात्रि और उषा मधुर या मधुर फल-दाता हों। पृथ्वी की रज उत्तम फलदायक हो। सबका रक्षक आकाश भी हमारे लिए मधुर हो। हमारे लिए समस्त वनस्पतियाँ मधुर हों। सूर्य मधुर हो और मधुर हो समस्त गायें अथवा सब रश्मियाँ।

महर्षियों की निर्वाण-स्थली : पर्वतराज हिमालय

'स्थावराणां हिमालयः' कह कर गीताकार ने पर्वतराज की दिव्यता का उद्घोष किया है। प्रागैतिहासिक काल से ही हिमालय भारत का प्रहरी, राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतीक तथा आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत रहा है। हमारा साहित्य नगाधिराज की महिमा से मण्डित है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में 'यस्ये मे हिमवन्तो महित्वा' द्वारा हिमवान् की विराटता का उल्लेख किया गया है। पुराणों में भी हिमालय-स्तवन के राशि-राशि श्लोक बिखरे पड़े हैं। वायु पुराण में कहा गया है कि हिमालय का सब कुछ पुण्यकारी है तथा गंगा सब ओर से पुण्यशीला है।[1] इसी प्रकार मत्स्य-पुराण में वर्णित है कि हिमालय में थोड़ी-सी तपस्या से सिद्धि मिल जाती है तथा इसके दर्शन मात्र से ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं।[2] महाकवि भारवि की निम्नलिखित पंक्ति में भी उक्त पुराण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है : अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम्। (५-१७)

हमारे देश के कवियों ने हिमालय की गरिमा का बखान कर अपनी लेखनी को पवित्र किया है। कालिदास ने नगाधिराज को 'देवतात्मा और पृथ्वी का मानदण्ड' कहकर उसकी भव्यता पर प्रकाश डाला है।

हम भारतीयों के लिए जैसे गंगा मात्र एक नदी नहीं, वैसे ही हिमालय मात्र एक पर्वत नहीं है वरन् एक ऐसी रहस्यमयी उदात्त संज्ञा है जिसके बाह्य आवरण में हमारे राष्ट्र का सारा दर्शन, धर्म, पौरुष और प्राकृतिक सौन्दर्य झलकता दिखाई देता है। उसकी विराट गरिमा, दिव्यता और भव्यता अनादि काल से ही हमारे आध्यात्मिक जीवन और वाङ्मय को प्रभावित करती रही है।

---

१. सर्वं पुण्यं हिमवतो, गंगा पुण्या च सर्वतः।

२. अल्पेन तपसा यत्र सिद्धिं प्राप्स्यन्ति तापसाः। यस्य दर्शनमात्रेण यस्य दर्शन मात्रेण, सर्वकल्मषनाशनम्॥

न जाने पर्वतराज की कन्दराओं में कितने ऋषि-मुनियों ने तपस्या कर इस पावन स्थली को तपोभूमि के गौरव से सुशोभित किया होगा। संसार में पर्वत तो बहुत हैं किन्तु अन्य किसी पर्वत को वह गौरव प्राप्त नहीं हुआ जो अभ्रंकष हिमालय को प्राप्त है। कामायनी के अमर कवि के शब्दों में—

विश्व मौन, गौरव महत्व की
प्रतिनिधियों–सी भरी विभा
इस अनन्त प्रांगण में मानो
जोड़ रही है मौन सभा।

किस आकर्षण से आकृष्ट होकर हमारे देश के असंख्य तीर्थयात्री हिमालय के पावन तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं ? संसार के किसी भी अन्य पर्वत के प्रति ऐसी निष्ठा नहीं देखी गई। गिरिराज के उत्तुंग हिम-शिखर, अनेक तीर्थ-स्थान तथा विराट प्राकृतिक दृश्यों के समूह को देख कर कवि–हृदय कोई भी व्यक्ति इसे मात्र पर्वत मानने के लिए तैयार न होगा। हिमालय एक ऐसी उदात्त संज्ञा है जिसके बाह्य आवरण में हमारे राष्ट्र का सारा दर्शन, धर्म, पौरुष और प्राकृतिक सौन्दर्य झलकता दिखाई देता है जैसा कि दिनकर के 'मेरे नगपति मेरे विशाल' से परिलक्षित होता है। पर्वतराज को 'अचिन्त्याद्भुत' के विशेषण से अभिहित किया गया है। इसका प्रभाव इतना अद्भुत है कि इसके सम्बन्ध में 'इदमित्थं' कहना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। 'किरातार्जुनीयम्' के यशस्वी कवि से भी यही कहते बना है कि 'इस अत्यन्त गहन और दिगन्तव्यापी पर्वतराज को परमात्मा के समान सम्पूर्ण रीति से केवल पद्मयोनि ब्रह्मा ही जानते हैं।'[1]

काव्य में विराट तत्त्व (Sublimity) की विवेचना करने वाले समीक्षकों को हिमालयेतर भव्यता का इतना सुन्दर निदर्शन शायद समूचे विश्व में भी ढूँढ़ने पर न मिले। पर्वतराज हिमालय ब्रह्मर्षियों और सिद्धादि द्वारा अनुचरित-सेवित रहा है। हिमाद्रि के तुंग शृंग से शुद्ध भारती के प्रबुद्ध होने का उद्घोष जयशंकर प्रसाद कर चुके हैं। पर्वतों के समीप और नदियों के संगमस्थल पर मेधावी ब्रह्मवेत्ताओं के उद्भव का साक्ष्य वैदिक वाङ्मय भी दे रहा है।

उपह्वरे च गिरीणां संगमे च नदीनां
धियो विप्रा अजायत ॥

महाकवि भारवि ने तो स्पष्ट ही कहा है कि जैसे शास्त्र-ज्ञान से बुद्धि निर्मलता प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार यहाँ हिमालय-प्रदेश में जन्म-जरा-रहित ब्रह्म के परम

१. अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिवापरं पद्मयोनिः मरम् ॥ (५।१८)

पवित्र पद को प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों की बुद्धि सांसारिक ग्राकर्षणों से मुक्त हो जाती है।[1]

न जाने किस अतीत काल से पर्वतराज हिमालय देवों तथा महर्षियों की तपोभूमि रहा है। नगाधिराज का गौरी शिखर भगवती पार्वती की कठोर तपस्या के बाद ही इस नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। कृष्ण ने भी १२ वर्षों तक हिमालय में उग्र तप किया था।

चारों धामों में परम प्रख्यात बदरीनारायण नर-नारायण की तपस्थली रहा है। प्रवाद प्रचलित है कि इस क्षेत्र के दर्शन मात्र से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

अन्यत्र मरणान्मुक्तिः स्वधर्मविधिपूर्वकात्।
बदरीदर्शनादेव मुक्तिः पुंसां करे स्थिता॥

नर-नारायण के अतिरिक्त यहाँ नारद-शिला, गरुड़-शिला, ब्रह्मतीर्थ, वसुधरा तीर्थ, पंच तीर्थ, सोम तीर्थ, मेरु तीर्थ आदि अनेक तीर्थ-स्थान हैं।

महर्षि नारद के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने रुद्रप्रयाग में शंकर की आराधना कर संगीत-विद्या का वर प्राप्त किया था। महाभारत में वर्णित है कि बालखिल्यों ने यहीं उग्र तपस्या की थी। परशुराम के भी यहीं घोर तप करने का उल्लेख मिलता है। व्यास, शुकदेव मार्कण्डेय आदि ऋषियों ने विष्णुप्रयाग बदरीनारायण एवं शूकरताल में तथा सप्तर्षियों ने गुप्त काशी में अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा हिमालय को तपोभूमि के रूप में परिणत कर दिया था। इस पर्वतराज पर जिन ऋषियों ने यज्ञ किया था, उनमें पराशर का नाम विशेषतः उल्लेख्य है।

भारतीय जनता यह मानकर चलती है कि हिमालय के सुन्दरतम शिखर कैलास पर भगवान शंकर निवास करते हैं। कैलास से २० मील की दूरी पर यहीं वह मानसरोवर है जिसे वाल्मीकि ने ब्रह्मा के मन से निर्मित बतलाया है। महाभारत के अनुसार यहाँ स्नान करने का बड़ा माहात्म्य है :

ततो गच्छैद्राजेन्द्र मानसं तीर्थमुत्तमम्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् रुद्रलोके महीयते॥

देवों तथा ऋषियों की तपोभूमि होने के कारण ही हिमालय में तीर्थों का एक जाल-सा बिछ गया। केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री, ज्वालामुखी, पशुपतिनाथ, मुक्तिनाथ, मानसरोवर तथा कैलास तीर्थस्थानों में अग्रगण्य हैं जिनकी महिमा भारतीय शास्त्रों में अनेकधा वर्णित है।

सप्तपुरियों में पूजित और प्रशस्य हरिद्वार का नाम यहाँ विशेषतः उल्लेखनीय

---

१. वीतजन्मजरसं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम्।
आगमादिव तमोपहादितः संभवन्ति मतयो भवच्छिदः (५।२२)

है जहाँ हरि की पैड़ी, कुशावर्त, बिल्वकेश्वर, नील पर्वत तथा कनखल—ये पाँच प्रधान तीर्थ हैं।

श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत तथा समस्त पुराणों का मन्थन कर यदि हिमालय में अवस्थित तीर्थों और वहाँ के तपस्वी ऋषि-मुनियों की सूची तैयार की जाये तो लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा।

अतः अन्त में यही कहना पर्याप्त होगा कि पर्वतराज हिमालय भारतीय ऋषि—मुनियों तथा साधकों की तपोभूमि रहा है। इस नगाधिराज की दिव्यता तथा भव्यता अनुपम है, उसका कोई अन्य प्रतिमान कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। हिमालय की उच्चता मानो वृत्तियों के ऊर्ध्वारोहण की प्रतीक है जो निम्न मनोवृत्तियों को पददलित कर अनवरत शान्ति की वर्षा करती रहेगी। मानव के लिए वह एक चुनौती है जिसका सामना वह साहसपूर्वक करता रहेगा। कवि पंत के शब्दों में 'नगाधिराज ऐसा प्रतीत होता है मानो वह आत्मा की गरिमा का भू पर अकलुष प्रकाश बरसाता हो।'

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा रस-सिद्धान्त

एज़रा पाउण्ड के शब्दों में "कविता एक प्रकार का प्रेरणा-प्रसूत गणित है जो हमें अमूर्त आकृतियों, त्रिभुजों, गोलकों (Spheres) आदि का नहीं, बल्कि मानवीय संवेगों का समीकरण प्रदान करता है।" इसी प्रकार स्टीफेन मलार्मे ने भी प्रतिपादित किया था कि किसी पदार्थ के नाम ले देने से कविता का तीन चौथाई आनन्द जाता रहता है जो क्रमशः अनुमान की संतुष्टि से निष्पन्न होता है। वस्तु की व्यंजना करना, यही तो कला की माया है, कला का जादू है। किसी मानसिक दशा की अभिव्यक्ति के लिए धीरे-धीरे किसी वस्तु का उद्भावन करना अथवा इसके विपरीत किसी वस्तु को चुनकर, उलझनों की शृंखला को छिन्न-भिन्न करते हुए, उस वस्तु में से किसी मानसिक दशा को व्यक्त करना 'प्रतीक' द्वारा संभव हो पाता है जिसका निर्माण रहस्य के सर्वोत्कृष्ट निर्वाह द्वारा होता है।"

ये दो उद्धरण इस तथ्य की प्रतीति कराने के लिए दिए गए हैं कि 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' के निरूपण में टी० एस० एलियट एज़रा पाउण्ड और प्रतीकवादियों द्वारा अवश्य प्रभावित हुए होंगे। एलियट ने जब पहले-पहल 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' पद-समुदाय का प्रयोग किया था तब न तो उन्हें यह अभिप्रेत ही था और न उन्हें यह आशा ही थी कि यह सिद्धान्त इतना प्रचलित हो जाएगा।

'हैमलेट और उसकी समस्याएँ' शीर्षक अपने निबन्ध में एलियट ने कहा था कि "कला के रूप में भावाभिव्यक्ति की एक ही पद्धति है और वह है 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' का सन्धान, दूसरे शब्दों में ऐसा वस्तु-समुदाय, ऐसी परिस्थिति तथा घटनाओं की ऐसी शृंखला नियोजित की जाए जो उस भाव-विशेष के सूत्र का काम दे सके ताकि ये बाह्य तथ्य, जिनकी परिणति मूर्त मानस अनुभव में हो, जब प्रस्तुत किए जाएँ तो तत्काल भावोद्रेक हो जाय। यदि आप शेक्सपियर के अन्य किसी अधिक सफल दुःखात्मक नाटक का परीक्षण करें तो आपको सही समीकरण मिल जाएगा। आपको पता चलेगा कि निद्रावस्था में टहलती हुई लेडी मैकबेथ की मनोदशा का सम्प्रेषण कल्पित मूर्त बिम्बों के कौशलपूर्ण संयोजन द्वारा कराया गया है। साथ ही अपनी पत्नी की मृत्यु की खबर सुनने पर मैकबेथ के शब्द हमें ऐसे लगते हैं मानो

घटनाओं के पूर्वापर-क्रम में घटना-शृंखला की अन्तिम घटना के रूप में ये शब्द स्वतः निकल पड़े हों। भाव के साथ वाह्य विधान की पूर्ण उपयुक्तता ही कला की अनिवार्यता है।"

एलियट द्वारा उद्‌भावित 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' का यह सिद्धान्त भरत के सुप्रसिद्ध रस सूत्र की याद दिलाता है जिसमें कहा गया है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

भरत ने अपने सूत्र में कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। विभाव दो प्रकार के होते हैं प्रथम, आलम्बन विभाव जो रस निष्पत्ति का प्रमुख कारण होता है, द्वितीय उद्दीपन विभाव जो उद्दीप्त करता है, जो उस वातावरण अथवा सम्पूर्ण परिवेश की सृष्टि करता है जिसके कारण भावानुभूति में तीव्रता आती है। यदि विभाव मूल कारण है तो अनुभाव उसकी अभिव्यक्ति है।

रसास्वाद करने वाले आश्रय की वाह्य चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। व्यभिचारि भाव थोड़े समय तक रहने वाली मनोदशाएँ हैं। शृंगार रस में नायिका आलम्बन विभाव, उद्यान अथवा वसन्त ऋतु आदि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भाव होते हैं। जहाँ रति स्थायी भाव है वहाँ संयोग में हर्ष तथा वियोग में चिन्ता आदि संचारी भावों का रूप धारण कर लेते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने प्रतिपादित किया है कि विभावानुभाव व्यभिचारि संयोग से स्थायी भाव ही आन्तरिक भाव के मूर्तीकरण द्वारा रस-संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

संस्कृत सौंदर्य-शास्त्र में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा निर्वेद नामक नौ स्थायी भावों की गणना की गई है। अभिनव गुप्त के मतानुसार हमारे हृदय में वासना रूप में सुषुप्तावस्था में रहने वाली सहज वृत्तियाँ स्थायी भाव कहलाती हैं। भरत के शब्दों में "जब काव्य, संगीत तथा अभिनय की सहायता से विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव रंगमंच पर प्रदर्शित किए जाते हैं, तब दर्शकों के हृदय में स्थायी भाव की जागृति होती है तथा यह भाव उस चरम सीमा तक पहुँच जाता है जब, परिस्थिति के साथ संपूर्ण कल्पनात्मक सहानुभूति द्वारा, दर्शकगण व्यक्ति, काल और स्थान-विषयक भेद को भूल जाते हैं और परिणामस्वरूप उनका हृदयस्थित भाव आनन्दपूर्ण चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त होता है।"

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के सम्बन्ध में एलियट का जो सुप्रसिद्ध उद्धरण है, उससे भरत सूत्र का निम्नलिखित साम्य स्थापित किया जा सकता है :

Emotion=संस्कृत काव्य-शास्त्रियों का रस

Set of objects=विभाव

Situation=सुसंगठित प्रस्तुतीकरण

घटना श्रृंखला—न केवल प्रबन्ध-धारा से सम्बद्ध अवान्तर घटनाएँ ही बल्कि उन घटनाओं तथा अनुभाव एवं संचारी भाव आदि के प्रति पात्रों की प्रतिक्रिया 'घटना-श्रृंखला' के अन्तर्गत समझिए ।[1]

जान पड़ता है कि टी.एस. एलियट ने 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' के सिद्धान्त का उस सुनिश्चितता,तलस्पर्शिता तथा संपूर्णता के साथ निरूपण नहीं किया है जिस सुनिश्चितता आदि के साथ संस्कृत आलंकारिकों ने किया है । एलियट ने Feelings (भाव) और Emotions (मनोवेग) में अन्तर दिखलाने का प्रयत्न किया है ।

एलियट के निम्नलिखित चार कथनों पर विचार कीजिए :

१. कवि का काम नये मनोवेगों का अन्वेषण करना नहीं है किन्तु सामान्य मनोवेगों का काव्य में इस प्रकार प्रयोग करना उसका कार्य है जिससे मनोवेग भावों के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं और फिर वे भाव मनोवेग रह ही नहीं जाते ।

२. मनोवेग और भाव अनुभव ही होते हैं । ये वे उपकरण हैं जो कवि के रूपान्तरणीय उत्प्रेरक मन में प्रविष्ट होते हैं ।

३. काव्य के आस्वादन करने वाले पर किसी कला-कृति का जो प्रभाव पड़ता है, वह किसी भी कलेतर अनुभव से प्रकार में भिन्न होता है ।

४. किसी कलाकृति का प्रभाव एक मनोवेग से अथवा कई मनोवेगों के समुच्चय से उद्भूत हो सकता है और विभिन्न भाव, जो कलाकार के लिए शब्दों या पद विशेषों या बिम्बों में अधिष्ठित या संलग्न रहते हैं, किसी मनोवेग के प्रत्यक्ष प्रयोग के बिना, केवल भावों के द्वारा ही निर्मित हो सकते हैं । इन्फर्नो का १५वां अध्याय परिस्थिति द्वारा सुस्पष्ट मनोवेग की क्रिया है किन्तु किसी भी कलाकृति की भाँति यद्यपि उसमें प्रभाव का ऐक्य विद्यमान है तथापि वह विवरणों अथवा ब्योरों की प्रचुर जटिलता द्वारा उपलब्ध है ।[2]

उक्त आपाततः विरोधी कथनों में सामंजस्य स्थापित करना कठिन है । पहले कथन के अनुसार सामान्य मनोवेग सौंदर्य-पद्धति द्वारा भावों के रूप में परिष्कृत हो जाते हैं । किन्तु दूसरे कथन से लगता हैं कि मनोवेग और भाव दोनों ऐसे प्रारंभिक तथ्य हैं जो बाद में काव्य की क्रिया की ओर उन्मुख होते हैं । तीसरे कथन से यह प्रतीत होता है कि यह अंतिम भाव एक प्रकार का नया कला-संबन्धी मनोवेग है जिससे लेखक यह अभिप्रेत करना चाहता है कि काव्यानुभूति लौकिक अनुभूति से पूर्णतः भिन्न होती है । चौथे कथन का आशय यह है कि सौंदर्यानुभूति एक मनोवेग

1. Krishna Chaitanya : Sanskrit Poeties P. 20
2. Selected Essays-Tradition and the Individual Talent.

का अथवा कई मनोवेगों के समुच्चय का परिणाम हो सकता है और अंतिम परिणाम की निष्पत्ति के लिए अनेक भाव प्रयुज्य हो सकते हैं। विलियमसन ने उक्त कथनों में निम्नलिखित प्रकार से सामंजस्य स्थापन किया है :

"यदि कवि-कर्म से तात्पर्य सामान्य मनोवेगों को काम में लेना है और उन्हें काव्यात्मक रूप देने में कवि ऐसे भावों को व्यक्त करता है जो वास्तव में मनोवेग हैं ही नहीं, तो मूलभूत मनोवेग के साथ संचरणशील भावों को संलग्न कर वह ऐसा कर सकता है जिससे नये कलात्मक मनोवेग की निष्पत्ति हो सकेगी।"

विलियमसन द्वारा किया हुआ यह स्पष्टीकरण भरत के रस सूत्र की व्याख्या-जैसा लगता है। साम्य-स्थापन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

Basis or structural emotion–स्थायी भाव

The floating feelings–व्यभिचारिभाव और अनुभाव

New art emotion–स्थायी भाव जो रस के रूप में परिणत होकर आस्वाद्य हो जाता है।

भरत से लेकर अद्यतन भारतीय सौंदर्यशास्त्रियों ने रस-सिद्धान्त का बड़ी सूक्ष्मता से विधिवत् विवेचन किया है किन्तु एलियट ने वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का वैज्ञानिक और विशद विवेचन करने के स्थान में केवल अत्यन्त संक्षेप में उक्त सिद्धान्त की व्याख्या की है जहाँ तक इसकी वैचारिकता का प्रश्न है। किन्तु अनेक कलाकृतियों के संबन्ध में एलियट ने जहाँ इस सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग किया है, वहाँ हमें इसे विस्तृत रूप से ग्रहण करने और समझने में सहायता मिलेगी किन्तु वैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव में फिर भी संदिग्धताओं के लिए अवकाश रह जाएगा और किसी सुनिश्चित अर्थ तक पहुँचने में हमें कठिनाई होगी। एलियट के मतानुसार शेक्सपियर को हैमलेट नाटक में सफलता नहीं मिली क्योंकि इस नाटक में हैमलेट की माता नायक की भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समीकरण नहीं है। हैमलेट का भाव अपनी माता का अतिक्रमण कर जाता है जो उसके भावों की बाह्य अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त वस्तुनिष्ठ प्रतिरूप नहीं है।

एलिसिओ विवास ने एलियट की समीक्षा करते हुए कहा है कि नाटककार को अग्रिम रूप से इसका पता नहीं रहता कि नायक अमुक रीति से व्यवहार करेगा और अमुक प्रकार के भाव द्वारा संचालित होगा। विवास की दृष्टि में नाटककार को नाटक लिखने की प्रक्रिया में ही निरूप्यमाण चरित्रों के मनोवेगों और स्थायी भावों की प्रतीति होती है। दूसरे समीक्षक विण्टर्स ने वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के सिद्धान्त की सदोषता इस आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि एलियट ने हेतुवादी तत्व की उपेक्षा कर मनोवेग को अतिरंजित महत्व प्रदान कर दिया है। उसी के शब्दों में

"किसी कलात्मक कृति का मूल्य हेतु अथवा प्रयोजन की न्यायसंगतता अथवा उपयुक्तता पर निर्भर करता है।"

विण्टर्स ने अन्यत्र यह भी निर्दिष्ट किया है कि कवि अपने अनुभव को तर्कपूर्ण शब्दों द्वारा समझना चाहता है, वह अपने बोध को व्यक्त करना चाहता है और साथ ही साथ उस भाव द्वारा, जिसे हम शब्दों के साथ संबद्ध करते हैं, वह उस सीमा तक उस प्रकार के मनोवेग की अभिव्यक्ति करता है जो इस बोध द्वारा समुचित रूप से प्रेरित हो।

भारतीय महाकाव्य वाल्मीकि रामायण से हमें पता चलता हैं कि निषाद के बाण से क्रौंच-मिथुन में से एक का वध हो गया था और वियुक्त पक्षी की वेदना ने कवि-मानस को उद्वेलित कर दिया था। उसका भावावेग एक छन्द के रूप में फूट पड़ा और किसी महत्वपूर्ण तथा भव्य सर्जना के लिए कवि बेचैन हो उठा। इस महाकाव्य की परवर्ती कथा से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि किसी महान् काव्य की सृष्टि तभी संभव होती है जब कवि का उद्दाम भावावेग समुचित बोध, विवेक और तर्क द्वारा नियंत्रित हो। किसी विशिष्ट समीक्षक के मतानुसार सृजन का क्षण एक इस प्रकार का दिवास्वप्न है जिसमें कर्ता, वस्तु की भाँति, चैतन्य के प्रति सचेत रहता है। किसी समीक्षक की उक्ति है कि इच्छा करना और न करना, दोनों आवश्यक हैं। शेक्सपियर के हैमलेट के संबन्ध में सर्जन का क्षण कैसा रहा होगा, यह कहना मुश्किल है। जहाँ तक अपना व्यक्तिगत संबन्ध है, मैंने हैमलेट पढ़ते समय सदा रस का आस्वादन किया है। वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के सम्यक् निर्वाह न होने के कारण हैमलेट एक असफल नाट्य कृति है, इसकी प्रतीति कराने के लिए तो किसी एलियट की ही आवश्यकता थी। संभव है, भारतीय काव्य शास्त्रियों का इस संबन्ध में भिन्न मत हो और अपने काव्य सिद्धान्तों की कसौटी पर कस कर वे इसे एक उत्कृष्ट कोटि का नाटक ठहराएँ।

मैंने वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और रस-सिद्धान्त में साम्य–स्थापना का प्रयास किया है किन्तु फिर भी देश, काल, दर्शन और संस्कृति आदि की भिन्नता के कारण यदि दोनों सिद्धान्तों में यत्र-तत्र अनिवार्य भिन्नता प्राप्य हो तो उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया जाना चाहिए।

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त

●

प्रतीकवादियों के मतानुसार काव्य में मनोवेगों का प्रत्यक्ष रूप में वर्णन नहीं किया जाता, मनोवेगों की केवल व्यंजना ही की जा सकती है। आगे चल कर एज़रा पाउण्ड ने भी यही बात दोहराई कि कवि का काम प्रस्तुत करना नहीं, उसका काम भावों को अभिव्यक्त करना है। कवि मानव-भावों के लिए समीकरण उपस्थित करता है जिससे भावाभिव्यंजन संभव हो पाता है।

टी. एस. एलियट की दृष्टि में भी कवि के मनोभाव स्वतः महत्त्वपूर्ण नहीं होते, न हमारे भाव ही महत्त्वपूर्ण होते हैं लेकिन हम हमारे भावों के लिए जो प्रतिमान या ढाँचा खड़ा करते हैं, वही मूल्य का केन्द्र होता है। स्थायी महत्त्व का काव्य वह नहीं होता जिसमें हमारे व्यक्तिगत मनोवेग उँड़ेल दिए जाते हैं क्योंकि काव्य में भावाभिव्यक्ति के लिए एक ही पद्धति है और वह पद्धति है 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' की पद्धति जिसका तात्पर्य है 'ऐसा वस्तु-समुदाय, ऐसी स्थिति तथा घटनाओं की एक ऐसी शृंखला प्रस्तुत की जाय जो उस भाव-विशेष के लिए सूत्र का काम दे सके ताकि जब ये बाह्य तथ्य, जिनकी परिणति संवेदनात्मक अनुभूति में होती हो, उपस्थित किए जाएँ तो तुरन्त भावोद्रेक हो जाय।"

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के निदर्शनार्थ 'कवितावली' का निम्नलिखित छन्द प्रस्तुत है :—

दूलह श्रीरघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावंति गीत सबै मिलि सुन्दरि, बेद जुआ जुरि बिप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।।

अर्थात् "सब सुन्दरी सौभाग्यवती स्त्रियाँ एकत्र होकर मंगलाचार के गीत गाती हुई दूलह श्री रामचन्द्रजी तथा दुलहिन श्री सीताजी को सजा कर सुन्दर मन्दिर में ले गईं। लहकौर (लघुकवर) खिलाने के बाद जुआ आरभ हुआ। उस समय ब्राह्मण वेदध्वनि करने लगे। सीताजी कंकण के नग में श्री रामचन्द्रजी की परछाहीं देखने लगीं। इससे (पाँसा फेंकने की) सुध भूल गईं। हाथ हटाते ही कंकण के नग

में स्थित रामचन्द्रजी के रूप का प्रतिबिम्ब नहीं देख सकूँगी, इस भय से हाथ टेके रह गईं और क्षण भर भी हाथ को नहीं हटाया (टकटकी लगाए उसी प्रतिबिम्ब को देखती रहीं) ।"

उक्त पद्य में वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के निम्नलिखित अवयव द्रष्टव्य हैं :—

वस्तु-समुदाय=राम-सीता (आलम्बन विभाव)
कंकण के नग में राम का प्रतिबिम्ब (उद्दीपन विभाव)

स्थिति=सौभाग्यवती स्त्रियों का मंगलाचार गायन, दूलह-दुलहिन को सजा कर सुन्दर मन्दिर में ले जाना तथा लहकौर खिलाने के बाद द्यूतारम्भ ।

घटनाओं की श्रृंखला=राम के रूप को एकटक देखना तथा कर को टेके रखना(अनुभाव)

किन्तु घटना-श्रृंखला में ये बाह्य चेष्टाएँ ही नहीं आएँगीं, इसी में हर्ष, जड़ता आदि संचारी भावों का भी समावेश हो जाएगा ।

भावोद्रेक=रति स्थायी भाव की श्रृंगार रस में परिणति ।

एलियट द्वारा प्रतिपादित उक्त सभी अवयव नाटक में तो आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं किन्तु सम्भव है, प्रत्येक कविता में कभी एक, कभी दो तथा कभी सम्पूर्ण अवयव उपलब्ध हो सकें । भारतीय रसशास्त्रियों के मतानुसार तो जहाँ एक अवयव उपलब्ध हो, वहाँ शेष ऊह्य माने जाएँगे ।

यदि केवल यह कहा जाता कि सीता राम से प्रेम करती है तो वह रसास्वादन न हो पाता जो कवितावली में से उद्धृत उक्त पद्य द्वारा होता है । इसी प्रकार 'शरीर क्षणभंगुर है,' इस तथ्य को संवेद्य बनाने के लिए कबीर को भाव के अनुरूप निम्नलिखित 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' का आश्रय लेना पड़ा—

नौ द्वारों का पींजरा, तामें पंछी पौन ।
रहिबे को आचरज है, गए अचम्भा कौन ।।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी दूसरे को द्रव्य का दान कर देता है, काव्य-जगत् में भावों का वैसा सीधा दान संभव नहीं । इसीलिए टिलयर्ड को कहना पड़ा, "समस्त काव्य तिर्यक् होता है, प्रत्यक्ष काव्य-जैसी कोई वस्तु नहीं होती ।"

मेटाफिजिकल कवियों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए एलियट ने लिखा था कि वे अपने मन तथा अनुभूति की दशाओं के लिए 'शब्द-समीकरण' ढूँढ़ने के कार्य में अधिक से अधिक व्यस्त थे । जान पड़ता है कि यहाँ एलियट ने 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' के पर्याय के रूप में ही 'शब्द-समीकरण' का प्रयोग किया है ।

अन्यत्र एलियट ने यह भी कहा है कि कवि की कारयित्री प्रतिभा तभी सफल कही जायगी जब भावावेग कविता में जीवनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाय, न कि कलाकार के इतिवृत्त में। अपनी प्रतिभा से कवि शब्दों में ऐसी व्यंजना-शक्ति भर देता है कि उसके बाद व्यंजना से अनुप्राणित होकर वे स्वयं बोलने लगते हैं, फिर कवि के लिए कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह तो शब्दों को जीभ देकर अलग हो जाता है, उसके बाद कवि नहीं, कविता ही सब कुछ हो जाती है। कवि का भावावेग तो चिरस्थायी न होकर अल्पकालिक होता है किन्तु वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का आश्रय लेकर वह जिस भावावेग को काव्यमयी भाषा के द्वारा वाणी देता है, वह कवि की कविता में अमर हो जाता है।

एज़रा पाउण्ड की दृष्टि में बिम्ब वह वस्तु है जो क्षणावधि में बौद्धिक तथा भावात्मक संकुलता को प्रकट कर देती है। काव्य में बिम्ब-विधान आवश्यक है क्योंकि केवल विचारों को वाणी देने अथवा मस्तिष्क के व्यायाम-मात्र से रसोद्रेक सम्भव नहीं। किन्तु कभी-कभी कवि-गण दार्शनिकता का आश्रय लेकर गूढ़ विचारों की अभिव्यक्ति करने लगते हैं जिसमें मनोवेग और विचार दोनों की संकुलता दृष्टिगोचर नहीं होती। शेली की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ लीजिए—

We look before and after
And pine for what is not :
Our sincerest laughter
With some pain is fraught :
Our sweetest songs are those
That tell of saddest thought.

इस प्रकार की पंक्तियाँ चिन्तनशील कवि की पंक्तियाँ हो जाती हैं जो विरोधाभास के कारण मर्मोक्ति का रूप तो धारण कर लेती हैं किन्तु जिनमें बौद्धिकता और भावात्मकता का वह ऐक्य नहीं मिलता जो एज़रा पाउण्ड के मतानुसार बिम्ब की विशेषता है।

इसके विपरीत पंतजी की निम्नलिखित पंक्तियों में भाव और विचार की एकता का अच्छा निर्वाह हुआ है—

और भोले प्रेम क्या तुम हो बने,
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज-से बिचरते हो वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।

पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो
हृदय हैं, मस्तिष्क रखते हो नहीं
बस बिना सोचे हृदय को छीन कर
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में।

यह भी कहा जा सकता है कि प्रेम की अन्धता की व्यंजना के लिए वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का अच्छा निदर्शन उक्त छन्द में प्राप्य है।

ध्वनिवादियों के मतानुसार विभावादि के द्वारा रस-ध्वनि ही सर्वोत्तम काव्य का रूप प्रस्तुत करता है तथा एलियट की दृष्टि में भी वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के माध्यम से रसोद्रेक ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और ध्वनि-सिद्धान्त में बहुत कुछ साम्य है।

किन्तु इस संदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी सामने आते हैं जिन पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। स्वभावोक्ति में वस्तुओं का यथावत् तथा प्रत्यक्ष वर्णन किया जाता है किन्तु फिर भी वहाँ रसोद्रेक तो है ही। इससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष बिम्ब भी कभी कभी संवेदनात्मक बिम्ब का रूप धारण कर लेता है। दूसरी बात यह है कि कविता में किसी बिम्ब को संवेदनात्मक शक्ति इसलिए प्राप्त हो जाती है कि वह वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का उदाहरण प्रस्तुत करता है और मात्र इसलिए नहीं कि प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त होने के स्थान में वह परोक्ष रूप से कुछ व्यंजित करने की क्षमता रखता है।

'सात बज गए' कहने से ध्वनित हो सकता है कि सिनेमा के लिए चलना चाहिए अथवा यात्रा स्थगित कर देनी चाहिए। इसी प्रकार वक्ता–विशेष की दृष्टि से उक्त एक वाक्य से अनेक अर्थ ध्वनित हो सकते हैं किन्तु फिर भी रसहीन होने से यह वाक्य काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। यह सच है कि रस प्रायः ध्वनि के माध्यम से व्यंग्य होता है किन्तु रस यदि काव्य की आत्मा है तो वह किसी भी माध्यम से आए, उक्ति की रसात्मकता ही काव्य की अनिवार्य शर्त है, न कि उसकी ध्वन्यात्मकता। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि वस्तु से जहाँ वस्तु ध्वनित होती है अथवा वस्तु से जहाँ अलंकार ध्वनित होता है, वहाँ काव्य की सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है क्योंकि काव्य में तो रस ध्वनित हुआ करता है। अभिनवगुप्त ने यह कह कर इस शंका का समाधान कर दिया है कि वस्तु-ध्वनि भी अंत में रस-ध्वनि में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार अलंकार-ध्वनि के संबन्ध में भी समझिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि की टेकनीक से रस-निष्पत्ति नहीं होती बल्कि रसोद्रेक होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण। इस दृष्टि से विवेचित होने पर

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का सिद्धान्त समीक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है।

ध्वनिशास्त्रियों ने उस काव्य को मध्यम कोटि का काव्य ठहराया है जिसमें व्यंग्य गौण हो और वाच्यार्थ की प्रधानता हो। इस प्रकार के गुणीभूतव्यंग्य का एक उदाहरण लीजिए—

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ॥
> अहो विचित्रा दैवस्य गतिर्नास्ति समागमः।

अर्थात् सन्ध्या अनुरागवती है, दिन उसके आगे-आगे चलता है तथापि दैव की विचित्र गति तो देखिए कि सन्ध्या और दिन का समागम नहीं हो पाता ! व्यंग्य यह है कि विधि की विडम्बना से अत्यन्त समीप रहने वाले दो प्रेमी (नायिका और नायक) परस्पर मिल नहीं पाते !

उक्त पद्य में वाच्यार्थ प्रधान है और व्यंग्यार्थ गौण है। अतः यहाँ व्यंग्य के गुणीभूत होने के कारण उत्तम कोटि के काव्य का अभाव है जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता की दृष्टि से यदि उक्त पद्य का विवेचन किया जाय तो कहा जा सकता है कि कवि जिस भाव की व्यंजना करना चाहता है, उसके लिए जो वस्तुनिष्ठ प्रतिमान सामने लाए गए हैं, वे न केवल बहुत उपयुक्त हैं किन्तु स्पष्ट, निश्चित तथा साहित्यिक परम्परा द्वारा अनुमोदित भी हैं।[1] अतः व्यंग्य के गुणीभूत हो जाने के कारण ही इस पद्य की रसात्मकता कम हो जाती है, ऐसा क्यों मान लिया जाय ? मेरी दृष्टि में वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता को लक्ष्य में रख कर ध्वनि-सिद्धान्त पर पुनर्विचार अपेक्षित है।

अंत में यह कहना आवश्यक है कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त में बहुत कुछ साम्य है किन्तु आग्रह की कट्टरता के साथ मैं यह नहीं कहना चाहता कि दोनों सिद्धान्त एक ही हैं। दो सिद्धान्तों की पारस्परिक तुलना यद्यपि खतरे से खाली नहीं है तथापि इस प्रकार की तुलना की भी अपनी उपयोगिता है, संभवतः इसमें दो मत न होंगे।

●

---

1. Objective co-relative is a specified, figuratively fortified, and permanent object that literary tradition has evolved for the corresponding emotion.—Krishna Rayan.

लेखक की अन्य कृतियाँ

१. आलोचना के पथ पर
२. समीक्षायण
३. समीक्षांजलि
४. वाद-समीक्षा
५. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव
६. विवेचन
७. दृष्टिकोण
८. कामायनी-दर्शन (डा० विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में)
९. राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान
१०. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद
११. राजस्थानी वीर गाथाएँ
१२. राजस्थानी लोक-कथाएँ
१३. राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत और राजस्थान विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत)
१४. नटो तो कहो मत
१५. राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय
१६. प्रयोग (काव्य)
१७. क्षणों के धागे (काव्य)
१८. आधुनिक उद्योग और व्यवसाय की दुनिया
१९. निहालदे सुलतान (तीन खण्डों में)
२०. द्रोपदी विनय अथवा करुण वहत्तरी
२१. सूर्यमल्ल मिश्रण कृत वीर सतसई (श्री पतराम गौड़ एवं श्री ईश्वरदान आशिया की सहकारिता में सम्पादित)
२२. चौबोली (श्री पतराम गौड़ की सहकारिता में संपादित)
२३. हिन्दी गद्य संचय
२४. हिन्दी गद्य पद्य संग्रह } संपा त
२५. केशव-सुधा
२६. लोक-कथाओं की कुछ प्ररुढ़ियाँ
२७. लोक-कथाओं के कुछ रुढ़ तन्तु
२८. विमर्श और व्युत्पत्ति

चिन्मय प्रकाशन

चौड़ा रास्ता, जयपुर–३